# अष्टावक्र गीता

नंदलाल दशोरा

राजा जनक और अष्टावक्र सम्वाद

# अष्टावक्र गीता

अष्टावक्र कहते हैं कि मोक्ष कोई वस्तु नहीं है जिसे प्राप्त किया जाये, न कोई स्थान है जहां पहुंचा जाये, न कोई भोग है जिसे भोगा जा सके, न रस है, न इसकी कोई साधना है, न सिद्धि है, न ये स्वर्ग में है, न सिद्ध शिला पर। विषयों में विरसता ही मोक्ष है। विषयों में रस आता है तो संसार है।

जब मन विषयों से विरस हो जाता है तब मुक्ति है। संसार में रहना, खाना-पीना व कर्म करना बन्ध नहीं है; इसमें अनासक्त हो जाना ही मुक्ति है। इतना ही मोक्ष विज्ञान का सार है।

सन्यासी बनने से, धूनी रमाने से, संसार को गालियाँ देने से, शरीर को सताने से, उपवास करने से, भोजन के साथ नीम की चटनी खाने से विषयों के प्रति विरसता नहीं आ सकती। इन सबका मोक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है।

**(अष्टावक्र गीता १५/२)**

**सृष्टि उस विराट चेतना शक्ति की अभिव्यक्ति मात्र है। धर्म उस चेतना को उपलब्ध होने का विज्ञान है। संन्यास और वैराग्य इसका आरम्भ है तथा मुक्ति अन्त। यही जीव की अंतिम स्थिति है।**

**—लेखक**

---

यह तत्व-बोध वाचाल, बुद्धिमान और महाउद्योगी पुरुष को गूँगा, जड़ और आलसी कर जाता है। इसलिये भोग की अभिलाषा रखने वालों के द्वारा तत्व-बोध त्यक्त है।

*(अष्टावक्र गीता १५/३)*

---

ज्ञानी मृत्यु के समय भी हँसता है, मूढ़ जिन्दा रहते भी रोता है। ज्ञानी के पास कुछ नहीं होते हुए भी आनन्दित रहता है, अज्ञानी के पास सब कुछ होते हुए भी दुःखी रहता है। ज्ञानी कर्म को भी खेल समझता है, अज्ञानी खेल को भी कर्म समझता है। ज्ञानी संसार को भी नाटकवत् समझता है किन्तु अज्ञानी नाटक और स्वप्न को भी वास्तविकता समझता है। ज्ञानी व अज्ञानी के कर्मों में समानता होते हुए भी दृष्टि में बड़ा अन्तर है।

*(अष्टावक्र गीता ४/१)*

# अष्टावक्र गीता

(राजाजनक और ज्ञान शिरोमणि श्री अष्टावक्र का ज्ञान सम्वाद)

## मूल संस्कृत श्लोक, हिन्दी अनुवाद और व्याख्या सहित

व्याख्याकार—

**श्री नन्दलाल दशोरा**

मूल्य : 80.00

सजिल्द : 120.00

**रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार**

प्रकाशक :


**रणधीर प्रकाशन**
रेलवे रोड, आरती होटल के पीछे,
हरिद्वार (उ.प्र.) 249401
दूरभाष : (0133) 426297

वितरक :
**रणधीर बुक सेल्स**
रेलवे रोड, हरिद्वार, (उ.प्र.)
दूरभाष : 428510

व्याख्याकार :
**श्री नन्द लाल दशोरा**

मुद्रक :
**राजा ऑफसेट प्रिंटर्स,**
1/51, ललिता पार्क, लक्ष्मी नगर,
विकास मार्ग, दिल्ली-92

| | | |
|---|---|---|
| प्रथम संस्करण | : | १९८६ |
| द्वितीय संस्करण | : | १९९१ |
| तृतीय संस्करण | : | १९९३ |
| चतुर्थ संस्करण | : | १९९५ |
| पंचम संस्करण | : | १९९६ |
| षष्ठम संस्करण | : | १९९८ |


**ISBN : 81-86955-51-8**

---

ASHTAWAKRA GITA
Translated By Nand Lal Dashora

Published By :-
**RANDHIR PRAKASHAN,**
Railway Road, HARDWAR (INDIA)

# अष्टावक्र गीता

## विषय सूची

*पृष्ठ संख्या*

— ० —

# भूमिका

अष्टावक्र-गीता भारतीय अध्यात्म का शिरोमणि ग्रन्थ है जिसकी तुलना अन्य किसी ग्रन्थ से नहीं की जा सकती। आत्म-ज्ञान-प्राप्ति की अनेक विधियाँ हैं- ज्ञान है, कर्म है, भक्ति है, योग है, प्रार्थना है, ध्यान है, जिनसे मनुष्य को आत्म-स्वरूप का बोध होता है। विभिन्न धर्मों में विभिन्न विधियाँ अपनाई जाती हैं किन्तु अष्टावक्र सीधा अज्ञान पर चोट करते हैं। वे किसी विधि, क्रिया, पूजा, प्रार्थना, ध्यान, कर्म, भक्ति, भजन-कीर्तन, हठयोग आदि कुछ भी आवश्यक नहीं मानते। उनका मानना है कि सभी क्रियाएँ भटकाने वाली हैं। क्रिया मात्र अहंकार के कारण अपनाई जाती है तथा वे अहंकार को बढ़ाती हैं जिससे आत्म-ज्ञान में बाधा पड़ती है। ये सभी क्रियाएँ आडम्बर व दिखावा मात्र हैं। जिससे मनुष्य धार्मिक दिखाई देता है किन्तु उपलब्धि नहीं हो सकती। उपलब्धि के लिए बोध-मात्र पर्याप्त है। अन्धकार का अस्तित्व नहीं है। वह प्रकाश का अभाव मात्र है। अन्धकार को हटाने का सीधा प्रयत्न करना मूर्खता है। एक दीपक जला दो, अन्धकार अपने आप लुप्त हो जायेगा। कुछ करना नहीं पड़ेगा। किन्तु लोग दीपक जलाना छोड़कर अन्धकार को सीधा हटाने की प्रक्रिया में सब साधनाएँ कर रहे हैं जो व्यर्थ ही नहीं मूर्खता-पूर्ण भी हैं। केवल ज्ञान का प्रकाश लाना ही पर्याप्त है जिससे सारा अज्ञानरूपी अन्धकार लुप्त हो जायेगा तथा मनुष्य स्व-चेतन में विश्राम कर शांति को प्राप्त होगा। ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग केवल बोध है। आत्मा कहीं खोई नहीं है अज्ञान के कारण उसे विस्मृत कर दिया है, उसे पुनः स्मृति में लाना है। यदि एक बार वह स्मृति में आ गई तो संसार का यह समस्त मायाजालरूपी अन्धकार एक क्षण में विलुप्त हो जायेगा एवं मनुष्य को अपनी वास्तविक स्थिति का पता चल जायेगा। रस्सी में साँप का जो भ्रम तुम्हें हो रहा है, जिससे तुम भयभीत हो, डरे हुए हो, काम, क्रोध आदि से जल रहे हो, मृत्यु से भयभीत हो, दुनियाँ का शोषण कर अपना पेट भरना चाहते हो, चोरी, बलात्कार, हत्याएँ करते हो, यह सब तुम्हारे अज्ञान

के कारण हो रहा है। यदि यह अज्ञान, भ्रान्ति मिटा कर तुम अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लो तो तुम्हें स्वयं पर हँसी आयेगी कि मैं किस प्रकार अज्ञानवश यह सब करता रहा। अष्टावक्र ने ऐसा केवल उपदेश ही नहीं दिया बल्कि राजा जनक पर प्रयोग करके वैज्ञानिक दृष्टि से सत्य सिद्ध करके दिखा दिया कि यह कोई सैद्धान्तिक वक्तव्य नहीं है बल्कि प्रयोग-सिद्ध वैज्ञानिक सत्य है। यह न राजनेताओं के आश्वासन जैसा है, न ज्योतिषियों की भविष्य-वाणी जैसा, न पुराणों की कथाओं जैसा है, न वेदों की प्रार्थनाओं जैसा। यह सबसे अनूठा वक्तव्य है जो सीधे ही बोध को जाग्रत करता है। इस दृष्टि से इसे भारत का ही नहीं विश्व-अध्यात्म का शिरोमणि ग्रन्थ माना जाता रहा है।

अध्यात्म-जगत् में तीन ही निष्ठाएँ महत्वपूर्ण हैं- ज्ञान, कर्म और भक्ति तथा मनुष्य में दो प्रकार के व्यक्तित्व हैं- अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी। बहिर्मुखी के लिए कर्म व भक्ति-मार्ग अनुकूल पड़ता है तथा अन्तर्मुखी के लिए ध्यान। बहिर्मुखी को ज्ञान या बोध का मार्ग समझ में नहीं आ सकता। विद्वान, प्रज्ञावान्, प्रखर बुद्धि एवं चेतना वाला ही इसे ग्रहण कर सकता है। इसी कारण अष्टावक्र का उपदेश जनसामान्य में अधिक प्रचलित नहीं हो पाया। अष्टावक्र की पूरी विधि साँख्य की है जिसमें करना कुछ भी नहीं है। अक्रिया ही विधि है, बोध या स्मरण मात्र पर्याप्त है। यदि यह जान लिया कि मैं शरीर, मन आदि नहीं हूँ, बल्कि शुद्ध चैतन्य आत्मा हूँ तो सारी भ्रान्तियाँ मिट जाती हैं व यही मोक्ष है। मोक्ष कोई स्थान नहीं है बल्कि चित्त की एक अवस्था है जिसमें स्थित हुआ जीव परमानन्द का अनुभव करता है। कृष्ण की गीता में ज्ञान, भक्ति, कर्म सबका समन्वय है किन्तु सर्वाधिक जोर कर्म पर है। अर्जुन कर्म-योगी है, क्षत्रिय है, युद्ध के मैदान में खड़ा है, आततायियों का विनाश करना उसका कर्तव्य है। युद्ध से भागना कायरता है। अपने कर्म को सच्चाई, ईमानदारी, पूर्ण-निष्ठा व लगन के साथ करने वाला भी स्वर्ग का अधिकारी होता है। फिर यदि निष्काम भाव से, लोक-हितार्थ, ईश्वर की आज्ञा समझ कर जो समर्पण भाव से कर्म करता है उसके वे कर्म बन्धन का कारण नहीं बनते। अहंकारवश

अपने स्वार्थ के लिए जो कर्म किये जाते हैं वे ही बन्धन का कारण बनते हैं। कृष्ण का गीता का उपदेश मुख्यतः सांसारिक व्यक्तियों के लिए है अतः उसका महत्व सबके लिए है किन्तु अष्टावक्र का उपदेश केवल मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखने वाले मुमुक्षु व्यक्तियों के लिए ही है इसलिए सामान्यजन इससे अप्रभावित रहा है। यह साधु-सन्यासियों, ध्यानियों व अन्य साधनारत व्यक्तियों का सच्चा मार्ग-दर्शक है। अष्टावक्र कृष्ण के जैसी अनेक विधियाँ नहीं बताते। वे एक ही बोध की विधि बताते हैं जो अनूठी, भावातीत, समय, देश और काल की सीमा के परे पूर्ण वैज्ञानिक है। बिना लाग-लपेट के, बिना किसी कथा व उदाहरण के, बिना प्रमाणों व तर्कों के दिया गया यह शुद्धतम गणित जैसा वक्तव्य है जैसा आज तक अध्यात्म-जगत् में नहीं दिया गया। यह अध्यात्म की एक ऐसी धरोहर है जिसके बारे में कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाना है। यह समझने के लिये नहीं है, पीने व पचाने के लिए है। जो समझने का प्रयत्न करेगा वह निश्चित ही चूक जायगा। सागर को चम्मच से नापने के समान होगा।

भारत ने अध्यात्म के सर्वोच्च शिखर को छुआ है जिसे कुछ ही धर्म छू पाये हैं। यह शिखर है अद्वैत का। अद्वैत इस सम्पूर्ण सृष्टि को ईश्वर की कृति नहीं, अभिव्यक्ति मानता है, यह सारा फैलाव उसी का है। सृष्टि में ईश्वर नहीं बल्कि यह सृष्टि ही ईश्वर है, आत्मा, परमात्मा या ब्रह्म भिन्न नहीं है, जीव और जगत् में भिन्नता नहीं है, प्रकृति व पुरुष एक ही तत्व है, जड़ व चेतन उसी एक की विभिन्न अवस्थाएँ मात्र है, दो भिन्न तत्व नहीं हैं। इसी तत्व-बोध के आधार पर उसने 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मं', 'अयमात्मा ब्रह्मं' 'ईशावास्यमिदं सर्वं' एवं 'विश्व बन्धुत्व' की उद्घोषणा की। ये मानव-बुद्धि की न परिकल्पना है न कोई सिद्धान्त अपितु प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर सुनिश्चित किया गया सार है, निष्कर्ष है, निष्पत्ति है, परम सत्य है।

भारतीय अध्यात्म स्वर्ग-नरक को मन ही की भूमिका मानता है। मृत्यु के बाद एवं पुनर्जन्म लेने से पूर्व जीवात्मा अपने कर्मों के

अनुसार स्वर्ग-नरक की अनुभूति करती है। यह समय अन्तराल का समय (ड्रीम पीरियड) है जहाँ जीवात्मा अपने भौतिक शरीर को त्याग कर मन एवं वासनाओं सहित अपने सूक्ष्म शरीर में विद्यमान रहती है तथा अपनी वासनापूर्ति हेतु समय आने पर पुनः नया भौतिक शरीर धारणं करती है। अन्तराल के समय में न उसका विकास होता है न भौतिक शरीर के अभाव में अपनी वासनापूर्ति ही कर सकती है, जिससे वह जीवात्मा बड़ी वेदना का अनुभव करती है। वह पुनः भौतिक शरीर धारण करने की आकांक्षा रखती है किन्तु अपने कर्मों के अनुसार यह शरीर उसे एक निश्चित अवधि के बाद ही मिलता है तब तक उसे इस अन्तराल में भटकते रहना पड़ता है। विषयों के प्रति वासना का होना ही इस जन्म-मरण के चक्कर में डालता है। भारतीय अध्यात्म स्वर्ग को भी वासना ही मानता है अतः यह भी जीवात्मा की सर्वोपरि स्थिति नहीं है। यह स्वर्ग भी बन्धन है। इससे ऊपर की स्थिति मुक्ति की है जिसमें वह सम्पूर्ण भोगों एवं विषय-वासनाओं से मुक्त होकर अपनी स्वतन्त्र स्थिति का अनुभव करता है। इसमें वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। विषयों के प्रति जो वासनाएँ हैं, आसक्ति है उसे छोड़ने का एक ही उपाय है वैराग्य, जो पहली शर्त है। इस शर्त को पूरी करने से होता है ज्ञान, व ज्ञान से ही मुक्ति होती है। यही अष्टावक्र का उपदेश है एवम् यही इस गीता का सार तत्व है।

शरीर स्थूल है, सृष्टि स्थूल है जो दिखाई देती है किन्तु इसके भीतर जो सूक्ष्म तत्व है वह दिखाई नहीं देता। शरीर में आसक्ति होने से वह विषय भोगों की ओर प्रवृत्त होता है। आत्मा सूक्ष्म है, जिसका प्रत्यक्ष अनुभव न होने से मनुष्य उसे जानने से वंचित रह जाता है। वासना में फँसा हुआ मन उसे इतना भटका देता है कि वह आत्मा को ही भूल जाता है। इस संसार-प्रपंच में जो कुछ हो रहा है वह इसी आत्म-अज्ञान का फल है। किन्तु कुछ बुद्ध-पुरुष उसकी याद दिला कर व्यक्ति को इन बन्धनों से छुटकारा दिलाकर मुक्ति की ओर ले जाते हैं। समय-समय पर ऐसे अनेकों बुद्ध-पुरुष अवतरित हुए हैं जिनके मार्ग-दर्शन से अनेकों भटकती हुई जीवात्माओं का उद्धार हुआ है। अष्टावक्र भी ऐसे ही बुद्ध-पुरुष थे जिनका नाम आध्यात्मिक-जगत में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता

अष्टावक्र के जीवन के बारे में तीन कथाएँ प्रचलित हैं जिनसे पता चलता है कि वे ज्ञानियों में शिरोमणि थे। अल्पायु में ही इन्हें आत्म-ज्ञान हो गया था। इनके जीवन के बारे में एक कथा है कि ये शरीर के आठ अंगों से टेढ़े-मेढ़े व कुरूप थे। अंगों के टेढ़े-मेढ़े होने का कारण था कि जब ये गर्भ में थे उस समय इनके पिता एक दिन वेद पाठ कर रहे थे तो इन्होंने गर्भ में से ही अपने पिता को टोक दिया कि "रुको, यह सब बकवास है, शास्त्रों में ज्ञान कहाँ? ज्ञान तो स्वयं के भीतर है। सत्य शास्त्रों में नहीं स्वयं में है। शास्त्र शब्दों का संग्रह मात्र है।" यह सुनते ही उनके पिता का अहंकार जाग उठा। वे आत्म-ज्ञानी तो थे नहीं, पंडित ही रहे होंगे। पंडितों में ही अहंकार सर्वाधिक होता है क्योंकि शास्त्रों के ज्ञाता होने से उनमें इस जानकारी का अहंकार होता है। इसी अहंकार के कारण वे आत्म-ज्ञान से वंचित रहते हैं। आत्म-ज्ञान के लिए नम्रता पहली शर्त है, अहंकारी शिखर बन जाता है जिससे ज्ञान-वृष्टि होने पर भी वह सूखा रह जाता है जबकि छोटे-मोटे गड्डे भर जाते हैं। अष्टावक्र के पिता के अहंकार पर चोट पड़ते ही वे तिलमिला गये होंगे कि उन्हीं का वह पुत्र उन्हें उपदेश दे रहा है जो अभी पैदा भी नहीं हुआ है। उसी समय उन्होंने शाप दे दिया कि जब तू पैदा होगा तो आठ अंगों से टेढ़ा-मेढ़ा होगा। ऐसा ही हुआ भी। इसलिए उनका नाम पड़ा 'अष्टावक्र'। यह गर्भ में पूरा वक्तव्य देने की बात बुद्धि की पकड़ में नहीं आयेगी, तर्क से समझ में नहीं आयेगी किन्तु इसे आध्यात्मिक-दृष्टि से समझा जा सकता है। बीज में ही पूरा वृक्ष विद्यमान है- तना, शाखाएँ, पत्ते, फूल, फल सभी किन्तु दिखाई नहीं देते। अप्रकट हैं, असंभूत हैं, अभी विकसित हुआ नहीं, अदृश्य हैं किन्तु पूरा वृक्ष विद्यमान है। बीज को तोड़ कर देखने से भी कहीं वृक्ष का पता नहीं चलता, वैज्ञानिक भी उसे नहीं दिखा सकते। जिसने बीज न देखा हो और वृक्ष ही देखा हो वह कभी नहीं कह सकता कि इस विशाल वृक्ष का कारण यह छोटा सा बीज हो सकता है। हजार तर्क व प्रमाणों से भी उसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। फिर यदि वृक्ष की उम्र हजारों वर्ष की हो व मनुष्य की पचास वर्ष, तो अनेक पीढ़ियों तक वही वृक्ष दिखाई देने पर वे उसे अनादि

घोषित कर देंगे कि यह वृक्ष अनादि हैं। यह किसी से पैदा नहीं हुआ। संसार में ऐसी अनेकों भ्रान्तियां हैं। इसी प्रकार मनुष्य के पूरे व्यक्तित्व को गर्भस्थ शिशु अपने में छिपाये रहता है- अप्रकट अवस्था में। पैदा होने के बाद उम्र के साथ-साथ ज्यों-ज्यों शरीर, इन्द्रियाँ व मस्तिष्क आदि का विकास होता जाता है उस व्यक्तित्व का एक-एक भाग विकसित होता जाता है। कुछ व्यक्तित्व अविकसित अथवा अर्द्ध-विकसित ही रह जाते हैं तथा कुछ का पूर्ण विकास हो जाता है। किन्तु जो अन्तर्निहित है उसी का विकास होता है। जो भीतर बीज-रूप में नहीं है उसका विकास नहीं हो सकता, न नया जोड़ा जा सकता है। उक्त कथा इसी तथ्य को प्रकट करती है कि अष्टावक्र का ज्ञान पुस्तकों, पंडितों व समाज से अर्जित नहीं था बल्कि पूरा का पूरा स्वयं लेकर ही पैदा हुए थे।

अष्टावक्र के सम्बन्ध में जो दूसरी कथा ज्ञात है वह यह है कि जब वे बारह वर्ष के थे तब राजा जनक ने देश के सभी बड़े-बड़े विद्वानों को बुलाकर एक सभा का आयोजन किया जिसमें तत्व-ज्ञान पर शास्त्रार्थ रखा गया था। इसमें यह भी घोषणा की गई थी कि जो इसमें जीतेगा उसे सींगों पर सोना मढ़ी हुई सौ गायें दी जायेंगी। शास्त्रार्थ में भाग लेने देश के बड़े-बड़े विद्वान एकत्र हुए जिसमें अष्टावक्र के पिता भी सम्मिलित हुए। शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ व लम्बे समय तक चलता रहा। तत्व-ज्ञान पर चर्चा चल रही थी। सायंकाल को अष्टावक्र को खबर मिली कि उनके पिता और सभी से तो जीत गये हैं किन्तु एक पंडित से हार रहे हैं। यह सुनकर अष्टावक्र भी वहां सभा में पहुँच गये। सभा पंडितों की ही थी। उनमें आत्म-ज्ञानी तो कोई था नहीं। अष्टावक्र जब अपने टेढ़े-मेढ़े शरीर से चलते हुए उस सभा में पहुँचे तो उनकी आकृति व चाल-ढाल देख कर सभी सभासद् हँस पड़े। थोड़ी देर रुकने के बाद अष्टावक्र भी उन सभासदों को देख कर जोर से हँसे। उनकी हँसी देख कर राजा जनक ने उनसे पूछा कि ये विद्वान क्यों हँसे, यह तो मैं समझ गया किन्तु तुम क्यों हँसे, यह मेरी समझ में नहीं आया। इस पर अष्टावक्र ने कहा कि मैं इसलिए हँसा कि "इन चर्मकारों

की सभा में आज सत्य का निर्णय हो रहा है। ये चर्मकार यहाँ क्या कर रहे हैं।'' बारह वर्ष का बालक कितना अनूठा रहा होगा, कितना आत्म-विश्वासी एवं प्रतिभाशाली रहा होगा जिसने देश के प्रसिद्ध विद्वानों को चर्मकार की संज्ञा दे डाली। चर्मकार शब्द सुनते ही सारी सभा में सन्नाटा छा गया। सभी स्तब्ध रह गये। जनक ने जिन्हें विद्वान समझ कर बुलाया था उन्हें कोई आ कर चर्मकार कह दे तो यह जनक का भी अपमान है। इससे पहले कि ये सभासद् अपना रोष प्रकट करते राजा जनक ने स्थिति सँभालते हुए संयमित होकर अष्टावक्र से पूछा कि- ''तेरा मतलब क्या है यह मैं नहीं समझ पाया।'' अष्टावक्र ने कहा- ''बहुत सीधी सी बात है कि चर्मकार चमड़ी का ही पारखी होता है वह ज्ञान को क्या समझे। ज्ञानी ज्ञान को देखता है चमड़ी को नहीं। इनको मेरी चमड़ी ही दिखाई दी, मेरा आड़ा-टेढ़ा शरीर ही दिखाईं दिया जिसे देखकर ये हँस पड़े, ये चमड़ी के अच्छे पारखी हैं। अतः ये ज्ञानी नहीं हो सकते, चर्मकार ही हो सकते हैं। हे राजन्! जैसे मंदिर के टेढ़ा होने से आकाश टेढ़ा नहीं होता है, और मंदिर के गोल अथवा लम्बा होने से आकाश गोल अथवा लम्बा नहीं होता, क्योंकि आकाश का मंदिर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आकाश निरवयव है तथा मंदिर सावयव है वैसा ही आत्मा का भी शरीर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि आत्मा निरवयव है और शरीर सावयव है। आत्मा नित्य है और शरीर अनित्य। शरीर के वक्र आदिक धर्म आत्मा के कदापि नहीं हो सकते। हे राजन्! ज्ञानवान् को आत्म-दृष्टि रहती है, वह आत्मा को ही देखता है और अज्ञानी की चर्म-दृष्टि रहती है। चर्म-दृष्टि से अज्ञानी देखते हैं, ज्ञानवान् नहीं देखते।'' अष्टावक्र के इन वचनों को सुनकर राजा जनक बड़े प्रभावित हुए। वे उनके चरणों में गिर पड़े, साष्टाङ्ग दण्डवत् किया व उन्हें ज्ञान का उपदेश देने हेतु अपने महलों में आमंत्रित किया। दूसरे दिन जब अष्टावक्र वहाँ पहुँचे तो उन्हें सिंहासन पर बैठाया, स्वयं उनके चरणों में बैठे व शिष्य-भाव से अपनी जिज्ञासाओं का इस बारह वर्ष के बालक अष्टावक्र से समाधान कराया। यही शंका समाधान 'जनक-अष्टावक्र-संवाद' रूप में 'अष्टावक्र गीता' है।

अष्टावक्र के सम्बन्ध में एक और कथा मिलती है कि राजा जनक ने आत्म-ज्ञान सम्बन्धी अनेकों शास्त्रों का अध्ययन किया था। एक शास्त्र में लिखा था कि आत्म-ज्ञान बहुत ही सरल है। इसके लिए कुछ करना नहीं पड़ता। घोड़े पर चढ़ने के लिए उसके पागड़े में एक पाँव रखें व दूसरे पागड़े में रखने में जितना समय लगता है उससे भी कम सम्मय में आत्म-ज्ञान संभव है। राजा जनक मुमुक्षु थे। वे इसकी सत्यता की परख करना चाहते थे। वैज्ञानिक मस्तिष्क रहा होगा जो सत्यता को अन्ध-विश्वासी होकर न मान कर प्रयोग द्वारा सिद्ध करके देखना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने देश के बड़े-बड़े विद्वानों को पढ़ते हुए कहा कि इस कथन को सत्य प्रमाणित कीजिये अन्यथा इस पंक्ति को शास्त्र से हठा दीजिए। वे सभी विद्वान तो पंडित ही थे जिन्हें शास्त्रों का पुस्तकीय ज्ञान मात्र था। वे शास्त्रार्थ करने में तो प्रवीण थे किन्तु स्वयं आत्म-ज्ञानी नहीं होने से ज्ञान-प्राप्ति के इस रहस्य को सत्य प्रमाणित करने में असमर्थ थे जिससे सबने मना कर दिया कि हम तो पंडित मात्र हैं। आत्म-ज्ञान का हमें कुछ पता नहीं है कि यह कैसे होता है? कहते हैं राजा जनक ने उन सबको जेल में डाल देने का आदेश दे दिया। सभी विद्वान जेल में बन्दी बना लिये गये। जब अष्टावक्र ने यह समाचार सुना तो वे स्वयं राजा जनक के पास गये एवं उनकी इस चुनौती को स्वीकार करते हुए कहा कि "जनक ऐसा संभव है व शास्त्र जो कहते हैं वह पूर्ण सत्य है। मैं इसे प्रमाणित करता हूँ। तुम इन सभी विद्वानों को पहले जेल से मुक्त करो व घोड़ा तैयार करवा के मेरे साथ चलो।" राजा जनक ने सभी विद्वानों को मुक्त करवा दिया व अपना घोड़ा तैयार करवाया। अष्टावक्र राजा जनक को लेकर शहर से दूर एकान्त स्थान में गये जहाँ घोड़ा रोक कर जनक से अपना एक पाँव घोड़े के एक पागड़े में रखने को कहा। राजा जनक ने जब अपना एक पाँव पागड़े में रख दिया तब अष्टावक्र ने उनसे पूछा कि "अब बता तूने शास्त्रों में क्या पढ़ा? राजा जनक ने वही बात फिर दोहराई तो अष्टावक्र ने पूछा कि यह तो सत्य है किन्तु इसके आगे तूने क्या पढ़ा? जनक ने कहा कि इसके लिए पात्रता होनी चाहिए। इस पर अष्टावक्र बोल उठे कि- "क्या यह शर्त तूने

पूरी कर ली है? जब इसकी शर्त ही पूरी नहीं की तो आत्म-ज्ञान कैसे संभव है?'' राजा जनक एक बार चौंक गये किन्तु वे मुमुक्षु थे। आत्म-ज्ञान की उत्कट इच्छा थी। वे हर कीमत पर इसे प्राप्त करना चाहते थे। वे केवल मानना ही नहीं जानना भी चाहते थे। वैज्ञानिक कि भाँति ईश्वर-ज्ञान को प्रत्यक्ष देखना चाहते थे। जब ऐसा सद्गुरु उन्हें मिल गया तो वे इस अवसर को खोना भी नहीं चाहते थे। राजा जनक में तीव्र बुद्धि व प्रतिभा थी, उच्च बोध या रहस्य को समझने की क्षमता थी और इससे भी उच्च कोटि की थी उनकी मुमुक्षा। शास्त्रों के ज्ञाता होने के कारण वे जानते थे कि पात्रता के लिए आवश्यक है- अहंकार से मुक्ति, पूर्ण समर्पण, शरीर व मन के भावों से मुक्ति, शास्त्र व ज्ञान से मुक्ति, सभी प्रकार के बाह्य उपादानों से अपने को मुक्त कर देना ही उसकी पात्रता है। इन सबका कारण अहंकार है जिसके छूटते ही व्यक्ति का आत्मा से उसी क्षण सम्पर्क हो जाता है, थोड़ी भी देरी नहीं होती। सारी देरी लगती है तो इन सबके प्रति अपनी धारणा, अपनी दृष्टि बदलने में। यदि दृष्टि बदल गई तो सब कुछ बदल जाता है। यह दृष्टि-परिवर्तन बोध से ही संभव है किन्तु बोध न होने पर साधना आवश्यक होती है जिससे बोध हो जाय। राजा जनक ने अष्टावक्र के सामने उसी समय समर्पण कर दिया व कहा कि 'यह शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार सब कुछ मैं आपके समर्पित करता हूँ। आप इसका जैसा चाहें उपयोग करें।' समर्पण भाव आते ही अहंकार खो गया, जनक पिघल गये, वाष्प बन बन गये, शून्य हो गये, स्थूल से सम्बन्ध छूट गया, सूक्ष्म में प्रवेश कर गये। अष्टावक्र ने पात्रता देखकर अपना सम्पूर्ण ज्ञान पात्र में उड़ेल दिया। पात्र खाली था वह भर गया। पहले भरा था इसलिए उसमें भरने की गुंजायश नहीं थी। कहा है ''भरो होई सो रीतई, रीतो होय भराय।'' जो संसार से भरा है, अहंकार, वासना से भरा है वह आत्म-ज्ञान से रीता ही रह जाता है किन्तु जो संसार से रीता हो गया, शून्य हो गया वही भर जाता है। गड्ढे भर जाते हैं व शिखर सूखे रह जाते हैं। यही आध्यात्मिक उपलब्धि का रहस्य है। इस रिक्तता की स्थिति में अष्टावक्र ने जनक के अन्तःकरण को छू लिया व जनक को घोड़े के दूसरे पागड़े में पाँव

रखने के पूर्व ही आत्म-बोध हो गया, घटना एक क्षण में घट गई, वे उसी समय ध्यानस्थ होकर समाधि में पहुँच गये। घोड़े के दूसरे पागड़े पर पैर रखने की भी सुध न रही। अष्टावक्र पास ही बैठ गये। इस प्रकार तीन दिन व्यतीत हो गये। राज्य में हो-हल्ला मच गया। राज्य में अव्यवस्था होती देख कुछ मंत्रीगण राजा को ढूँढने निकले तो देखा जंगल में राजा घोड़े के एक पागड़े पर पाँव दिये खड़े हैं व अष्टावक्र समीप ही बैठे हैं। दोनों मौन व शांत हैं। एक मन्त्री ने राजा से कहा- महाराज! तीन दिन हो गये। राज्य-कार्य में अव्यवस्था हो रही है। अब आप पुनः राजधानी चलिये। इस पर जनक ने कहा- अब कौन चले, न यह शरीर मेरा है, न मन। वह तो गुरु को समर्पित कर चुका हूँ। अब जैसा गुरु का आदेश होगा वैसा ही करूँगा। अष्टावक्र समझ गये कि इसे समाधि लाभ हो चुका है, आत्म-बोध हो चुका है, केवल एक ही झटके में सारे बन्धन टूट कर यह मुक्त हो चुका है, अतः उन्हें फिर से राजधानी जाकर राज्य-कार्य चलाने का आदेश दिया।

उक्त घटना जितनी महत्वपूर्ण है उतनी ही रहस्यमय भी कि किसी को सुनते-सुनते ही आत्म-ज्ञान हो गया हो। आत्म-ज्ञान कोई प्रक्रिया नहीं है बल्कि घटना है जो पात्रता होने पर किसी भी समय कहीं भी घट सकती है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए विभिन्न निष्ठाएँ हैं। योग क्रिया पर जोर देता है, तन्त्र समर्पण पर किन्तु सांख्य केवल बोध की बात कहता है। सांख्य की मान्यता है कि आत्मा कहीं खोई नहीं है, वह तो उपलब्ध ही है, उसे पाना नहीं है, वह प्राप्त ही है, केवल विस्मृत हो गई है उसे पुनः स्मृति में लाना है। इसके लिए केवल बोध ही पर्याप्त है। और कुछ करना नहीं है। करने से अहंकार बढ़ता है व वही बाधा बन जाता है। अष्टावक्र कहते हैं कि क्रिया-मात्र बन्धन हैं, अक्रिया ही मार्ग है। कुछ न करके अपने को खाली मात्र कर देना ही भरने की विधि है। बुद्ध ने छः वर्ष खूब किया तो कुछ मिला नहीं। अन्त में सब कुछ छोड़ कर निरंजना नदी के किनारे लेट गये व शून्य की स्थिति में पहुँचे तो उसी क्षण उन्हें बुद्धत्व प्राप्त हो गया। शंकराचार्य कहते हैं ''मोक्ष न योग सिद्ध

होता है, और न सांख्य से, न कर्मों से और न विद्या से, वह केवल ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान से ही होता है। और किसी प्रकार नहीं।'' जे० कृष्णामूर्ति का सारा उपदेश सांख्य का है, अक्रिया का, केवल विचार का। 'करके' संसार को प्राप्त किया जा सकता है किन्तु परमात्मा के लिए हम केवल स्थान मात्र बना दें, यही पर्याप्त है। किन्तु यह सांख्य हर व्यक्ति के लिए उपयुक्त नहीं है। प्रखर बुद्धि व तीव्र प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति ही इस विधि का उपयोग कर सकता है। सामान्य व्यक्ति को सांख्य समझ में नहीं आ सकता। उसे किसी क्रिया से गुजरना पड़ेगा। भक्त हृदय के लिए प्रेम मार्ग है। वहाँ योग, हठयोग, सांख्य काम नहीं करेगा। भिन्न-भिन्न स्तर के व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। जनक में बोध ग्रहण करने की पात्रता थी इसलिए अष्टावक्र का प्रभाव हो गया अन्यथा असंभव था। कुछ भी कारण रहा हो सांख्य पर दिया गया ऐसा अनूठा उपदेश आज तक नहीं दिया गया। अष्टावक्र जैसा गुरु एवं जनक जैसा शिष्य खोजना असंभव है। यह पुस्तक आत्म-ज्ञान के मुमुक्षु व्यक्तियों के लिए निश्चय ही एक ऐसी नौका है जिसमें बैठ कर सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष का लाभ प्राप्त किया जा सकता है जो जीव की उच्चतम स्थिति है।

# सार-संक्षेप

अष्टावक्र गीता का आरंभ मुमुक्षु राजा जनक द्वारा पूछे गये तीन प्रश्नों से होता है कि- ज्ञान कैसे होता है? मुक्ति कैसे होती है? तथा वैराग्य कैसे होता है? सम्पूर्ण अध्यात्म का सार इन तीन प्रश्नों में समाहित है। आध्यात्मिक उपलब्धि में वैराग्य का होना अथवा आसक्ति-त्याग पहली शर्त है इससे होता है आत्म-ज्ञान एवं आत्म-ज्ञान से ही मुक्ति होती है जो जीव की सर्वोपरि स्थिति है। जनक के तीन प्रश्नों का समाधान अष्टावक्र ने तीन वाक्यों में कर दिया एवं उपदेश सुनते-सुनते ही जनक को वहीं आत्मानुभूति हो गई। कैसा अनूठा वक्तव्य रहा होगा व जनक की कितनी पात्रता रही होगी इसका अन्दाजा इससे लगाया जा सकता है। सत्य पर इतना शुद्धतम वक्तव्य आज तक कोई नहीं दे पाया। यदि इसे अध्यात्म से निकाल दिया जाय तो आत्म-ज्ञानी को उस पूर्ण की उपलब्धि पर कैसे अनुभव होता है यह जानना ही कठिन हो जायगा। वेद, पुराण, उपनिषद् भी इसके सामने फीके नजर आते हैं। कृष्ण की गीता का पात्र अर्जुन विभिन्न प्रकार की मानसिक समस्याओं में उलझा है। उसकी न ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा है न उसमें कर्तव्य-बोध है। वह क्षत्रिय है, युद्धक्षेत्र में खड़ा है, आततायियों की चुनौतियाँ उसके सामने हैं किन्तु वह अपने कर्तव्य कर्म से भागना चाहता है, झूठी तर्क संगति देता है। कभी पाप-पुण्य की, कभी स्वर्ग-नरक की, कभी संन्यास की बातें करता है किन्तु न उसमें कर्तव्य बोध है न गुरु के प्रति निष्ठा। भगवान कृष्ण उसे सभी प्रकार के आध्यात्मिक पक्षों को समझाते हुए कर्तव्य बोध कराते हैं किन्तु अर्जुन अधिक प्रज्ञावान न होने से वह हर समाधान पर नये-नये तर्क देता है। उसके ऐसी भ्रमित बुद्धि को देखकर कृष्ण ने जब अपने सारे प्रयत्न निष्फल होते देखे तो वे उसे अपने विराट् स्वरूप का दर्शन कराते हैं तब कहीं अर्जुन को कृष्ण के व्यक्तित्व का पता चलता है तो वह समर्पण के साथ ही उस दिव्य वाणी का

ग्राहक बन जाता है जिससे वह उस युद्ध को जीत सका। राजा जनक अर्जुन से कहीं अधिक नम्र, शुद्ध चित्त, मुमुक्षु, प्रतिभासम्पन्न एवं गुरु में पूर्ण श्रद्धा रखते थे। उन्होंने एक भी शंका नहीं उठाई, न झूठे तर्क दिये। गुरु के कहते ही समर्पित हो गये। यह समर्पण ही द्वार बन गया जिससे गुरु उनमें फौरन प्रवेश कर गये। पूर्ण बोध से ही घटना घट गई। आत्म-ज्ञान में समस्या ज्ञान की नहीं, उलझे मन की है। मन की सफाई में ही सारा समय लग जाता है व फिर भी व्यक्ति रीता ही रह जाता है। शुद्ध एवं स्वच्छ मन इसकी अनिवार्य शर्त है। कोई इसे पूरी मात्र कर दे तो गुरु का प्रसाद तत्काल ही उपलब्ध हो जाता है इसमें एक क्षण का भी विलम्ब नहीं होता। राजा जनक जैसी पात्रता होने पर हर व्यक्ति को ऐसी घटना घट सकती है। इसमें धर्म, सम्प्रदाय, देश, जाति, काल कोई बाधा नहीं है। यदि कोई इसे गम्भीरता से हृदयंगम कर ले तो आत्म-बोध की झलक मिल सकती है। कहते हैं विवेकानन्द जब रामकृष्ण के पास गये व परमात्मा का प्रमाण पूछा तो रामकृष्ण ने उन्हें अष्टावक्र गीता पढ़ने को दी कि तुम इसे पढ़कर मुझे सुनाओ। मेरी दृष्टि कमजोर है। कहते हैं विवेकानन्द इस पुस्तक को पढ़ते-पढ़ते ही ध्यानस्थ हो गये व उनके जीवन में क्रान्ति घट गई।

आध्यात्मिक क्रान्ति बोध से आती है। अन्य क्रियाएँ कहीं काम नहीं आतीं। अष्टावक्र ने कहा है- चर्मकार चमड़ी को देखता है व ज्ञानी आत्मा को। आत्मा को देखने की क्षमता आना ही उसकी पात्रता है जिससे उपलब्धि संभव है। जनक ऐसे ही प्रज्ञावान थे जिनको थोड़े से ही प्रयास से आत्म-बोध हो गया। पूर्व-जन्म की पात्रता रही होगी तथा इस जन्म की मुमुक्षा। इन दोनों कारणों के उपस्थित होने से ही घटना शीघ्र घट गई। सौ अंश ताप पर पानी खौलता है। जिसको निन्यानवें अंश ताप पूर्व जन्म में ही मिल चुका है वह केवल एक अंश ताप मिलते ही खौल उठता है किन्तु पूर्व-जन्म में जिसे दस अंश ताप ही मिला है उसे नब्बे अंश की आवश्यकता पड़ती है। उपलब्धि में समय की भिन्नता का यही कारण है। फिर मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं—ज्ञानी, मुमुक्षु, अज्ञानी और मूढ़।

ज्ञानी वह है जिसे ज्ञान प्राप्त हो चुका है, मुमुक्षु वह है जो ज्ञान-प्राप्ति के लिए लालायित है, उसे हर कीमत पर प्राप्त करना चाहता है, अज्ञानी वह जिसे शास्त्रों का ज्ञान तो है किन्तु उपलब्धि के प्रति कोई रुचि नहीं रखता तथा मूढ़ वह है जिसे इस अध्यात्म-जगत् का कुछ भी पता नहीं है, न जानना ही चाहता है। वह पशुओं की भाँति अपनी शारीरिक क्रियाओं को पूर्ण मात्र कर लेता है। वह शरीर में ही जीता है। इनमें मूढ़ से अज्ञानी श्रेष्ठ हैं, अज्ञानी से मुमुक्षु श्रेष्ठ है। ज्ञानी सर्वोत्तम स्थिति में है।

कुछ चीजों का अस्तित्व है किन्तु उनके प्रमाण नहीं दिये जा सकते। जो आँख से देखने की है, जिसका स्वयं अनुभव किया जा सकता है उनको प्रमाणों से सिद्ध करना असंभव है। अन्धे को सूर्य को प्रमाणित करके नहीं समझाया जा सकता। उसे रंगों का ज्ञान नहीं कराया जा सकता। प्रेम, दया, करुणा, दर्द, पीड़ा, आनन्द को नहीं दिखाया जा सकता है न उन्हें प्रमाणित ही किया जा सकता है। ये स्वयं के ही अनुभव में आती है। बुद्धि की एक सीमा है जहाँ तक ही यह निर्णय ले सकती है। आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म आदि उसकी पकड़ से बाहर हैं। ये इन्द्रियों के विषय ही नहीं हैं। इन्द्रियाँ स्थूल को पकड़ सकती हैं, सूक्ष्म छूट जाता है। सूक्ष्म को पकड़ने की विद्या दूसरी ही है जिसका उपयोग करने पर सूक्ष्म भी ग्राह्य हो जाता है। यह विद्या ध्यान व समाधि की है जिसमें व्यक्ति स्थूल जगत् के पार सूक्ष्म के भी दर्शन कर सकता है, उसका आभास या बोध प्राप्त कर सकता है। स्थूल सूक्ष्म का ही रूपान्तरण है। यदि सूक्ष्म जगत् नहीं है तो स्थूल की उत्पत्ति भी असंभव हो जाती। अज्ञानी स्थूल को ही पकड़ पाते हैं व ज्ञानी इस सूक्ष्म को भी पकड़ लेते हैं। अध्यात्म इसी सूक्ष्म को पकड़ने का विज्ञान है। इसकी कुछ शर्तें हैं जिन्हें पूरा किये बिना सूक्ष्म का ज्ञान नहीं हो सकता। आत्म-ज्ञान के लिए निर्विकार चित्त व साक्षी भाव चाहिए। महर्षि पतंजलि ने कहा है ''योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'' (चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है) इन चित्त की वृत्तियों को रोकने की भिन्न-भिन्न विधियाँ हैं किन्तु उच्च बोध होने पर इन विधियों की आवश्यकता नहीं पड़ती। भगवान बुद्ध ने भी कहा है कि ''जो समझ सकते हैं उन्हें मैंने बोध

दिया है व नासमझों को मैंने विधियाँ दी हैं।'' नासमझों के लिए बोध काम नहीं करेगा, उनके लिए विधियाँ ही ठीक हैं। राजा जनक में बोध था, विद्वान थे, समझ थी अतः अष्टावक्र ने उन्हें कोई विधियां नहीं बताईं। न यम-नियम साधने को कहा, न आसन, मुद्रा, प्रणायाम बताये, न जप, तप के लिए कहा, न गायत्री पुरश्चरण करवाया, न पूजा-पाठ की शिक्षा दी। सीधे बोध को छुआ व जनक जाग उठे। यह जनक का कौशल्य था कि जिससे सुनते-सुनते ही आत्म-ज्ञान हो गया। और कुछ करना नहीं पड़ा। गुरु ने भी उपयुक्त पात्र देखकर अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग किया होगा तभी यह संभव हुआ।

अष्टावक्र का ज्ञान-प्राप्ति हेतु मात्र उपदेश इतना ही था कि आत्म-ज्ञान के लिए कुछ करना नहीं है। क्रिया मात्र बन्धन है। क्रिया के साथ फल की आकांक्षा सदा लगी रहती है, इनके साथ अपेक्षाएँ जुड़ी रहती हैं। हर क्रिया की प्रतिक्रिया होती है व उसका निश्चित फल अवश्य मिलता है। यही मुक्ति में बाधा बन जाती है। अष्टावक्र ने समाधि का अनुष्ठान भी बाधक बताया है। अष्टावक्र का सारा उपदेश बोध का है, जागरण का है। मनुष्य शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार में जीता है। इन्हीं से उसे सुख-दुःख का अनुभव होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि इन्हीं से जुड़े हैं। इन्हीं के कारण वह भोगों में रुचि लेता है। जीवन समस्या नहीं है किन्तु मनुष्य के गलत दृष्टिकोण ने ही उसे समस्या बना दिया है। जैसे मकड़ी ही स्वयं जाला बुनती है व स्वयं उसमें फँस जाती है। कोई दूसरा उसका कारण नहीं है। ऐसी ही स्थिति मनुष्य की है कि ये सभी बन्धन उसने स्वयं ने ही निर्मित किये हैं व स्वयं ही उसमें उलझ कर रह गया है। किन्तु मनुष्य न शरीर है, न मन, न बुद्धि न अहंकार। वह शुद्ध चैतन्य मात्र है। शरीरस्थ यह चैतन्य ही आत्मा है व विश्व की समस्त आत्माओं का एकत्व भाव ही ब्रह्म है। दोनों अभिन्न हैं। यह चैतन्य न कर्त्ता है, न भोक्ता, न इसका बन्ध है, न मोक्ष। यह सबका साक्षी, निर्विकार, निरंजन, क्रियारहित एवं स्वयं प्रकाश है। यह समस्त सृष्टि में व्याप्त है व समस्त सृष्टि इसमें व्याप्त है। सृष्टि का आधार ही यह चैतन्य है। सृष्टि इसी चैतन्य की

अभिव्यक्ति मात्र है। सृष्टि अनित्य है, यह चैतन्य, शाश्वत व नित्य है। यही मूल-तत्व है। सृष्टि इसी के सृजन का परिणाम है। ऐसे चैतन्य का बोध हो जाना ही मुक्ति है। इस मुक्ति के लिए अष्टावक्र जी कहते हैं कि "इन सांसारिक विषयों के प्रति जो तुम्हारी आसक्ति है उसे विष के समान छोड़ दे तथा स्वयं को वही शुद्ध चैतन्य आत्मा मान कर उसमें निष्ठापूर्वक स्थित हो जा। यही है वैराग्य, ज्ञान व मुक्ति का रहस्य।" सारे अध्यात्म का रहस्य मात्र तीन सूत्र में खोल कर रख दिया। यह गुरु की महत्ता है व शिष्य की पात्रता कि उसे जनक ने उसी क्षण ग्रहण कर लिया। न कोई तर्क दिया, न शंका प्रकट की, न अविश्वास, न अपनी बुद्धि व शास्त्रीय ज्ञान को बीच में अड़ाया। पूर्ण श्रद्धा से इन वाक्यों को अमृत के समान पी गये। इस कथन के बाद अष्टावक्र मन, अहंकार, शरीर, चैतन्य, आत्मा की थोड़ी सी व्याख्या मात्र देते हैं जिससे ये तथ्य जनक को सुपाच्य हो जाय। इतने कम श्रम से जनक को पूर्ण आत्म-बोध हो गया तथा वे उसकी अभिव्यक्ति देने लगे। अष्टावक्र को विश्वास तो हो गया कि इसे आत्म-बोध तो हो चुका है किन्तु उसे और दृढ़तर बनाने के लिए जनक की परीक्षा हेतु अनेक प्रश्न करते हैं। जनक इस सम्पूर्ण परीक्षा में सौ प्रतिशत अंकों से उत्तीर्ण होते हैं। कितना अद्भुत व्यक्ति रहा होगा जनक।

कहते हैं राई की ओट में पर्वत छिपा है किन्तु उस राई की ओट को भी कोई सद्गुरु ही हटा सकता है। यह पर्दा आत्मा पर नहीं, हमारी आँख पर पड़ा है। आत्मा तो निर्वस्त्र है, प्रत्यक्ष है, सामने है। देखने की क्षमता मात्र आनी चाहिए। सद्गुरु दृष्टि या बोध देकर उसे अनावृत्त करता है। शिष्य के ज्ञान के लिए गुरु की उपस्थिति मात्र पर्याप्त है जिससे घटना घटती है। मीरा, कबीर, रमण, संत ज्ञानेश्वर, विवेकानन्द, भर्तृहरि आदि अनेकों उदाहरण हैं जो यह प्रमाणित करते हैं कि आत्म-ज्ञान में गुरु की अनिवार्यता है। इसीलिए आध्यात्मिक उपलब्धि में गुरु का महत्व सर्वोपरि है। गुरु ईश्वर का ही प्रतिरूप होता है, वही ईश्वर का साकार अवतार है, उसकी महिमा ईश्वर से किसी प्रकार कम नहीं है। ईश्वर भी गुरु

के माध्यम से ही सहायता करता है। ज्ञानार्थी को गुरु ही मार्ग दिखाता है किन्तु उपलब्धि स्वयं की पात्रता के बिना नहीं होती। दोनों जहाँ मिल जाते हैं वहीं लोहा पारस के सम्पर्क से स्वर्ण बन जाता है। शिष्य की पात्रता के लिए आवश्यक है उसकी मुमुक्षा, प्रखर प्रज्ञा, श्रद्धा, समर्पण भाव, नम्रता एवं पूर्व जन्म में अर्जित ज्ञान। योग वाशिष्ठ में कहा है, ''शिष्य की विशुद्ध प्रज्ञा ही तत्व-साक्षात्कार का कारण है।'' महर्षि विश्वामित्र ने भी कहा है, ''गुरु वाक्य से जो तत्व-ज्ञान प्राप्त होता है उसका कारण शिष्य की प्रज्ञा ही है।'' ऐसी प्रज्ञा अनेक जन्मों के सुकृत्यों के फल से प्राप्त होती है। जीवन एक नहीं है बल्कि अनेकों जन्मों की श्रृंखला में एक कड़ी है। वर्तमान जीवन पूर्व जन्म की भित्ति पर खड़ा है तथा भविष्य का निर्धारण करने वाला है। जीवन में किया गया हर कृत्य अगले जीवन पर अपनी छाप छोड़ता है। ज्ञान-प्राप्ति की जिज्ञासा भी पूर्व जन्म के संस्कारों के बिना नहीं होती। जब संस्कार तीव्र हो जाते हैं तब वह व्यक्ति सद्गुरु की कृपा का प्रसाद अनायास ही प्राप्त कर लेता है। जैसा जनक के साथ हुआ वैसा सबके साथ हो सकता है यदि पात्रता की शर्त पूरी कर दी जाय। इसीलिए कहा है :—

*गुरुर्ब्रह्मा: गुरुर्विष्णु: गुरुर्देवो महेश्वर:।*
*गुरु: साक्षात् पर ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नम:।।*

ऐसे गुरु को शत्-शत् नमन करता हुआ उसी के प्रसाद स्वरूप इस ''अष्टावक्र गीता'' की व्याख्या करने का दु:साहस कर रहा हूँ तथा गुरु कृपा से ही जनहितार्थ पूर्ण करने की कामना करता हूँ।

*अत: श्री गुरवे नम:*

—लेखक

卐

# मृत्यु और परलोक यात्रा

*लेखक—नन्दलाल दशोरा*

मृत्यु जीवन का एक शाश्वत सत्य है। लेकिन इसे सुखद कैसे बनाया जा सकता है जिससे भावी जन्म अधिक उन्नत एवं समृद्ध बन सके, यह भी मनुष्य के हाथ में है। दैवी शक्तियां इसे अधिक उन्नत बनाने में सदैव सहयोग करती हैं। किन्तु अज्ञानवश मनुष्य स्वयं अपना पतन कर लेता है जिसके लिए यह प्रकृति जिम्मेदार नहीं है।

मृत्यु क्या है? क्या मृत्यु के बाद भी जीवन है? मृत्यु किसकी होती है? पुनर्जन्म कैसे और क्यों होता है? हमारे जीवन और परलोक के जीवन में क्या अन्तर है? मोक्ष क्या है? इत्यादि प्रश्नों की जानकारी देने का प्रयास इस पुस्तक में किया गया है।

# अध्यात्म, विज्ञान और धर्म

*लेखक—नन्दलाल दशोरा*

''शिक्षा वही उचित है जो जीने का ढंग सिखाये और ज्ञान वही श्रेष्ठ है जो मोक्ष दिला सके।'' इसी आधार पर जो सामंजस्य अध्यात्म, विज्ञान और धर्म में होना चाहिए आप इस पुस्तक में पढ़कर ज्ञानार्जन कर सकते हैं।

# पहला प्रकरण

***(विषयों का परित्याग कर आत्मा अथवा चैतन्य में स्थित होना ही मुक्ति है)***

## सूत्र १

जनक-उवाच

**कथं ज्ञानमवाप्नोति कथं मुक्तिर्भविष्यति ।**
**वैराग्यं च कथं प्राप्तमेतद् ब्रूहि मम प्रभो ।।**

*अनुवाद :— राजा जनक ने ज्ञान-प्राप्ति एवं मुक्ति-हेतु अष्टावक्र के सामने जिज्ञासा की कि— "हे प्रभो! ज्ञान कैसे प्राप्त होता है? मुक्ति कैसे होती है? और वैराग्य कैसे प्राप्त होता है? यह मुझे कहिए।"*

*व्याख्या :—* **अध्यात्म में ज्ञान का अर्थ है— आत्म-ज्ञान। आत्म-ज्ञान ही मात्र ज्ञान है, बाकी सब विज्ञान है, जानकारी है, सूचनाएँ हैं, जो बाहर से प्राप्त होती हैं। यह जड़ प्रकृति उस चैतन्य तत्व की ही अभिव्यक्ति है, उसी का खेल है, लीला है, नृत्य है। यह चैतन्य ही समस्त सृष्टि का आधारभूत तत्व है जो समस्त जड़ चेतन में व्याप्त है। इस व्यष्टि चेतन को आत्मा तथा समष्टि चेतन को ही 'ब्रह्म' कहा गया है। दोनों एक ही तत्व हैं। आत्मा का ज्ञान ही परमात्मा का ज्ञान है। आत्मा से परमात्मा (ब्रह्म) भिन्न नहीं है। इस आत्म-तत्व का ज्ञान होने पर सब कुछ जाना हुआ हो जाता है। उपनिषद् कहते हैं "यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।" (जिसके जानने से सब कुछ जाना हुआ हो जाता है) सम्पूर्ण सृष्टि का रहस्य ज्ञात हो जाता है। फिर जानने को कुछ बाकी नहीं रहता।**

मनुष्य- शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार आदि नहीं बल्कि आत्मा ही उसका वास्तविक स्वरूप है। वही नित्य, शाश्वत एवं सनातन है। प्रकृति अनित्य है। इस आत्मा का ज्ञान ही 'स्व' का ज्ञान है। अज्ञानी प्रकृति को ही जानते हैं जो स्थूल है, इन्द्रियग्राह्य है जबकि ज्ञानी उस चेतन को भी जान लेते हैं जो सूक्ष्म है, इन्द्रियातीत है।

इस ज्ञान-प्राप्ति से होती है मुक्ति। सृष्टि का आधार जान लेने पर समस्त विश्व प्रपंच का ज्ञान हो जाता है, भ्रान्ति मिट जाती है, मनुष्य शान्त हो जाता है, साक्षी हो जाता है, दृष्टा मात्र रह जाता है, जिससे संसार-बन्धनों से मुक्त होकर वह स्वतन्त्र हो जाता है। मुक्ति ज्ञान के बिना नहीं हो सकती। जीवन का चरमोत्कर्ष मुक्ति है जो जीव की अन्तिम परिणति है, अन्तिम स्थिति है, चरम विकास है।

आत्म-ज्ञान के लिए वैराग्य का होना आवश्यक है। वैराग्य का अर्थ संसार को छोड़ना अथवा उससे भागना नहीं है, अपितु उसके प्रति आसक्ति का त्याग है। संसार बन्धन नहीं है, उसके प्रति जो आसक्ति है, लगाव है, यही बन्धन है। इस आसक्ति का कारण है अहंकार। जब तक अहंकार है आसक्ति होगी ही तथा यही आसक्ति, बन्धन है। संसार और आत्मा दो छोर हैं। बाहर है संसार, भीतर है आत्मा (परमात्मा)। दोनों मार्ग भिन्न दिशाओं में जा रहे हैं। मुनष्य दोनों के मध्य खड़ा है। यदि वह संसार की ओर भागता है तो परमात्मा से दूर होता जाता है। यदि वह परमात्मा की ओर जाना चाहता है तो उसे संसार से विमुख होना पड़ेगा। संसार से विमुख होना ही वैराग्य है। यह केवल दृष्टि परिवर्तन से होगा। शहर छोड़कर जंगल में भागने से नहीं होगा। यदि व्यक्ति संसार के प्रति आसक्ति का त्याग-मात्र कर देता है तो वह ज्ञान-प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है। मनुष्य के अहंकार के कारण ही लोभ, मोह, वासना आदि पैदा होते हैं, जिससे मनुष्य इस कर्मजाल के बन्धन में उलझ जाता है। यह जाल उसने स्वयं ही अज्ञानवश तैयार किया है। जिसे ज्ञान द्वारा नष्ट किया जा सकता है किन्तु ज्ञान प्राप्ति हेतु मुमुक्षु भी होना अनिवार्य है अन्यथा उसे कोई भी देवता उपहारस्वरूप लाकर नहीं दे सकते।

राजा जनक मुमुक्षु हैं। उनमें ज्ञान व मुक्ति की तीव्र इच्छा है। अष्टावक्र ज्ञानी हैं। जिन्होंने पा लिया है, वे ही दे सकते हैं। जिसने

स्वयं नहीं पाया वह दे भी नहीं सकता बल्कि और भटका देता है। आज संसार ऐसे ही अज्ञानियों द्वारा भटकाया गया है, विभ्रमित किया गया है। इन मूढ़ों ने दुनियां को जितनी हानि नहीं पहुँचाई उतनी इन अज्ञानियों ने पहुँचायी है। ये अज्ञानी ही साम्प्रदायिकता फैलाते हैं जिससे संसार विकृत हुआ है। राजा जनक ज्ञानी गुरु से तीन प्रश्न करते हैं- ज्ञान कैसे प्राप्त होता है? मुक्ति कैसे होती है? तथा वैराग्य कैसे होता है? तीन ही प्रश्नों के उत्तर में सारे अध्यात्म का सार निचोड़ समाया है। हर व्यक्ति मुक्ति की चाह तो करता है, किन्तु सद्‌गुरु के अभाव में सब कुछ करता हुआ भी आत्म-ज्ञान को प्राप्त नहीं होता। इसके मुख्य तीन कारण हैं— स्वयं की मुमुक्षा का न होना, स्वयं की पात्रता का अभाव एवं सद्‌गुरु का अभाव। ये तीनों जहाँ मिल जाते हैं, जहाँ इस त्रिवेणी का संगम हो जाता है। वहाँ चेतना अवश्य प्रकट होती है। ज्ञानी गुरु ही तत्व का बोध करा सकता है। मुमुक्षु राजा जनक की पात्रता का निश्चय हो जाने पर अष्टावक्र ने अपनी पूरी शक्ति का उपयोग कर सारा ज्ञान सारभूत रूप में केप्स्यूल में बन्द कर उनके गले उतार दिया व तीनों प्रश्नों का तीन वाक्यों में समाधान कर दिया।

अष्टावक्र पहले वैराग्य का स्वरूप बताते हैं क्योंकि वैराग्य हुए बिना मनुष्य आत्मज्ञान का अधिकारी नहीं बनता। यह प्रारम्भिक शर्त है।

# सूत्र २

अष्टावक्र—उवाच

**मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्यज।**
**क्षमार्जवदयातोषं सत्यं पियूषवद् भज॥**

*अनुवाद :— अष्टावक्र ने कहा "हे प्रिय! यदि तू मुक्ति चाहता है तो विषयों को विष के समान छोड़ दे और क्षमा, आर्जव (सरलता), दया, सन्तोष और सत्य को अमृत के समान सेवन कर।"*

*अष्टावक्र कहते हैं :—*

*व्याख्या :—* हे प्रिय! अष्टावक्र आयु में कम होते हुए भी ज्ञानवृद्ध हैं एवं गुरु पद पर आसीन हैं। राजा जनक शिष्य भाव से जिज्ञासा कर रहे हैं। इसलिए अष्टावक्र उन्हें प्रिय शब्द से सम्बोधित कर कहते हैं कि 'यदि तू मुक्ति चाहता है तो इन विषयों को विष के समान छोड़ दे।' एक ही वाक्य में वैराग्य का रहस्य प्रकट कर दिया। इन्द्रियों द्वारा भोगे जाने वाले विषयों में आसक्त होना ही मनुष्य को आत्म-ज्ञान से वंचित रखता है। ये विषय केवल शरीर और मन को ही तुष्ट कर सकते हैं, आत्मा को नहीं। फिर भोग से कभी वासनाएँ तृप्त नहीं होतीं। बार-बार उठती हैं व अनेक जन्मों तक चलती रहती हैं जिससे मनुष्य-शरीर व मन ही नहीं है, वह चैतन्य आत्मा है। अतः आत्म-ज्ञान की इच्छा रखने वाले को इन इंद्रियगत विषयों को विष के समान छोड़ देना चाहिए। इन विषयों के प्रति आसक्ति ही मनुष्य के बार-बार जन्म व मृत्यु का कारण बनती है अतः यह विष के समान है किन्तु विषयों के छोड़ने मात्र से वह आत्मज्ञानी नहीं हो जाता बल्कि इनसे वह आत्म-ज्ञान का अधिकारी बनता है, उसमें पात्रता आ जाती है। विषयों को छोड़ने का अर्थ उनके प्रति आसक्ति का त्याग है। ये विषय बन्धन नहीं हैं, उनके प्रति जो आसक्ति है वही बन्धन है जिसे छोड़ने की बात अष्टावक्र कह रहे हैं। विषयों को छोड़ने का अर्थ खाना, पीना, कपड़े, बिस्तर आदि छोड़कर नग्न हो जाना व भूखे मरने से नहीं है बल्कि शरीर को जीवित रखने के लिए जो न्यूनतम आवश्यकताएँ हैं उनसे अधिक का भोग न करने से है। भोगों में आसक्ति होने से ही लोभ, मोह, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, दुःख, चिन्ता आदि अनेक अवगुण आते हैं और एक ऐसा दुष्ट चक्र बन जाता है जो जन्म-जन्मों तक समाप्त नहीं होता। इसका मूल कारण एकमात्र आसक्ति का होना है। आसक्ति-त्याग से ही इन समस्त बुराइयों से वह मुक्त हो जाता है, तथा ज्ञान का अधिकारी बन जाता है।

अष्टावक्र आगे कहते हैं कि केवल विषयों के त्याग से तुझे पात्रता उपलब्ध होगी, तू सद्गुण ग्रहण करने का पात्र बन जायेगा। पात्र में जो विषयरूपी जहर भरा है उसे खाली किये बिना उसमें

अमृत उड़ेलने से वह अमृत भी विष बन जायेगा। इसलिये पहले अन्तःकरण को स्वच्छ कर, तभी सद्ज्ञान का प्रभाव होगा वरना वह ज्ञान भी विकृत हो जायेगा। अन्तःकरण स्वच्छ होने पर तू क्षमा, सरलता, दया, संतोष एवं सत्यरूपी अमृत को उसमें भरकर सेवन कर, तभी तुझे अमृत का लाभ मिलेगा। ये विषय अनित्य हैं, अविद्याजनित हैं तथा क्षमा, सरलता, सत्य आदि शाश्वत हैं। तू अनित्य के भोग को छोड़कर नित्य, शाश्वत का सेवन कर तो तू अमृतत्व को उपलब्ध होगा। विषय-त्याग से देह के प्रति जो झूठा तादात्म्य हो गया है वह छूटेगा तभी आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापित होगा। भोगों के प्रति आसक्ति का त्याग ही वैराग्य है।

अष्टावक्र अब राजा जनक को अपने स्वरूप का बोध कराते हैं—

## सूत्र ३

**न पृथिवी न जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौर्न वा भवान्।**
**एषां साक्षिणमात्मामं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये।।**

*अनुवाद :— तू न पृथ्वी है, न जल है, न अग्नि है, न वायु है, न आकाश है। मुक्ति के लिए अपने को इन सबका साक्षी चैतन्यरूप जान।" (यही आत्म-ज्ञान है जो मुक्ति का कारण है)।*

*व्याख्या :—* राजा जनक का पहला प्रश्न है 'ज्ञान कैसे प्राप्त होता है।' अष्टावक्र पहले ज्ञान की अनिवार्य शर्त वैराग्य की व्याख्या करने के बाद जनक को अपने निज स्वरूप का बोध कराते हैं। वे कहते हैं— मनुष्य शरीरमात्र नहीं है, वह चैतन्य आत्मा है। आत्मा ही उसका वास्तविक स्वरूप है। वही सम्राट है। यह शरीर, मन, बुद्धि आदि उसके भृत्य हैं जो उसके आदेशानुसार कार्य कर रहें हैं। ये चूँकि स्थूल हैं इसलिए इनका प्रत्यक्ष बोध होता है। आत्मा सूक्ष्म है जिसके ज्ञान के अभाव में ऐसी भ्रान्ति होती है कि मैं शरीर हूँ। यही अज्ञान है। अष्टावक्र इसी भ्रान्ति का निवारण करने हेतु कहते हैं कि "तू पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पाँच तत्वों

से बना भौतिक शरीर नहीं है। ये पंचतत्व भौतिक हैं, अनित्य हैं, नष्ट होने वाले हैं, मृत्यु पर नष्ट हो ही जायेंगे किन्तु तू फिर भी जीवित रहेगा व मृत्यु के बाद भी तू अपनी अगली यात्रा पर निकल जायेगा, शरीर को पुराने वस्त्र के समान छोड़कर नया वस्त्र धारण कर लेगा। यह शरीर तेरा वस्त्रमात्र है। तू इससे भिन्न है। यह तेरा शरीर भौतिक पदार्थों से बना है। तू घर नहीं है बल्कि उसमें रहने वाला मालिक है। तू उसमें निवास करने वाला साक्षी चैतन्यरूप है। सम्पूर्ण भौतिक जगत का आधार यही चैतन्य है। तू भी वही चैतन्य है। अपने को भौतिक शरीर समझने की जो तुझे अनेक जन्मों के अभ्यास के कारण भ्रान्ति हो गई है उसे मिटाकर अपने को साक्षी चैतन्यस्वरूप जान। यही ज्ञान है। यदि तू उस समस्त दृष्य प्रपंच का साक्षी, दृष्टा बन जाता है तो तुझे आत्मबोध हो जायगा।'' यही सूत्र है जिसे पकड़ने पर अन्य कोई साधना आवश्यक नहीं रह जाती। हम कहते हैं— यह शरीर मेरा है, मन मेरा है, बुद्धि मेरी है आदि तो यह 'मैं' कौन है- जिसके ये सभी हैं। निश्चित ही ये सभी 'मैं' से भिन्न हैं तभी हम कहते हैं यह 'मेरा' है। अन्यथा मेरा कैसे कहा जा सकता है। जो मेरा है वह इस 'मैं' से मिला है तो उन्हें छोड़ा भी जा सकता है व इन सब 'मेरे' के छूटने पर जो शेष बच जाता है वही 'मैं' का वास्तविक स्वरूप है। यही 'मैं' आत्मतत्व है जिसका ज्ञान होने पर ये सब विजातीय तत्व उससे भिन्न प्रतीत होने लगते हैं। यही आत्मज्ञान है।

अष्टावक्र राजा जनक को आत्म-बोध कराने के बाद मुक्ति के लिए कहते हैं जो जनक का दूसरा प्रश्न है कि मुक्ति कैसे होती है? :—

## सूत्र ४

यदि देहं पृथक्कृत्य चित्ति विश्राम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शान्तः बन्धमुक्तो भविष्यसि।।

*अनुवाद :— यदि तू देह को अपने से अलग कर और चैतन्य में विश्राम कर स्थित है तो अभी ही सुखी, शान्त और बन्ध-मुक्त हो जायेगा।*

**व्याख्या :—** अष्टावक्र कहते हैं कि वैराग्य होने से पात्रता आयेगी। फिर गुरू द्वारा तत्वज्ञान का बोध कराये जाने पर होगा आत्म-ज्ञान। किन्तु मुक्ति के लिए आत्म-ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है। यह निश्चय हो जाना कि 'मैं शुद्ध चैतन्य आत्मा हूँ, मैं साक्षी हूँ, यह शरीरादि मैं नहीं हूँ, आदि ही मुक्ति के लिए पर्याप्त नहीं है। इस आत्म-ज्ञान के बाद भी यदि शरीर आदि से तादात्म्य बना रहा तो फिर पुनर्जन्म की संभावना बनी रहती है। अतः उसे भी मुक्ति नहीं कहा जा सकता। यह ज्ञान सविकल्प समाधि में भी होता है जिसमें बीजरूप में सभी संस्कार विद्यमान रहते हैं। उचित वातावरण मिलने पर वह बीज पुनः वृक्ष बन सकता है। उस बीज को भी नष्ट कर देना निर्विकल्प समाधि है। वही मुक्तावस्था है। अष्टावक्र इसी मुक्ति की बात कह रहे हैं कि "तू आत्म-ज्ञान प्राप्ति के बाद यदि देह से अपनी आसक्ति छोड़कर, उससे तादात्म्य छोड़कर पूर्णरूपेण चैतन्य आत्मा में विश्राम कर स्थित है तो अभी तू सुखी, शान्त और बन्धमुक्त हो जायेगा। अपने शुद्ध स्वरूप आत्मा को जान लेना ही पर्याप्त नहीं है उसी में निरन्तर स्थित रहना है। यही निर्विकल्प समाधि की स्थिति है, यही मुक्ति है।" पतंजलि अष्टांग योग में अन्तिम स्थिति में समाधि की बात कहते हैं। अष्टावक्र पहले ही वाक्य में जनक को समाधि का ज्ञान करा देते हैं। शरीर और आत्मा के मध्य ऐसे सात आवरण हैं। योग शरीर से आरम्भ करके एक-एक आवरण को विधिपूर्वक खोल कर आत्मा तक पहुँचता है। अष्टावक्र सीधे आत्मा का बोध कराते हैं व बाकी सभी आवरणों को एक ही साथ नष्ट करने की बात कहते हैं। वे कहते हैं ये सभी आवरण वास्तविक नहीं हैं। भ्रान्तिमात्र हैं। भ्रान्ति का विनाश बोध से ही सम्भव है, वहाँ क्रिया काम नहीं आयेगी। आत्मा के साथ अहंकार जुड़ा है, अहंकार से वासना पैदा होती है। वासनापूर्ति हेतु उसे शरीर मिलता है। यदि वासना नहीं है तो शरीर की आवश्यकता ही नहीं थी। योग का केन्द्र शरीर है। यदि तू इससे

पृथक होकर सीधे आत्मभाव में स्थित हो जाता है तो तू अभी सुखी, शान्त व मुक्त हो जायेगा। कितना सारगर्भित तथ्य है। 'अभी' एक क्षण का भी विलम्ब नहीं होगा। ये वासनाएँ, संस्कार, कर्म-फल, कर्मभोग आदि कुछ भी बाधक नहीं हैं। केवल ऐसी स्थिति में स्थिर हो जाना ही पर्याप्त है। जैसे रस्सी में साँप की भ्रान्ति हो जाने पर उसे प्रत्यक्ष देखने से ही वह भ्रान्ति मिटती है संशय मिट जाता है, कुछ कर्मकाण्ड, जप-तप, मन्त्र-साधना, हठयोग की क्रियाएँ आदि नहीं करनी पड़ती उसी प्रकार अष्टावक्र आत्मबोध ही पर्याप्त मानते हैं जिससे समस्त भ्रान्तियाँ मिट जाती हैं एवं मनुष्य मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। यह मुक्ति कोई स्थानविशेष नहीं है न इसको प्राप्त करने के लिए कोई वैतरणी ही पार करनी पड़ती है बल्कि अपनी वास्तविक स्थिति को जान लेना है जो प्रत्यक्ष-दर्शन से ही संभव है। इसी से समस्त ग्रंथियाँ खुल जाती हैं। ये सभी ग्रंथियाँ अज्ञान की ही हैं। शिवगीता में भी कहा गया है :—

**मोक्षस्य न हि वासीऽस्ति न ग्राम्यान्तरमेव वा।**
**अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः।।**

(मोक्ष का किसी लोकान्तर में, गृह या ग्राम में निवास नहीं है किन्तु अज्ञानरूपी हृदयग्रन्थि का नाश ही मोक्ष कहा जाता है।)

जो चैतन्य आत्मा में विश्राम कर ठहर गया वही मुक्त है। सभी कर्म शरीर व मन के हैं। जो शरीर और मन के प्रति आसक्ति रखता है उसी के कर्म बन्धन का कारण बनते हैं। आत्मा का कोई बन्धन नहीं है। वह कर्त्ता है ही नहीं, दृष्टा है। दृष्टा कभी कर्मबन्धन में नहीं बँधता। ये सभी भोग, कर्म, अहंकार, लोभ आदि शरीर व मन के धर्म हैं। आत्मा के नहीं। जो अपने को आत्मा मानकर शरीर से अपना सम्बन्ध छोड़ देता है वह मुक्त ही है। यही अष्टावक्र का परम उपदेश है।

## सूत्र ५

**न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः।**
**असंगोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव।।**

*अनुवाद :—* "तू ब्राह्मण आदि वर्ण नहीं है, और न तू किसी आश्रम वाला है। न आँख आदि इन्द्रियों का विषय है। ऐसा जानकर सुखी हो।"

**व्याख्या :—** अष्टावक्र जी ने तीन ही सूत्रों में राजा जनक के तीनों प्रश्नों- ज्ञान-मुक्ति और वैराग्य का स्पष्टीकरण देकर मुक्ति की विधि बता दी। आगे इसकी थोड़ी और व्याख्या करते हैं जिससे जनक को पूर्णरूपेण यह तत्व-बोध हृदयंगम हो जाय। अष्टावक्र कहते हैं "तू शरीर नहीं है, आत्मा है जो चैतन्य है, साक्षी है। आत्मा का कोई वर्ण नहीं होता। यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नहीं होती। यह तो चैतन्य ऊर्जा मात्र है जो समस्त प्रकार के जीवों में समान रूप से व्याप्त है।

यह आत्मा न किसी वर्ण वाली है न आश्रम वाली ही है। यह हिन्दू, मुस्लिम आदि धर्म वाली भी नहीं है, न इसकी कोई जाति है, न लिंग। ये चार आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास) भी आत्मा के नहीं हैं। आत्मा न कर्त्ता है, न भोक्ता, न भोग्य विषय। इन तीनों से परे असंग, निराकार और विश्व का साक्षीमात्र है। केवल दृष्टा है। अष्टावक्र जनक से कहते हैं कि तू वही आत्मा है ऐसा जानकर सुखी हो। चूंकि ये वर्ण, आश्रम एवं इन्द्रियों के विषय आत्मा के नहीं हैं अतः ये तेरे नहीं हो सकते। इन वर्णाश्रम के धर्मों को मानने का विधान केवल अज्ञानियों के लिए है जिससे वे अपना क्रमिक विकास कर आत्म-ज्ञान को उपलब्ध हो सकें।

अष्टावक्र जनक को आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराते हुए कहते हैं 'तू इसे जान ले और अभी सुखी हो।' इसमें देर होती ही नहीं। यह नकद धर्म है। उधार नहीं है कि आज कर्म किया और अगले जन्म में फल मिलेगा। कुछ धर्म कहते हैं यह कलियुग है, यह पंचम काल है, इसमें मुक्ति होगी ही नहीं। कुछ कहते हैं आज से प्रयत्न करना आरम्भ करो तो सात जन्म बाद मुक्ति मिलेगी। कुछ कहते हैं अन्तिम तीर्थंकर, पैगम्बर, अवतार हो चुके अब कोई होने वाला नहीं है। परन्तु अष्टावक्र बड़ी निर्भीकता से घोषणा करते हैं कि यह सब बकवास है। तू अपने को चैतन्य में स्थिर कर ले और अभी मुक्त हो जा। ऐसी घोषणा कोई भी महापुरुष, अवतार या

गुरु नहीं कर पाये। बड़ी अद्भुत घोषणा है अध्यात्म जगत् की। दीपक जलते ही जैसे एक क्षण में अँधेरा गायब हो जाता है, उसी प्रकार आत्म-ज्ञान के प्रकाश में अज्ञानरूपी अन्धकार एक क्षण में विलीन हो जाता है, सारी भ्रान्ति मिट जाती है। केवल बोध पर्याप्त है।

# सूत्र ६

**धर्माऽधर्मौ सुखं दुःखं मानसानि न ते विभो।**
**न कर्ताऽसि न भोक्ताऽसि मुक्त एवासि सर्वदा।।**

*अनुवाद :— "हे विभो! (व्यापक) धर्म और अधर्म, सुख और दुःख मन के हैं। तेरे लिये नहीं हैं। तू न कर्ता है, न भोक्ता। तू तो सर्वदा मुक्त ही है।"*

*व्याख्या* :— यह आत्मा चैतन्य है, मुक्त है, असीम है, सर्वत्र है, व्यापक है। यह किसी बन्धन में बँधी ही नहीं है। शरीर सीमित है, मन, बुद्धि सीमित हैं। आत्मा किसी एक शरीर या मन से बँधी नहीं है। यह सारी भिन्नता शरीरगत है, मानसिक है। आत्मगत कोई भिन्नता नहीं है। इसलिए अष्टावक्र राजा जनक को 'विभो' व्यापक शब्द से सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि तू शरीर नहीं है, व्यापक आत्मा है। इसलिए तू सर्वदा मुक्त ही है। यह मुक्ति तेरा स्वभाव है। इसे पाना नहीं है, यह उपलब्ध है ही, केवल जाग कर देखना मात्र है। केवल ग्राहक (रिसेप्टिव) होकर कोई ठीक से सुन मात्र ले तो घटना घट जाती है- उसी क्षण जन्म जन्मों की विस्मृति टूट जाएगी, स्मरण लौट आएगा। खोजने वाला भटक जाता है। खोजने पर परमात्मा नहीं मिलता। खोजों को छोड़कर संसार के प्रति उदासीन, वैराग्यवान होकर विश्राम में स्थित हो जाना ही पा लेने का मार्ग है। आत्मा व्यापक है, सबमें एक ही है, किन्तु शरीर की भिन्नता के कारण अज्ञानी को आत्मा की भी भिन्नता का भ्रम हो जाता है, यह मेरी आत्मा है, यह उसकी आत्मा है, भिन्न-भिन्न आत्माएँ हैं, आत्माएँ अनन्त हैं आदि।

अष्टावक्र कहते हैं कि तू अहंकार के कारण अपने को कर्त्ता और भोक्ता मान बैठा है। यह अहंकार भी तेरी भ्रान्ति है। तू चैतन्य आत्मा है जो न कर्त्ता है न भोक्ता। अपने को कर्त्ता और भोक्ता मानने के कारण ही तू सुख-दुःख का अनुभव कर रहा है, तू धर्म और अधर्म की बातें करता है, वास्तव में यह धर्म और अधर्म, सुख और दुःख मन के ही हैं। तू अहंकारवश ही अपने को आत्मा से भिन्न अनुभव कर रहा है उसे छोड़ दे तो तू आत्मवत् सदा मुक्त ही है। अहंकार और मन के मिटते ही तू कर्त्तापन और भोक्तापन से मुक्त हो जाएगा व इस धर्म-अधर्म, सुख-दुःख से भी मुक्त हो जायेगा।

# सूत्र ७

**एको दृष्टाऽसि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।**
**अयमेव हि ते बन्धो दृष्टारं पश्यसीतरम्।।**

*अनुवाद :— "तू एक सबका दृष्टा है, और सदा सचमुच मुक्त है। तेरा बन्धन तो यही है कि तू अपने को छोड़कर दूसरे को दृष्टा देखता है।"*

*व्याख्या :—* इस सूत्र में अष्टावक्र जी अद्वैत को प्रतिष्ठा देते हुए द्वैत धारणा को भी बन्धन का कारण मानते हुए जनक से कहते हैं "कि यह आत्मा ही परमात्मा है, यही ब्रह्म है। दोनों भिन्न नहीं हैं, एक ही हैं। तू भी वही ब्रह्म है तथा यह समस्त सृष्टि भी उसी एक ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। वही परमात्मा है, सबका दृष्टा है। अतः तू ही सबका दृष्टा है। परमात्मा मुक्त है अतः तू भी सचमुच मुक्त ही है लेकिन तेरे बन्धन का कारणमात्र इतना है कि तू अपने को छोड़कर दूसरे को दृष्टा देखता है।" बड़ा अर्थ-पूर्ण सूत्र है द्वैत एवं अद्वैत का। अष्टावक्र कहते हैं "तू सबका एक दृष्टा है।" दूसरा कोई दृष्टा नहीं है। द्वैतवादी धर्म कहते हैं कि ईश्वर व मनुष्य भिन्न है, परमात्मा व आत्मा भिन्न है, ईश्वर व सृष्टि अलग-अलग है। ईश्वर कर्त्ता है, उसने सृष्टि बनाई, वह आसमान में, स्वर्ग में कहीं

बैठा है, वहीं से समस्त सृष्टि का संचालन कर रहा है, सब उसकी मर्जी से उसके आदेशानुसार हो रहा है, वह दया करता है, पुरस्कार देता है, दण्ड देता है, न्याय करता है। उसका पूरा शासन है, पूरी शासन व्यवस्था है। उसने सृष्टि बनाई, स्वर्ग-नर्क बनाये, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, मनुष्य आदि बनाये। यह आत्मा-ईश्वर नहीं है, उसकी सन्तान है। ईश्वर और आत्मा का पिता-पुत्र का सम्बन्ध है, मालिक-गुलाम का सम्बन्ध है। ईश्वर मुक्त है, आत्मा गुलाम है, वह बन्धन में है। गुलाम कभी मालिक नहीं हो सकता। ईसाई, मुस्लिम एवं ब्रह्मकुमारी वाले ऐसी ही मान्यता रखते हैं। कुछ धर्म ब्रह्म, जीव व प्रकृति तीनों को अनादि मानते हैं। कुछ आत्मा व सृष्टि को अनादि मानते हैं। कुछ प्रकृति व पुरुष दोनों को अनादि मानते हैं। कुछ प्रकृति को ही सब कुछ मानते हैं। ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते। वे इस चैतन्य को प्रकृति का ही गुण मानते हैं। ऐसी विभिन्न मान्यताओं के बीच अष्टावक्र बड़ी निर्भीकता से यह घोषणा करते हैं कि यह चैतन्य आत्मा ही ब्रह्म है, इससे भिन्न कोई ईश्वर नहीं है। यह आत्मा ही एकमात्र दृष्टा है, साक्षी है। कुछ धर्म आकाश में बैठे ईश्वर को दृष्टा कहते हैं कि वहाँ बैठे-बैठे वह सब कुछ देख रहा है, पाप-पुण्य सब देख रहा है। अष्टावक्र कहते हैं यह आत्मा ही परमात्मा है व यही दृष्टा है। इससे भिन्न कोई दृष्टा नहीं है। यह आत्मा मुक्त ही है, किसी बन्धन में बँधी ही नहीं। वे आगे जनक को कहते हैं कि तेरा बन्धन यही है कि तू इस आत्मा के अलावा दूसरे को दृष्टा देखता है। जब दूसरा मौजूद है तो बन्धन हो ही गया। यदि एक ही है तो कौन किसे बाँधे। वह मुक्त ही है। यदि ईश्वर आत्मा से भिन्न है जो इससे बड़ा है, तभी बन्धन की बात पैदा होती है कि यह आत्मा उसके आधीन है, गुलाम है, उसकी सेवक है। जब दूसरा है ही नहीं तो बन्धन किसका। वह मुक्त ही है। अतः आत्मा से भिन्न ईश्वर की सत्ता को मानना भी बन्धन है। ऐसी आत्मा कभी मुक्त हो ही नहीं सकती। इसीलिए ईश्वर की सत्ता को आत्मा से भिन्न मानने वाले धर्मों में मुक्ति की धारणा नहीं पाई जाती। वे स्वर्ग-नर्क या ईश्वर के साम्राज्य की ही बातें करते हैं। केवल अद्वैतवादी ही मुक्ति की बात कह सके। स्वतंत्र होने में

बड़ा भय है, बड़ी असुरक्षा है। मनुष्य स्वभाव से ही गुलामी खोजता है, इसलिए उसने ईश्वर को अपना स्वामी एवं स्वयं को गुलाम मान लिया। इसी विचारधारा ने द्वैतवादी धर्म को जन्म दिया। उपनिषद् कहते हैं 'अयमात्मा ब्रह्म' 'तत्वमसि' आदि। यह अद्वैत की धारणा है। अष्टावक्र अद्वैतवादी हैं। इसीलिए वे जनक से कहते हैं कि तू आत्मा है व वही आत्मा सबका दृष्टा परमात्मा है। इससे भिन्न किसी अन्य आकाश में बैठे हुए परमात्मा को दृष्टा मानना ही तेरा बन्धन है। अज्ञानी ही आत्मा से भिन्न ईश्वर को दृष्टा, कर्म-फलप्रदाता एवं कर्त्ता मानते हैं। ज्ञानी नहीं मानते।

# सूत्र ८

**अहं कर्त्तेत्यहंमान महाकृष्णाहि दंशितः।**
**नाहं कर्त्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव ।।**

*अनुवाद :— "मैं कर्त्ता हूँ—ऐसे अहंकाररूपी विशाल काले सर्प से दंशित हुआ तू, 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ' ऐसे विश्वासरूपी अमृत को पीकर सुखी हो।"*

*व्याख्या :—* इस सूत्र में अष्टावक्र अहंकार को ही दुःखों का कारण मानते हुए कहते हैं कि 'तू इस अहंकाररूपी विशाल काले सर्प से दंशित हुआ है इसलिए अपने को कर्त्ता मानता है। यह 'मैं हूँ' की भावना ही तुझे उस ब्रह्म अथवा चेतना से अलग करती है। जब तक तेरे में अहंकार है, तू अपने को उस आत्मा से भिन्न मानता रहेगा। यही भिन्नता सभी दुःखों का कारण है। इसलिए तू 'मैं भिन्न हूँ' 'मैं कर्त्ता हूँ' इस अहंकार को छोड़कर 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ, कर्त्ता वही ईश्वर है', मैं निमित्त मात्र हूँ, उपकरण हूँ, ऐसे विश्वासरूपी अमृत को पीकर सुखी हो। इस सूत्र में 'अहंकार' को समझना आवश्यक है। समस्त सृष्टि की उत्पत्ति एक ही ब्रह्म से हुई है। एक ही चेतना विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुई है। शरीरगत चेतना 'आत्मा' तथा समष्टिगत चेतना ही 'ब्रह्म' है। आरंभ में इस ब्रह्म में कामना का स्फुरण हुआ 'एकोऽहं बहुस्याम' (मैं एक हूँ,

अनेक हो जाऊँ) इसी स्फुरणा से सुप्त शक्ति का जागरण हुआ। वह शक्ति आगे विभिन्न रूपों का निर्माण करती रही। इन विभिन्न रूपों में व्याप्त चेतना को उस परम चेतना से पृथकत्व का अनुभव हुआ जिससे 'मैं' भाव उत्पन्न हुआ। यह 'मैं' भाव ही स्व-चेतना के उस विराट चेतना से पृथकत्व का कारण बना। इसी अहंकार से स्व-चेतना उस विराट चेतना से भिन्न प्रतीत होने लगी। इस भिन्नता-प्रतीति का मूल कारण मनुष्य की बुद्धि है। यह बुद्धि ही इस भिन्नता की प्रतीति का कारण बन गई। बाइबिल की कथा है कि आदम ने शैतान के फुसलाये जाने पर बुद्धि का फल खाया जिससे उसे स्वर्ग से पृथ्वी पर गिरा दिया गया। यह अच्छी प्रतीक कथा है। शैतान है अहंकार। उसी ने बुद्धि का फल खाने को कहा जिससे मनुष्य स्वर्ग के बगीचे से अर्थात् ईश्वर के सानिध्य से अलग हो गया। अतः यह बुद्धि ही जीव को परमात्मा से अलग करती है। लेकिन बुद्धि को फुसलाया अहंकार ने। अतः यह अहंकार ही मूल पाप है, जिसके कहने से वह स्वर्ग के बगीचे (ईडन गार्डन) से नीचे गिरा दिया गया। समस्त सृष्टि के आरम्भ की प्रक्रिया इसी अहंकार से होती है। बाइबिल में शैतान को ईश्वर के समान ही शक्तिशाली माना है। दोनों की सत्ता को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया है। वहाँ भारतीय दर्शन इस शैतान को अहंकार कहता है किन्तु इसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता। इसकी उत्पत्ति अज्ञान से मानता है जिससे वह कहता है 'अज्ञान ही मूल पाप है।' अज्ञान से हुई यह प्रतीति आत्म-ज्ञान से ही मिट सकती है। जब आत्मा का बोध हो गया, उसका ज्ञान हो गया तो भ्रान्ति मिट जाती है एवं मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है। तभी वह शान्त एवं सुखी हो सकता है।

इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि 'मैं कर्त्ता हूँ' ऐसे अहंकाररूपी विशाल काले सर्प से दंशित हुआ तू 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ' ऐसे विश्वासरूपी अमृत को पीकर सुखी हो। यह 'मैं' अथवा अहंकार अनन्त भिखमंगा है। इसे चाहे कितना ही भरो यह खाली ही रहता है। सिकन्दर जैसा विश्व विजेता भी कहता है 'मैं खाली हाथ जा रहा हूँ।' इस दुनियाँ का सारा खेल अहंकार का ही है। वह अपने

को कुछ दिखाना चाहता है। मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत कम हैं जिन्हें आसानी से पूरा किया जा सकता है किन्तु उसके अधिकांश कार्य अहंकार-तृप्ति के लिए ही होते हैं। यह अहंकार कठिन एवं असाध्य कार्य करने में रुचि लेता है जैसे सिर के बल चलना, एक टाँग पर खड़ा रहना, तप करना, नग्न रहना, लम्बे उपवास करना, एवरेस्ट पर चढ़ना, लम्बी समाधि लगाना, हठयोग करना आदि। यह आदमी का अहंकार ही है कि वह अपने को सभी पशुओं से श्रेष्ठ समझता है। इस अहंकार ने ही पृथ्वी को समस्त ब्रह्माण्ड का केन्द्र माना, अपने को देवताओं की संतान माना, हमारा देश महान्, हमारा धर्म महान्, हमारी जाति महान् है, मैं महान्, आदि सब अहंकार की ही घोषणाएँ हैं। यह अहंकार एक रोग है जो जीवन में सिखाया जा रहा है, ये शिक्षण-संस्थाएँ, समाज सभी सिखा रहे हैं। अहंकार के अतिरिक्त जीवन में और कोई बोझ नहीं, कोई तनाव नहीं है, न कोई बन्धन है। अहंकार हमेशा चाहता ही है, देता नहीं है। देने वाला निरहंकारी हो जाता है। यह चाह ही दुःख का कारण है। जितना चाहोगे जीवन में उतना ही दुःख होगा। यह सुखी होने का मार्ग नहीं है। ईश्वर ने अपना बहुमूल्य मनुष्य को दे दिया किन्तु मनुष्य उससे सन्तुष्ट नहीं है। इसका एकमात्र इलाज धर्म है। जिस दिन अहंकार गिर गया, उस दिन यह कर्त्तापन भी गिर जायगा व उसी क्षण मनुष्य ईश्वर की समीपता का अनुभव करने लगेगा। अहंकार साहस व शौर्य दिखा सकता है, तपस्या कर सकता है, भूखे रह सकता है, एवरेस्ट पर चढ़ सकता है। राजनेता बन सकता है, किन्तु वह समर्पित नहीं हो सकता, भक्त नहीं बन सकता। ऐसा व्यक्ति यदि कर्मयोगी बन जाये तो अहंकार गिर सकता है। इस अहंकार की भी संसार के लिए तो उपयोगिता है किन्तु अध्यात्म से वह गिर जाता है। उसका नैतिक पतन हो जाता है। वह स्वार्थी बनकर चोरी, हत्याएँ, शोषण, हिंसा सब कर सकता है। ऐसे अहंकारियों ने अपनी अलग ही दुनियाँ बसा ली है जो इस अध्यात्म की दुनियाँ से सर्वथा भिन्न है। इसी कारण बाइबल में शैतान को ईश्वर के समान ही शक्तिशाली माना गया है व भारत में इसी शैतान (अहंकार) को मूल पाप माना है। अन्य समस्त प्रकार के पाप अनैतिकता आदि

इसी की सन्तानें हैं। अहंकार बड़े परिवार वाला है व इसका संयुक्त परिवार है। यदि अहंकार है तो नरक जाने के लिए और किसी पाप की आवश्यकता नहीं है। सब पाप अपने आप होते चले जायेंगे। करना नहीं पड़ेगा। इसलिए अष्टावक्र ने इस अहंकार को विशाल काला सर्प कहा है। यह छोटा-मोटा भी नहीं है, विशाल है और साधारण भी नहीं है, काला सर्प है। साथ ही अष्टावक्र केवल इस बीमारी का निदान ही नहीं करते बल्कि इलाज भी बताते हैं कि इस अहंकार को गिराने का मात्र उपाय यह है कि मनुष्य 'मैं' से मुक्त हो जाय, 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ, यह सृष्टि अपने विशिष्ट नियमों से चल रही है, परमात्मा ही एकमात्र कर्त्ता है' ऐसा विश्वासपूर्वक मान लेना ही अहंकारमुक्ति के लिये पर्याप्त है। इसी से मनुष्य सुखी हो सकता है। अहंकारी व्यक्ति को सुखी करना मुश्किल है एवं निरहंकारी को दुःखी नहीं किया जा सकता। अष्टावक्र इसके लिए कोई विधि, साधना, तपस्या भी नहीं बताते। वे कहते हैं- देखो इस तरह, दृष्टिमात्र बदलो, पूर्ण विश्वास एवं निष्ठापूर्वक, तो निश्चित ही परिवर्तन आ जायेगा। बोधमात्र पर्याप्त है। यह गलत दृष्टि ही तुम्हारे दुःखों का कारण है। गलत दृष्टि यह कि तुम अपने को उस एक अस्तित्व के साथ नहीं मानते, अपनी ढपली अलग ही बजाये जा रहे हो, सह-अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते कि तुम समग्र के ही एक हिस्से हो, अलग नहीं हो। न जन्म पर तुम्हारा अधिकार है, न मृत्यु पर। बीच में व्यर्थ ही कर्त्ता बने बैठे हो। अष्टावक्र ने इस सूत्र में जो सारगर्भित था वह कह दिया। कोई विश्वासपूर्वक इसे अमृत के समान पी जाय तो सुखी हो सकता है।

# सूत्र ९

## एको विशुद्ध बोधव्योऽहमिति निश्चयवह्निना।
## प्रज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखी भव॥

*अनुवाद :— " 'मैं एक विशुद्ध बोध हूँ' ऐसी निश्चयरूपी अग्नि से गहन अज्ञान को जलाकर तू शोकरहित हुआ सुखी हो। "*

**व्याख्या :— अष्टावक्र केवल निषेध की बात ही नहीं करते कि अहंकार छोड़ दो तो ज्ञान होगा। केवल छोड़ना ही प्राप्त करने की आवश्यक शर्त नहीं है। निषेध वाले धर्म केवल छोड़ने की बात करते हैं, त्याग की बातें करते हैं, सब छोड़ दो। घर-बार, पत्नी, बच्चे, कपड़े सब छोड़ दो, जंगल चले जाओ, भूखे रहो, भीख माँग कर खाओ आदि। इस छोड़ने की शिक्षा ने दुनिया का बहुत अहित किया है। छोड़ सब दिया किन्तु मिला कुछ नहीं। ऐसे व्यक्ति की स्थिति बड़ी दयनीय हो गई। वह मार्ग से ही भटक गया। धोबी का गधा बन गया, न घर का, न घाट का। किन्तु अष्टावक्र विधायक हैं। वे कहते हैं- अहंकारमात्र छोड़ देने से, कर्त्तापन छोड़ देने से वह परम मिल ही जाय यह आवश्यक नहीं है। फिर छूटने की भ्रान्ति भी हो सकती है किन्तु वह सूक्ष्म तल पर विद्यमान रहता है। यह मान लेने से कि अन्धकार नहीं है अन्धकार विलुप्त नहीं हो जाता। दीप जलाने से ही दूर होगा। अष्टावक्र इसलिए विश्वास दिलाते हुए कहते हैं कि आत्म-ज्ञान के लिए तू यह निश्चयपूर्वक मान ले कि 'मैं विशुद्ध बोधस्वरूप आत्मा हूँ।' तो तेरा अज्ञानरूपी अन्धकार चाहे कितना ही घना क्यों न हो एक क्षण में विलीन हो जायेगा। अज्ञान का अस्तित्व नहीं है। वह ज्ञान का अभावमात्र है। जब तक ज्ञान नहीं है, अज्ञान रहेगा। किन्तु ज्ञान का उदय होते ही वह लुप्त हो जाता है। इस ज्ञान प्राप्ति के बाद ही मनुष्य शोकरहित होकर सुखी हो सकता है। अज्ञान के रहते वह कभी शोकरहित नहीं हो सकता। अज्ञान के कारण मनुष्य की अनेकों अपेक्षाएँ होती हैं। जब अपेक्षाएँ पूरी नहीं होतीं तो वह दुःखी होता है। अपेक्षारहित जीना भी एक कला है। जो मिला है वह अमूल्य है, इसी में सन्तोष करके**

जीना, कृतज्ञ भाव से जीना ही परम सुख है। जितनी अपेक्षाएँ बढ़ती हैं दुःख उससे कई गुना बढ़ जाता है। जीवन में ऐसा कभी किसी के साथ नहीं हुआ कि उसकी सम्पूर्ण अपेक्षाएँ पूरी हो गईं हों। यह जानते हुए भी मनुष्य अपेक्षाएँ किये जा रहा है, वह दुःखी होता है। इसका कारण वह स्वयं ही है। कोई दूसरा नहीं है। यह अज्ञान ही है जो विशुद्ध बोध से ही नष्ट हो सकता है। समझ ही पर्याप्त है।

# सूत्र १०

**यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत्।**
**आनन्दपरमानन्दः स बोधस्त्वं सुखं चर ।।**

*अनुवाद :— "जहाँ यह विश्व रस्सी में सर्प के समान कल्पित भासता है वही आनन्द परमानन्द बोध है। अतः तू सुखपूर्वक विचर।"*

*व्याख्या :—* अष्टावक्र जी इस सूत्र में आत्मा एवं सृष्टि का सम्बन्ध बताते हुए कहते हैं कि आत्मा अरूप है, निराकार है। उसी निराकार का साकार रूप यह सृष्टि है। आकार बनते हैं व बिगड़ते हैं किन्तु मूल तत्व वही रहता है। स्वर्ण से विभिन्न आभूषण बनते हैं व उन्हें गला कर पुनः विभिन्न आभूषण बनाये जाते हैं किन्तु मूल तत्व स्वर्ण वही रहता है। जो बनते, बिगड़ते हैं वे अनित्य है शाश्वत नहीं है। शाश्वत वही चैतन्य आत्मतत्व है। अध्यात्म में इसी अनित्य को भ्रम कहा है। यह आज दिखाई देता है, कल नहीं रहेगा। इसलिये इसका सहारा लेना ही भ्रान्ति है, मूर्खतापूर्ण है। फिर अष्टावक्र कहते हैं कि सृष्टि, रस्सी में जिस प्रकार कल्पित सर्प भासता है वैसे ही यह सर्प के समान दिखाई देती है किन्तु है यह रस्सी जैसी। केवल तुम्हारी मनोदृष्टि से ही यह सर्प के समान दिखाई दे रही है। जैसी है उसका ज्ञान तुम्हें नहीं है। मनुष्य के मन में जैसे भाव होते हैं यह संसार उसे वैसा ही दिखाई देता है। किन्तु संसार उससे भिन्न होता है। मन में भूत का भय रहने पर जंगल में क्या घर में ही भूत दिखाई देगा, स्वप्न में भी भूत आकर छाती पर बैठ जायेगा।

किसी को चाँदनी प्यारी लगती है तो बिरही को वह आग जैसी ज्ञात होती है। सुखी आदमी को अपना घर अच्छा लगता है तो दुःखी को वही खाने को दौड़ता है। किसी को रस्सी साँप दिखाई देती है तो तुलसीदास जी को साँप भी रस्सी दिखाई दिया। किसी के लिये यह संसार फूलों की बगिया है तो किसी के लिए यह काँटों का वन है जिसमें उलझ-उलझ कर लोग मर रहे हैं। कुछ कहते हैं ईश्वर ने सृष्टि बनाई। यह बहुत सुन्दर है। पर्वत, नदी, झरने, मैदान, वन, समुद्र, बादल, इन्द्रधनुष, सूर्य, चाँद बड़े सुन्दर हैं तो कुछ को इसमें दुःख ही दुःख दिखाई दिया। यह सब मनुष्य की दृष्टि है, उसके देखने का ढंग है, उसकी जैसी मानसिक स्थिति होती है वैसी ही सृष्टि दिखाई देती है। यह दोष सृष्टि का नहीं देखने वाले की दृष्टि का है। इसी प्रकार ज्ञानी व अज्ञानी की भी अपनी-अपनी दृष्टि है। अज्ञानी को यह सृष्टि सत्य दिखाई देती है। यह इसे शाश्वत भी मानता है कि यह सृष्टि अनादि है। इसको बनाने वाला कोई नहीं है। यह सृष्टि ही सत्य है। इससे परे कोई सत्य नहीं है। जो प्रत्यक्ष है, दिखाई दे रही है, वह असत्य या मिथ्या कैसे कही जा सकती है। परमात्मा जो दिखाई नहीं देता वह असत्य या मिथ्या हो सकता है किन्तु सृष्टि कभी मिथ्या नहीं हो सकती। यह नित्य है, शाश्वत है, सत्य है। बुद्ध ने इस सत्य एवं मिथ्या का अच्छा विवेचन किया है कि यह सृष्टि भ्रान्ति नहीं है, मिथ्या भी नहीं है, सत्य भी है किन्तु शाश्वत नहीं है। इसलिए यह क्षणिक सत्य है। थोड़े समय के लिए सत्य है। पूर्ण सत्य उसी को कहा है जो शाश्वत है। जो शाश्वत नहीं है वह सत्य नहीं हो सकता। अष्टावक्र की दृष्टि अनूठी है। वे इन सब विवादों से ऊपर मर्म की बात कह रहे हैं। सभी अद्वैतवादी ऐसा ही रस्सी में साँप का, सीपीं में चाँदी का, मृग मरीचिका का, गहनों में सोने का व घड़े में मिट्टी का उदाहरण देते हैं। अष्टावक्र भी कहते हैं कि 'यह विश्व रस्सी में सर्प की भाँति कल्पित भासता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि संसार नहीं है, या संसार कल्पनामात्र है बल्कि इसका अर्थ है संसार तो है, सृष्टि है, ये वन, पर्वत, नदियाँ, झरनें सभी हैं, ये जीव-जन्तु, वनस्पति आदि सभी हैं किन्तु इससे सुख की आशा करना मृग मरीचिका के समान है जो कभी मिल नहीं सकता। यदि

संसार में सुख मिलता तो आज की दुनियाँ भौतिक दृष्टि से बड़ी सम्पन्न है। आज कृषि, विज्ञान, यातायात, दूरदर्शन, दूर-श्रवण आदि में अभूतपूर्व प्रगति की है, आज मनुष्य चाँद पर जा पहुँचा, सूर्य, चाँद, सितारों से आगे की जानकारी ले आया, बुद्धि का चरम विकास कर लिया। जैसा लाखों वर्षों में नहीं हुआ वैसा इन चार सौ वर्षों में कर दिखाया। आज सामान्य मनुष्य को भी घर में जितनी भौतिक सुविधाएँ प्राप्त हैं उतनी पाँच सौ वर्षों पहले बड़े से बड़े सम्पन्न व्यक्ति को भी प्राप्त नहीं थीं। फिर क्या कारण है कि मनुष्य दुःखी है। वास्तविकता यह है कि मनुष्य की जितनी सुविधाएँ बढ़ी हैं उतना ही वह अधिक दुःखी हुआ है। आज जितनी चिकित्सा-सुविधाएँ बढ़ी हैं उतनी ही बीमारियाँ भी बढ़ गईं, जितने न्यायालय बढ़े उतने ही जुर्म बढ़ गये, जितनी भौतिक सुविधाएँ बढ़ीं उतना ही मनुष्य का नैतिक पतन अधिक हुआ, जितना ज्ञान बढ़ा उतना ही अज्ञान भी बढ़ गया, जितने साधु, संत, मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे बढ़े उतना ही अधर्म भी बढ़ गया, जितना कृषि का व उद्योगों का विकास हुआ उतनी ही भुखमरी व बेकारी भी बढ़ गई, जितना अच्छाई लाने का प्रयत्न किया गया उतनी ही बुराई अपने आप बढ़ती गई। एक विपरीत समानान्तर व्यवस्था अपने आप बन गई। क्या कारण है इसका? इसका उत्तर किसी के पास नहीं है। केवल अध्यात्म ही इसका उत्तर देता है कि इस सृष्टि में, इस संसार में, इन भोगों में सुख ढूँढना मूर्खता है। यह मृग मरीचिका है। कभी मिल नहीं सकता। क्योंकि बाह्य वस्तुओं में सुख है ही नहीं। मिलेगा कहाँ से? वह सुख का सागर, वह आनन्द का सागर तो तुम्हारे भीतर ही बह रहा है जिसे प्राप्त किये बिना सुख नहीं मिल सकता, आनन्द नहीं मिल सकता। उसे पा लो तो तुम धन्य हो जाओगे। स्वामी रामतीर्थ ने कहा है— 'टू सीक प्लेजर इन वर्ल्डली ओब्जक्ट्स इन वेन, द होम ऑफ ब्लिश इज विदिन यू।' (सांसारिक विषयों में आनन्द ढूँढना व्यर्थ है। इस आनन्द का निवास तुम्हारे भीतर है) अष्टावक्र इसी सत्य को प्रगट करते हुए कहते हैं कि यह संसार रज्जु के समान है, निर्जीव है, प्रकृतिमात्र है, भौतिक है। यह तुमको न सुख देता है, न दुःख। निरपेक्ष है। यह तुम्हारे ऊपर है कि तुम इसका कैसा उपयोग करते हो। यह सर्पवत् नहीं है। तुम्हें इससे

डरने की आवश्यकता नहीं है। विवेक से इसका उपयोग करना है किन्तु तुम इसमें सर्प की कल्पना करते भागे जा रहे हो, पसीना-पसीना हो रहे हो, सर्पवत् देखकर तुम्हारे हृदय की धड़कन बढ़ रही है। यह सब तुम्हारी भ्रान्ति के कारण है कि तुमने रस्सी को सर्प समझ लिया। तुम्हारी यह भ्रान्ति अज्ञान के कारण पैदा हुई है। अज्ञान अन्धकार के कारण तुम इसके वास्तविक स्वरूप को नहीं देख पाये इसलिए यह भ्रान्ति हुई है। अतः तुम ज्ञान-चक्षुओं से जब तक इसका वास्तविक स्वरूप नहीं देख लोगे तब तक भ्रान्ति मिटेगी नहीं। तुम ज्ञान-प्रकाश से उसे देखना तो चाहते नहीं व हनुमान चालीसा का पाठ करते हुए भागे जा रहे हो इससे तुम्हारी भ्रान्ति मिटेगी नहीं। वह तुम्हारी मानसिक दशा है। यदि भाग भी गये तो वही सर्प स्वप्न में तुम्हारी छाती पर चढ़ बैठेगा। अतः इस मानसिक बीमारी का इलाज केवल प्रत्यक्ष दर्शन है कि तुम वास्तविकता जान लो, अपनी आँखों देख लो। अन्य विधि काम नहीं आयेगी। यही इस सूत्र का सार है।

साथ ही अष्टावक्र जनक को कहते हैं कि यह संसार सत् है या असत्, अच्छा है या बुरा, रस्सी है या सर्प इससे कोई प्रयोजन नहीं। तू संसार नहीं है, न तू संसारी है। तेरे लिए भय का कोई कारण नहीं है। तू आत्मा है, जो आत्मा परमानन्द का भी आनन्द है फिर तेरे में दुःख, भय आदि कैसे व्याप्त हो सकता है। तू ज्ञानी ही नहीं है, स्वयं ज्ञान है, बोध है। इसलिए तू सुखपूर्वक विचर। इस आत्म-ज्ञान से तेरे सारे संशय, भ्रम दूर हो जायेंगे। संसार के प्रति जो तेरी दृष्टि है वह बदल जायेगी। जिस प्रकार स्वप्न में किसी को देखकर भय लगता है किन्तु स्वप्न टूटने पर भय दूर हो जाता है उसी प्रकार अज्ञानी ही संसार से भयभीत होता है। ज्ञान होने पर वह इस काल्पनिक भय से मुक्त हो जाता है।

## सूत्र ११

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किंवदन्तीह सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत्।।

*अनुवाद :— "मुक्ति का अभिमानी मुक्त है, और बद्ध का अभिमानी बद्ध है। यहाँ यह किंवदन्ती सत्य है कि जैसी मति होती है वैसी ही गति होती है। "*

**व्याख्या :— इस सूत्र में अष्टावक्र कहते हैं कि 'जैसी मति होती है वैसी ही गति होती है' यह अध्यात्म का एक सूत्र है। एक सूत्र और है कि 'अन्त मति सो गति' अन्त यानी मृत्यु के समय जैसी मति होती है वैसी गति होती है। इस मत की पुष्टि के लिए कई कथाएँ हैं। कृष्ण ने गीता में कहा है कि "अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परम पद को प्राप्त होता है। जनकादि ज्ञानी जन भी आसक्तिरहित कर्म द्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। " (गीता ३/१९-२०) गीता में यह भी कहा है— "योगः कर्मसु कौशलम्' (योग ही कर्म में कुशलता है) (गीता २/५०) जो योग में स्थित होकर अर्थात् स्थितप्रज्ञ होकर कर्म करता है वह भी मुक्ति का अधिकारी है। अध्यात्म में ऐसे अनेकों उदाहरण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि कर्म बन्धन नहीं है, उसके प्रति जो आसक्ति है, जो राग है वही बन्धन है। बन्धन के भय से कर्म छोड़ देना भी पाप है एवं आसक्ति त्याग कर कर्म करना भी मुक्ति का साधन है। अतः पाप पुण्य कर्म में नहीं आसक्ति में है। निष्काम कर्म बन्धन नहीं बनता। इस कर्म के सम्बन्ध में बड़ी भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं कि कर्म बन्धन का कारण है। किन्तु वे कर्म बन्धन बनते हैं जो आसक्ति, राग-द्वेष, ईर्ष्या, बदला लेने की भावना आदि से किये जाते हैं। कर्म का कारण शरीर नहीं मन है। पहले विचार आते हैं तब कर्म होता है। मृत्यु के बाद शरीर तो छूट जाता है किन्तु मन साथ जाता है। मन के साथ विचार, वासनाएँ, आकांक्षाएँ, इच्छाएँ, अपेक्षाएँ आदि हैं। उपनिषद् कहते हैं 'मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण है।' मन में जैसी भावना होती है वैसी ही मनुष्य की गति होती है। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।' (जिसकी जैसी भावना होती है उसको वैसी हीं सिद्धि मिलती है) पाप पुण्य का फल न कर्म में होता है, न उस के फल में। वह कर्त्ता की भावना में होता है।**

**इसी तथ्य को अष्टावक्र कहते हैं कि 'मैं मुक्त हूँ' ऐसा जो मानता है वह मुक्त है तथा अपने को जो बद्ध मानता है वह बद्ध है। केवल**

दृढ़ निश्चय के साथ मानना ही पर्याप्त है। मुक्ति कृत्य का परिणाम नहीं है, ज्ञान का फल है। आत्म-ज्ञानी भी यदि अपने को बद्ध मानता है तो वह भी मुक्त नहीं है, वासनाग्रस्त है। वासनाएँ उसे फिर खींच लेंगी। आत्म-ज्ञान के बाद भी उसे मुक्ति की भावना करना आवश्यक है। ये सभी कर्म बन्धन अज्ञानी के लिए हैं। अज्ञानी यदि यह मान भी ले कि 'मैं मुक्त हूँ' तो भी वह मुक्त नहीं हो सकता। ऐसा मानना पाखंडमात्र ही है। यहाँ यह भेद समझ लेना आवश्यक है कि यह सूत्र आत्म-ज्ञानी के लिए सत्य है, अज्ञानी के लिए नहीं कहा गया है।

## सूत्र १२

**आत्मा साक्षी विभुः पूर्ण एको मुक्तश्चिदक्रियः।**
**असङ्गो निस्पृहः शान्तो भ्रमात्संसारवानिव ।।**

*अनुवाद :— "आत्मा साक्षी है, व्यापक है, पूर्ण है, एक है, मुक्त है, चैतन्यस्वरूप है, क्रियारहित है, असंग है, निस्पृह (इच्छारहित) है, शान्त है। यह भ्रम से संसारी जैसा (बन्धनग्रस्त) भासता है।"*

*व्याख्या :—* इस सूत्र में अष्टावक्र जनक से कहते हैं कि तुम आत्मा ही हो। आत्मा तुम्हें प्राप्त नहीं करनी है। वह तुम्हें प्राप्त है, ऐसा भी नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से तुम्हारे व आत्मा में भिन्नता की प्रतीति होती है। यह भिन्नता है ही नहीं। तुम स्वयं आत्मा हो। केवल अज्ञान के कारण तुम उसे भूल गये हो। उसे ज्ञान द्वारा, बोध द्वारा, जागकर देखना मात्र है, पुनः स्मृति में लाना मात्र है और कुछ करना नहीं है। वे आत्मा का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि यह आत्मा साक्षी है, सबका दृष्टा है। यह सबको देखता है किन्तु इसे देखने वाला कोई नहीं है, यह तुम्हारा होना है। यह व्यापक है, इसे सीमित नहीं किया जा सकता, संकीर्ण दायरे में बन्द नहीं किया जा सकता, किसी मान्यता या परिभाषा में कैद नहीं किया जा सकता। यह पूर्ण है। ब्रह्म भी पूर्ण है। पूर्ण में से पूर्ण ही निकलता है। अतः

आत्मा भी ब्रह्म जैसी पूर्ण है, उसमें कोई कमी नहीं है, अपूर्णता नहीं है। माता बच्चे को जन्म देती है तो बच्चा भी पूर्ण ही होता है किन्तु माता की पूर्णता में कोई कमी नहीं आती। दस-दस बच्चे पैदा करके भी माता पूर्ण ही बनी रहती है। ऐसा ही ब्रह्म व आत्मा है। इसी प्रकार ज्ञान, प्रेम, दया, करुणा आदि को बाँटने से वह कभी कम नहीं होती। ब्रह्म एवं आत्मा ऐसा ही है। ईशावास्य उपनिषद् कहता है, "वह पूर्ण है और यह भी पूर्ण है, क्योंकि पूर्ण से पूर्ण की ही उत्पत्ति होती है तथा पूर्ण का पूर्णत्व लेकर पूर्ण ही बच रहता है।" बीज पूर्ण है इसलिए उससे पूर्ण वृक्ष बनता है, यह जगत् उस पूर्ण की ही अभिव्यक्ति होने से पूर्ण ही है। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि यह आत्मा पूर्ण है, एक है। जब ब्रह्म एक है तो आत्मा भी एक ही है। भिन्नता नहीं है। सभी जीवों में भिन्न-भिन्न आत्मा नहीं है, आत्माएँ अनेक भी नहीं हैं। जिस प्रकार आकाश सर्वत्र व्याप्त है, भीतर और बाहर सभी जगह। खुले आकाश, घड़े के भीतर के आकाश व शरीर के भीतर के आकाश में भिन्नता नहीं है उसी प्रकार आत्मा में भी भिन्नता नहीं है। भिन्नता अज्ञान और भ्रम से प्रतीत होती है। जिसे आत्मा का ज्ञान नहीं, ब्रह्म का ज्ञान नहीं, वे ही भिन्न-भिन्न जीवों में स्थित आत्मा को भिन्न-भिन्न मान लेते हैं किन्तु वह भिन्न-भिन्न है नहीं। फिर यह आत्मा मुक्त है। आत्मा का कोई बन्धन नहीं है। बन्धन शरीर व मनोगत है। जब इनसे सम्बन्ध छूट जाता है तब यह प्रतीति होती है कि आत्मा मुक्त है। इसके पूर्व शरीर व मन के कारण ही आत्मा के भी बन्धन की भ्रान्ति होती है। यह भ्रान्ति ज्ञान या बोध से ही मिटती है। यह आत्मा चैतन्य है। यह सृष्टि इसी चैतन्य की अभिव्यक्ति है, इसी का फैलाव है। यही चैतन्य विभिन्न रूपों में दिखाई देता है। यह आत्मा क्रिया-रहित है। यह स्वयं कर्त्ता नहीं है, क्रिया इसका धर्म नहीं है, यह अक्रिय है। इसकी उपस्थिति से ही सब हो रहा है, इसे स्वयं कुछ नहीं करना पड़ता है। जिस प्रकार सूर्य की उपस्थिति मात्र से सृष्टि की समस्त क्रियाएँ होती हैं उसी प्रकार आत्मा की उपस्थिति से ही सब हो जाता है। यह क्रिया उसकी शक्ति का खेल है। यह आत्मा असंग भी है। इसका कोई संगी-साथी, बेटे, पोते, परिवार, मित्र आदि नहीं

हैं। यह अकेली है। यह न किसी से प्रेम करती है, न द्वेष। यह स्वर्ग में अपना साम्राज्य स्थापित करके भी नहीं बैठती, न कोई इसके राजदरबारी हैं, न फरिश्ते, न इसका कोई न्यायालय है। यह अकेले ही सर्वगुण सम्पन्न है। यह आत्मा निस्पृहः भी है, बिना इच्छा वाली है। इसकी कोई आकांक्षाएँ, इच्छाएँ, अपेक्षाएँ नहीं हैं। न यह प्रसन्न होकर पुरस्कार देती है, न क्रोधित होकर दण्ड। यह शान्त है, गम्भीर है। इसमें कोई हलचल होती ही नहीं, इसमें कोई तरंग उठती ही नहीं। यह उद्वेलित होती ही नहीं। ऐसा है इस आत्मा का स्वरूप व स्वभाव। किन्तु भ्रम के कारण यह संसारी जैसा भासता है, संसारी जैसा दिखाई देता है। यह संसार उसकी अभिव्यक्ति है, शक्ति का प्रदर्शन है उसी का खेल है। आत्मा इन सांसारिक कार्यों में लिप्त नहीं है। वह निर्लिप्त है। उसकी उपस्थिति में सब हो रहा है। वह साक्षीमात्र है, दृष्टा है। किन्तु अज्ञानी को भ्रमवश ऐसा दिखाई देता है कि आत्मा ही सब कुछ कर रहा है, परमात्मा ही सब कुछ कर रहा है। सब उसकी मर्जी से हो रहा है, उसका आदेश होगा तभी कुछ होगा आदि, अनेक भ्रान्त धारणाओं से यह आत्मा संसारी जैसी दिखाई देती है। जैसा संसार बन्धन में है वैसे आत्मा भी बन्धन में है, वह जन्म भी लेती है, उसकी मृत्यु भी होती है, उसे मुक्त भी करना पड़ता है, आदि अज्ञान एवं भ्रम से दिखाई देता है।

## सूत्र १३

**कूटस्थं बोधमद्वैतमात्मानं परिभावयः।**
**आभासोऽहं भ्रमं मुक्त्वा भावं बाह्यमथान्तरम् ।।**

*अनुवाद :— " 'मैं आभासरूप (अहंकारी जीव) हूँ' ऐसे भ्रम को एवं बाहर-भीतर के भाव को छोड़कर तू कूटस्थ (अचल स्थिर) बोधरूप एवं अद्वैत, आत्मा का विचार कर। "*

*व्याख्या :—* आगे अष्टावक्र जनक से कहते हैं कि यह अहंकार सत्य नहीं है। यह आभासरूप है। इस आभासरूप अहंकार के कारण ही अपने को जीव समझता है एवं अपने को इसी भ्रम के

कारण आत्मा से भिन्न समझता है। अतः तू इस भ्रम को छोड़ दे तथा साथ ही इस बाहर-भीतर के भाव को भी छोड़ दे कि आत्मा अर्थात् परमात्मा बाहर कहीं दूर आसमान में है या तेरे ही भीतर है। यह बाहर-भीतर का भेद मन का ही है। आत्मा सर्वत्र है। बाहर भी है व भीतर भी। तू केवल इस कूटस्थ (स्थिर, अचल), बोधस्वरूप, अद्वैत आत्मा का विचार कर। अष्टावक्र जनक की भ्रान्ति मिटाने हेतु कहते हैं कि ये तुम्हें जो विचार मिले हैं ये सब उधार हैं, दूसरों के हैं, तुम्हारे नहीं हैं। दूसरों के कहने पर झूठी मान्यता तुमने बना ली है कि मैं जीव हूँ, आत्मा मुझसे भिन्न है। कोई आत्मा को बाहर सृष्टि में कहता है, कोई आकाश में, कोई स्वयं के भीतर आदि। इन झूठी मान्यताओं से सब दुःखी हो रहे हैं। उनके साथ तुम भी दुःखी हो रहे हो। इन उधार ली हुई मान्यताओं को छोड़कर स्वयं जागकर देख लो तो यह सारा भ्रम मिट जायेगा कि मैं कौन हूँ व आत्मा कहाँ है? केवल जागना मात्र है, नींद को खोलना मात्र है, ज्ञान-दीपक को जलाना मात्र है और कुछ करना नहीं है। अष्टावक्र ने जो बाहर-भीतर की बात कही है वह थोड़ी समझने की है। मनुष्य के बाहर एक जगत् है, यह सम्पूर्ण सृष्टि है जिसे कर्म जगत् कहते हैं। मनुष्य का भी एक व्यक्तित्व है बहिर्मुखी। वह हमेशा बाहर की ओर इस संसार को देखता है। वह स्वयं के भीतर नहीं जा सकता। उसका ध्यान में जाना कठिन है। ऐसा व्यक्ति कर्मयोग के द्वारा आत्मा को उपलब्ध हो सकता है। अन्य विधि उसके लिए काम नहीं करेगी। कर्म योग का अर्थ है निष्काम कर्म, आसक्ति का त्याग करके ईश्वर का कार्य समझ कर कार्य करना। यह है बाहर का भाव। मनुष्य के भीतर तीन जगत् और हैं। एक है विचारों का जगत्, इसके भीतर है भाव जगत् व तीसरा आत्म जगत् अथवा साक्षी जगत् है। बुद्धिजीवी विचारों में जीता है। वह विचारों के साथ ध्यान का प्रयोग करके उस चैतन्य आत्मा तक पहुँच सकता है। उसे कर्म मार्ग में ले जाना कठिन होता है। वह बुद्धिजीवी होने से तार्किक होगा अतः उसे चिन्तन और विचार के साथ ध्यान द्वारा आत्म-ज्ञान कराया जा सकता है इसे 'ज्ञानमार्ग' कहते हैं तथा उस व्यक्ति को 'ज्ञान-योगी' कहते हैं। तीसरा जगत् भाव जगत् है। यह भक्ति और प्रेम का जगत् है। जिस व्यक्ति में भावुकता अधिक है

उसके लिए भक्ति का मार्ग है। उस व्यक्ति को 'भक्त' कहते हैं। भावना प्रधान व्यक्ति के लिए ज्ञान व कर्म मार्ग नहीं है। ये ज्ञान, कर्म व भक्ति तीन मार्ग हैं जो भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तियों के लिए हैं। चौथा जगत् है आत्म-जगत् या साक्षी जगत्। यह केन्द्र पर है। इसी के आधार पर सारा भवन खड़ा है। सारा सृष्टिचक्र इसी धुरी पर घूम रहा है। यही लक्ष्य है। ज्ञान, कर्म व भक्ति मार्ग हैं। तीनों के साथ ध्यान जोड़ने पर इसी लक्ष्य को प्राप्त होते हैं। कृष्ण का कर्मयोग, कपिल का सांख्ययोग एवं नारद का भक्तियोग तीन मुख्य मार्ग हैं। इनमें अष्टावक्र का मार्ग अनूठा है। सीधा साक्षी पर जाना। वे कोई मार्ग ही नहीं बताते, कोई विधि ही नहीं देते, न कर्म, न ज्ञान, न भक्ति। सीधी साक्षी की बात कहते हैं। यही अन्तिम है। इस साक्षी भाव में सीधा जाने से समस्त भ्रम मिट जाते हैं। यह देह, मन, बुद्धि, अहंकार, जगत् सब भ्रमवत् ज्ञात होने लगते हैं जैसे थे ही नहीं। इनके प्रति जो ख्याल हैं सब मिट जाते हैं। सभी धारणाएँ टूट जाती हैं। जिस प्रकार कमरे में भूत दिखाई देता है किन्तु दीपक जलने पर वह नहीं दिखाई देता, गायब हो जाता है क्योंकि वहाँ भूत था ही नहीं, भ्रम था जो दूर हो गया। यदि भूत होता तो गायब नहीं होता ऐसा ही अहंकार का भ्रम है। इसे गिराने की अनेक विधि हैं। भक्ति है, ईश्वर की शरण में जाना, अपने को अकर्त्ता मानना, भिक्षान्न ग्रहण करना, अपने को तुच्छ समझना, नम्रता लाना, नमस्कार व साष्टांग दण्डवत् करना, चरणों में झुकना आदि अनेक विधियाँ अहंकार को मिटाने में काम लाई जाती हैं किन्तु अष्टावक्र किसी विधि का उपयोग नहीं करते। वे सीधे उस परम-शक्ति का बोध कराते हैं जिससे अहंकार अपने आप गिर जाता है। समस्त भ्रम मिट जाते हैं। धर्म कोई परम्परा नहीं है जिसे निभाना मात्र है तथा परम्पराएँ भी धर्म नहीं हैं। धर्म शाश्वत है, सनातन है। आदमी ने धर्म नहीं बनाया; धर्म के द्वारा आदमी बनाया गया है। धर्म आदमी से भी पूर्व था। धर्म नया, पुराना भी नहीं होता। अस्तित्व ही धर्म है। धर्म है मनुष्य की पूर्ण क्रान्ति, महाक्रान्ति। इससे मनुष्य पूर्णरूपेण बदल जाता है, वह सत्य को उपलब्ध नहीं होता स्वयं सत्य हो जाता है, ज्ञान हो जाता है। धार्मिक व्यक्ति पारंपरिक नहीं होता। वह परंपरा के अनुसार नहीं चलता।

वह नई परम्पराएँ बनाता है इसलिए इस परंपरा वाले जगत् में उसे पसंद नहीं किया जाता। यही कारण था कि जीसस को सूली दी गई, मंसूर के हाथ पाँव काटे गये, गाँधी पर गोली चलाई गई, सुकरात को जहर दिया गया, मीरा को जहर दिया गया आदि इस जड़ सृष्टि में चेतन्य का क्या उपयोग हो सकता है, अज्ञानियों की दुनियाँ में एक-आध ज्ञानी का कहाँ निर्वाह हो सकता है। जहाँ अज्ञानता वरदान हो वहाँ बुद्धिमान होना भी मूर्खता है। इसलिए ज्ञानियों को इस दुनियाँ ने पसन्द नहीं किया व उनकी हत्याएँ की गईं।

इस सूत्र में अष्टावक्र आत्मा को कूटस्थ (स्थिर, अचल) कहते हैं। यह आत्मा स्थिर है, अचल है। वह चलती नहीं, संसार चलता है। आत्मा केन्द्र है, धुरी है। संसार परिधि है। परिधि ही चलती है, केन्द्र या धुरी नहीं चलती है। धुरी के स्थिर रहने से ही संसार को गति मिलती है.। परिधि पर गति सर्वाधिक होगी व ज्यों-ज्यों केन्द्र के समीप जाते हैं गति कम होती जाती है। अधार्मिक की गति सर्वाधिक होगी, वह ज्यों-ज्यों धार्मिक होता जाता है गति कम होती जाती है। जितना राग, द्वेष, ईर्ष्या, लोभ, मोह, अहंकार अधिक होगा उतनी ही गति तीव्र हो जाती है। ज्ञान की ओर यात्रा करने वाला सबको छोड़ता जाता है जिससे गमि कम हो जाती है। भौतिक विकास का सूत्र गति है, क्रियाशीलता है। अध्यात्म का सूत्र विश्राम है, शान्ति है। अमेरिका, रूस आदि सर्वाधिक गतिशील राष्ट्र हैं। भारत अध्यात्मवादी होने से इसकी गति कम हो गई, भौतिक समृद्धि प्राप्त नहीं कर सका। केन्द्र और परिधि दोनों भिन्न दिशा मार्ग हैं। परिधि है विज्ञान, केन्द्र है ज्ञान। ज्ञान के बिना विज्ञान के भी अच्छे परिणाम नहीं आ सकते। विज्ञान शक्ति मात्र देता है, उपयोग का ज्ञान नहीं देता। जिसके विनाशकारी परिणाम होते हैं, भस्मासुर को दिये गये कड़े जैसा सिद्ध होता है। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि आत्मा स्थिर है, अचल है, किन्तु वही धुरी है जिसके आधार पर यह समस्त सृष्टि चक्र चलायमान है। यदि धुरी न हो तो परिधि किसके सहारे चलेगी। हर गतिशील पदार्थ का एक केन्द्र होता है जिससे उसको गति मिलती है। चक्रवात को भी गति केन्द्र से

मिलती है, पहिया धुरी से बंधकर ही चलता है, सौर मण्डल का केन्द्र सूर्य होता है, सूर्य का केन्द्र निहारिका, निहारिका का केन्द्र कोई मन्दाकिनी (गेलेक्षी) है। सृष्टि में बिना केन्द्र के कोई वस्तु नहीं चल सकती। जो कहते हैं कि केन्द्र कोई नहीं है, कोई आधार नहीं है, सब अपने निज स्वभाव से हो रहा है वे मूढ़ ही हैं। कबीर ने चलती चक्की यानि परिधि की बात कही तो उसके पुत्र कमाल ने केन्द्र की बात कही। परिधि को शक्ति केन्द्र से मिलती है। यह केन्द्र स्वयं नहीं चलता, केवल शक्ति देता है जिससे सृष्टि की समस्त क्रियाएँ संचालित होती हैं इस जड़ शरीर में जो गति है वह चेतन की ही है। यह केन्द्र-शक्ति ही नहीं ज्ञान भी है। ज्ञानविहीन शक्ति ही पैशाचिक वृत्ति है एवं ज्ञान-युक्त दैवी। शक्ति दोनों के पास है किन्तु भेद ज्ञान के कारण है। अष्टावक्र यही कह रहे हैं कि यह आत्मा कूटस्थ (स्थिर) है, जिसकी शक्ति से यह समस्त सृष्टि चल रही है, साथ ही बोधरूप भी हैं। फिर शक्ति व बोध भिन्न नहीं हैं। उसी आत्मा के हैं। दोनों को भिन्न मानना ही अज्ञान है। इस सूत्र में अष्टावक्र ने 'कूटस्थ', 'बोधस्वरूप' एवं 'अद्वैत' इन तीन शब्दों में समस्त सृष्टि की व्याख्या कर दी। यही गुरु की महिमा है।

## सूत्र १४

**देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक।**
**बोधोऽहं ज्ञानखड्गेन तन्निष्कृत्य सुखी भव।।**

*अनुवाद :— "हे पुत्र! तू बहुत काल से देहाभिमान के पाश से बँधा हुआ है। उसी पाश को 'मैं बोध हूँ' इस ज्ञान की तलवार से काट कर तू सुखी हो।"*

*व्याख्या :—* अष्टावक्र कहते हैं कि वह एक ही चैतन्य अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। शरीरस्थ आत्मा भी वही चैतन्य है। यह शरीर उसी का फैलाव मात्र है, जो यद्यपि भौतिक पदार्थों से बना प्रतीत होता है, पंचतत्व से बना प्रतीत होता है किन्तु इन पंच-तत्वों का निर्माण भी उसी चैतन्य से हुआ है, उसी आत्मा का विकास मात्र

है। शरीर दृश्य आत्मा है एवं आत्मा अदृश्य शरीर है। भिन्न नहीं है। किन्तु तेरी भ्रान्ति यही है कि तू अपने को केवल शरीर मात्र मानता है, आत्मा नहीं मानता। इस एकत्व भाव की विस्मृति से ही तू देहाभिमान के पाश में बँध गया है। तुझे किसी ने बाँधा नहीं है। स्वयं के भ्रम से ही बँधा है। यह शरीर और आत्मा के भिन्न होने की भ्रान्ति भी तुझे बहुत समय से है, अनेक जन्मों से है। इसलिए अनेक जन्मों से तू इस शरीर के अभिमान के कारण बन्धन में रहा है। इस बन्धन से मुक्त होने का एकमात्र उपाय बोध है क्योंकि ये बन्धन वास्तविक नहीं हैं। यदि वास्तविक होते तो इन्हें तोड़ने के लिए किसी क्रिया अथवा साधन की आवश्यकता होती किन्तु 'यह देह मेरी है' 'यह आत्मा से भिन्न है,' ऐसी धारणा भ्रममात्र है, कल्पना मात्र है अतः इस भ्रम को 'मैं शरीर नहीं हूँ, बोध मात्र हूँ' इस ज्ञान रूपी तलवार से काट कर मुक्त हो, सुखी हो। भ्रम का इलाज विश्वास से ही होता है। वहाँ एलोपेथी की दवा काम नहीं करती। भूत का इलाज भोपे ही कर सकते हैं, वहाँ बाबा जी की धूनी की राख ही काम देगी, डाक्टर का इन्जेक्सन काम नहीं करेगा। घर में भूत दिखाई देने का भ्रम दीपक जलाकर देखने से ही दूर होगा। रामकृष्ण को साकार काली के स्वरूप से मुक्त करा कर निराकार में प्रवेश कराने के लिए उनके गुरु तोतापुरी ने भी समाधि की स्थिति में झूठी तलवार का प्रयोग कराया था क्योंकि वह साकार भी भ्रम ही था। इसी प्रकार अष्टावक्र ज्ञानरूपी तलवार से ही इस अज्ञानरूपी देहाभिमान को नष्ट करने को कहते हैं। क्योंकि अज्ञान का विनाश ज्ञान से ही होता है। साधन काम नहीं आते।

## सूत्र १५

**निःसंगो निष्क्रियोऽसि त्वं स्वप्रकाशो निरञ्जनः।**
**अयमेव हि ते बन्धः समाधिमनुतिष्ठिसि ।।**

*अनुवाद :— "तू असंग है, क्रिया-रहित है, स्वयं प्रकाश है, और निरंजन (निर्दोष) है। तेरा बन्धन यही है कि तू (उसकी प्राप्ति के लिए) समाधि का अनुष्ठान करता है।"*

*व्याख्या :*— इस सूत्र में अष्टावक्र आत्म-ज्ञान हेतु समाधि के अनुष्ठान को भी बन्धन बताते हुए कहते हैं कि तू आत्मा ही है, शरीर, मन आदि नहीं है। आत्मा को तुझे उपलब्ध करना नहीं है, वह उपलब्ध ही है। तुझे आत्मा को प्राप्त नहीं करना है, वह प्राप्त ही है। उसे कहीं खोजना भी नहीं है, वह तो विद्यमान ही है। फिर इस समाधि का अनुष्ठान, समाधि का प्रयत्न किस लिए कर रहा है। प्रयत्न से सांसारिक वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। श्रुति कहती है- 'करने से अकृतरूप मोक्ष सिद्ध नहीं होता क्योंकि कर्म का जो फल होता है वह अनित्य होता है।' मोक्ष कर्म से पैदा नहीं होता, ज्ञान से भी नहीं होता। ज्ञान से भ्रान्ति निवृत्त होती है। अविद्या के बाद जो रह जाता है, वही तू है। अतः तू जहाँ है वहीं मुक्त है। यह अज्ञान तत्व-बोध द्वारा ही निवृत्त होता है। अष्टावक्र कहते हैं कि कोई भी क्रिया या भावना मुक्त नहीं कर सकती क्योंकि तू उसी से बँध जायेगा। यह आत्मा सर्वत्र विद्यमान है। उसकी अप्राप्ति का केवल भ्रम है। ब्रह्म की प्राप्ति अप्राप्य वस्तु की प्राप्ति नहीं है, नित्य प्राप्त वस्तु की अप्राप्ति के भ्रम की निवृत्तिरूप है। इसके लिए उपासना, योग, धारणा, ध्यान, समाधि कुछ नहीं चाहिए। औषधि केवल रोग-निवृत्ति के लिए होती है स्वास्थ्य तो उपलब्ध है ही। रोग-निवृत्ति के पश्चात् साधन भी त्याज्य होते हैं। आपके पास हीरा है उसे पहचान भर लीजिये। क्रिया शरीर मे होती है व उपासना मन से, योग चित्त की चंचलता दूर करता है। इससे साध्य स्थिति बनती है। उपलब्धि नहीं होती। अतः तू समाधि का जो अनुष्ठान कर रहा है, प्रयत्न कर रहा है वही तेरा बन्धन है। इसे भी छोड़ दे क्योंकि इस प्रयत्न के पीछे तेरी मोक्ष-प्राप्ति की वासना जुड़ी है। जब तक वासना है मोक्ष नहीं है। यह वासना ही तो बन्धन है चाहे संसार की हो या मोक्ष की, कोई अन्तर नहीं है। तू तो असंग क्रियारहित, स्वयं प्रकाशवान एवं निर्दोष है। इसे तू जान मात्र ले, यही पर्याप्त है। तू निर्दोष है, तू पापी नहीं है, ये सभी दोष, सभी पाप भूल से, अज्ञान से, शरीर व मन ने किये होंगे। तू मन व शरीर से भिन्न साक्षी है। फिर तेरे में दोष कैसे लग सकता है। तू स्वभाव से ही निर्दोष है। आत्मा कर्म करती ही नहीं। वह न पापी है न पुण्यात्मा, न साधु है

**न असाधु। जिस शरीर व मन ने कर्म किये वे जा चुके। तू दृष्टामात्र है। दृष्टा को कभी पाप नहीं लगता। अष्टावक्र का ऐसा उपदेश, बोध का है। यही सिद्धि की उच्चतम स्थिति को दिखाने वाला है।**

# सूत्र १६

**त्वया व्याप्तमिदं विश्वं त्वयि प्रोतं यथार्थतः।**
**शुद्धबुद्धस्वरूपस्त्वं मा गमः क्षुद्रचित्तताम्॥**

*अनुवाद :— "यह संसार तुझमें व्याप्त है, तुझी में पिरोया है। यथार्थतः तू चैतन्यस्वरूप है। अतः क्षुद्रचित्त को मत प्राप्त हो।"*

***व्याख्या :***— **अष्टावक्र इसमें आत्मा का स्वरूप दिखाते हुये संसार से उसका सम्बन्ध स्थापित करते हुये राजा जनक से कहते हैं कि- तू स्वयं आत्मा है, स्वयं ब्रह्म है एवं यह संसार तेरी अभिव्यक्ति मात्र है। यह संसार तेरे से व्याप्त है। इसका हर कण तेरा ही स्वरूप है, इसका स्पंदन तेरा ही स्पंदन है, इसकी धड़कन ही तेरी धड़कन है, इसका फैलाव तेरा ही फैलाव है, इसकी चेतना तेरी ही चेतना है, इसका सौन्दर्य तेरा ही सौन्दर्य है, इसकी शक्ति तेरी ही शक्ति है, सृष्टि का नियम तेरा ही नियम है। इसमें जो अनेकता दिखाई देती है उसमें एकता का सूत्र भी है। अनेकता का अर्थ भिन्नता नहीं है क्योंकि यह सृष्टि उस ब्रह्म से भिन्न नहीं है, उस परमात्मा से भिन्न नहीं है। यही चैतन्य ब्रह्म इसके विभिन्न अवयवों को माला की भाँति एक सूत्र में पिरोये हुये है। इस सृष्टि में विभिन्नताओं के बावजूद एक सी सामंजस्यपूर्ण स्थिति है, जो इसका एकरस नियम है जिससे इसमें एक तादात्म्य दिखाई देता है वह तेरे ही चैतन्य स्वरूप के कारण है। जिससे यह सृष्टि है, तू भी उसी में है। जैसे यह सृष्टि उससे भिन्न नहीं है। तू भी वही शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। अतः तू अपने को शरीरादि समझ कर क्षुद्रचित्त को मत प्राप्त हो। इसका अर्थ है कि समस्त पदार्थों का केन्द्रीय तत्व आत्मा ही है एवं आत्मा भिन्न-भिन्न नहीं है अपितु एक ही है जो सबमें व्याप्त है। इसलिए**

सबमें एकसूत्रता है। आत्मा को भिन्न-भिन्न मानना तो अज्ञान है ही किन्तु अपने को शरीर मानना महा अज्ञान है, मूढ़ता है। ऐसे मूढ़ अपने को क्षुद्र-चित्त, हीन अनुभव करते हैं। आत्म-ज्ञानी अपने को हीन नहीं समझता। रामतीर्थ इसलिए अपने को 'बादशाह' कहते थे।

# सूत्र १७

**निरपेक्षो निर्विकारो निर्भरः शीतलाशयः।**
**अगाधबुद्धिरक्षुब्धो भव चिन्मात्रवासनः।।**

*अनुवाद :— "तू निरपेक्ष (अपेक्षारहित) है, निर्विकार है, स्व निर्भर है, शान्ति और मुक्ति का स्थान है, अगाध बुद्धिरूप है, क्षोभ-शून्य है। अतः चैतन्य मात्र में निष्ठा वाला हो।"*

*व्याख्या* :— अष्टावक्र राजा जनक को आत्म-स्वरूप के बोध को दृढ़ करने हेतु कहते हैं कि- तू आत्मा होने से निरपेक्ष है। आत्मा की कोई अपेक्षा नहीं होती। अपेक्षा मात्र शरीर और मन की है। तू विकाररहित है। भूख और प्यास प्राण के धर्म हैं, शोक और मोह मन के धर्म हैं तथा जन्म और मरण ये देह के धर्म हैं। आत्मा इन सबसे पर है। ये आत्मा के धर्म नहीं हैं। आत्मा केवल दृष्टा है अतः निर्विकार है। देहाध्यास के कारण ही तू अपने को विकारी समझता है, इसी के कारण तू अपने को परमुखापेक्षी समझता है अन्यथा तू स्वयं पर ही निर्भर है। आत्मा किसी पर निर्भर नहीं है। तू आत्म-स्वरूप होने से शान्ति और मुक्ति का स्थान है। अशांति तेरा स्वभाव ही नहीं है। यह हिंसा, छीन-झपट, संघर्ष, बेचैनी, महत्वाकांक्षा, ईर्ष्या, आक्रमण सब राजनीति है जो मनुष्य की प्रतिभा का निकृष्टतम रूप है। मनुष्य की दैविक प्रतिभा का दुरुपयोग है। इसमें कहीं भी शान्ति व चैन नहीं है। राजनीति में संघर्ष ही संघर्ष है चाहे वह धन की राजनीति हो, या पद की, जिसका कोई परिणाम नहीं निकलता। शान्ति और मुक्ति इसमें है ही नहीं। यह तो आत्मा के ही गुण हैं। तू अगाध बुद्धि रूप है। तेरे में बुद्धि

का अनन्त सागर भरा है और तू बुद्धिहीनों जैसी चेष्टा कर रहा है। तेरी यह चेष्टा तुझे क्षुब्ध बनाये हुए है अन्यथा तू क्षोभशून्य है। तूने स्वयं को नहीं, प्रकृति को महत्व दिया है इसलिए तुझे क्षोभ दिखाई देता है वरन आत्मा में क्षोभ कहाँ? इसलिए तू अपने से परे के पदार्थों की निष्ठा को छोड़कर इस चैतन्य मात्र में निष्ठा वाला हो। अष्टावक्र केवल निष्ठा की बात कहते हैं कि आत्मा में पूर्ण निष्ठा होने से ही उसका ज्ञान होगा, कोई विधि काम नहीं करेगी। जो सदा से तुम्हारे पास है उसमें निष्ठा ही पर्याप्त है। वह सजगता और साक्षीभाव से ही दृष्य होगा।

# सूत्र १८

**साकारमनृतं विद्धि निराकारं तु निश्चलम्।**
**एतत्तत्वोपदेशेन न पुनर्भवसम्भवः।।**

*अनुवाद :— "साकार को मिथ्या जान, निराकार को निश्चल (स्थिर) जान। इस तत्व के उपदेश से संसार में पुनः उत्पत्ति नहीं होती।"*

*व्याख्या :—* इस सूत्र में अष्टावक्र पुनर्जन्म का कारण बताते हुये कहते हैं कि- यह निराकार और साकार, यह स्थूल और सूक्ष्म, यह जड़ और चेतन, यह सृष्टि और परमात्मा उसी परमात्मा चैतन्य तत्व के रूप हैं। यह साकार, स्थूल, जड़, सृष्टि आदि उस निराकार, सूक्ष्म तत्व की अभिव्यक्ति मात्र है। यह साकार सृष्टि जैसी दिखाई देती है वैसी है नहीं। यह उस सूक्ष्म का प्रकट एवं परिवर्तित रूप है। इसलिए इसमें वास्तविकता नहीं है। है कुछ और तथा दिखाई कुछ और देता है। यही भ्रम तथा अध्यास है, इसलिए मिथ्या है, क्योंकि इसका रूप, गुण बदलता रहता है, आज एक रूप है कल वह बदल कर दूसरा हो जायेगा इसलिए उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। इसमें जो सुख-दुःख आदि का आभास होता है वह भी नित्य नहीं है, शाश्वत नहीं है एवं भिन्न-भिन्न प्राणियों को भिन्न-भिन्न अनुभूतियाँ होती हैं। यह सब उसकी मानसिक स्थिति

के कारण है। मन भी चूँकि निरन्तर बदलता रहता है अतः वह भी विश्वासयोग्य नहीं है। यह शरीर भी विश्वासयोग्य नहीं है। कब पैदा होता है, कब मर जाता है, कब जवानी, बुढ़ापा आता है, कब सुख-दुःख आता है, कब किससे बैर, घृणा, दुश्मनी, प्रेम होता है, कब अपने ही पराये हो जाते हैं, कब पराये भी अपने हो जाते हैं, कब कर्म का फल मिलता है, कब नहीं मिलता आदि इस साकार जगत् से जुड़े हुए अनेकों प्रश्न हैं जिनका कोई समाधान आज तक किसी मनस्विद् द्वारा नहीं खोजा गया है। ऐसी सृष्टि जिसमें कुछ भी निश्चित नहीं है उसे मिथ्या नहीं कहा जाय तो और क्या जाय? इसका कारण है इस साकार जगत् की अपनी कोई सत्ता नहीं है। यह उस चैतन्य, निराकार, सूक्ष्म का ही परिवर्तित रूप है। परिवर्तन ही इसका स्वभाव है अतः यह विश्वसनीय नहीं हो सकता। विश्वसनीय वही परमात्मा है जो, चैतन्य, निराकार एवं सूक्ष्म है एवं प्रत्येक पदार्थ में आत्मा रूप में विद्यमान है। वही निश्चल है, नित्य है, केवल उसी पर भरोसा किया जा सकता है कि वह आज भी है व आगे भी वही रहेगा। सृष्टि की उत्पत्ति का कारण कभी नष्ट नहीं होता। सृष्टि नष्ट हो भी जाय तो मूल तत्व के विद्यमान रहने से उसका पुनः सृजन हो जायेगा। मूल तत्व कभी नष्ट नहीं होता। जिस प्रकार आभूषण नष्ट होने पर स्वर्ण नष्ट नहीं होता। यदि स्वर्ण है तो आभूषण नए बन जायेंगे। अतः जो नष्ट होने वाले आभूषण हैं उनमें विश्वास न कर। उस नित्य ब्रह्म में विश्वास करने वाले की पुनः उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि उत्पत्ति का कारण जो साकार में आसक्ति थी वह नष्ट हो गई, निराकार आत्मा को बहुमूल्य जान लिया, फिर उत्पत्ति किस लिए? जब महल मिल गये झोंपड़े में कौन वापस आना पसन्द करेगा? अष्टावक्र कहते हैं कि इस साकार जगत् से मुक्ति के लिए यही तत्व-उपदेश है, सारभूत उपदेश है।

## सूत्र १९

**यथैवादर्शमध्यस्थे रूपेऽन्तः परितस्तु सः।**
**तथैवास्मिञ्छरीरेऽन्तः परितः परमेश्वरः॥**

*अनुवाद* :— "जिस तरह दर्पण अपने में प्रतिबिम्बित रूप के भीतर और बाहर स्थित है, उसी तरह परमात्मा इस शरीर के भीतर और बाहर स्थित है।"

**_व्याख्या_ :— अष्टावक्र इसमें आत्म स्वरूप को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—परमात्मा कोई व्यक्ति जैसा नहीं है कि एक ही स्थान पर बैठकर सारी सृष्टि का सम्राट की भाँति नियंत्रण करता हो बल्कि वह सर्वत्र व्याप्त है। सृष्टि का कोई कण ऐसा नहीं है जिसमें इसकी उपस्थिति न हो। मनुष्य-शरीर में ही यह भीतर बाहर व्याप्त है। शरीर में वह आत्म रूप में एवं सृष्टि में परमात्म रूप में वही चैतन्य परमात्मा व्याप्त है। दर्पण में देखा गया प्रतिबिम्ब अपना ही है उसी प्रकार आत्मा में भी अपना ही प्रतिबिम्ब दिखाई देता है।**

## सूत्र २०

**एकं सर्वगतं व्योम बहिरन्तर्यथा घटे।**
**नित्यं निरन्तरं ब्रह्म सर्वभूतगणो तथा ।।**

*अनुवाद* :— "जिस प्रकार सर्वव्यापी एक आकाश घट के भीतर और बाहर स्थित है, उसी तरह नित्य और निरंतर ब्रह्म सब भूतों में स्थित है।"

**_व्याख्या_ :— अष्टावक्र जी इस उदाहरण द्वारा और स्पष्ट करते हैं कि संसार के सब भूतों में, सृष्टि के समस्त पदार्थों में वह नित्य और निरंतर ब्रह्म वैसे ही स्थित है जैसे घट के बाहर और भीतर एक ही सर्वव्यापी आकाश स्थित है। जिस प्रकार शरीर के भीतर और बाहर आकाश है एवं दोनों आकाश में भेद नहीं है, उसी प्रकार भीतर व बाहर एक ही ब्रह्म व्याप्त है। शरीर में जो जीवन है, चेतना है, हलचल है वह उसी आत्म-तत्व की है जिसके निकलने पर वह निर्जीव हो जाता है। यदि यह सजीवता स्वयं शरीर की होती तो मनुष्य की मृत्यु होती ही नहीं। जिस प्रकार मशीन के पुर्जे बदल-बदल कर उसकी उम्र बढ़ाई जा सकती है उसी प्रकार शरीर के अंग बदल-बदल कर उसे हजारों वर्ष जीवित रखा जा सकता था**

किन्तु उस आत्मा के निकल जाने पर इन अंगों को बदलना भी व्यर्थ हो जाता है। आत्मा के रहते ही यह कार्य किया जा सकता है। अतः यह आत्म-तत्व ही मुख्य है, शरीर नहीं।

राजा जनक अष्टावक्र द्वारा दिये गये ज्ञान के उपदेश का सार इतना ही है कि आत्मा और परमात्मा एक ही तत्व है उसे पाना नहीं है वह प्राप्त ही है, केवल अज्ञान से विस्मृत हो गया है उसे ज्ञान द्वारा पुनः स्मृति में लाना मात्र है। ये ध्यान, योग, उपासना आदि आन्तरिक स्वच्छता के लिए हैं, शरीर में उस परम-शक्ति को झेलने की तैयारी मात्र है। जिससे पात्रता आती है कि तुम उसे झेल सको। अचानक घटना घटने पर मनुष्य पागल भी हो सकता है। यह शास्त्रीय ज्ञान उसमें बिल्कुल काम नहीं आता। इसका महत्व इतना ही है कि आत्म-ज्ञान में कैसी स्थिति होती है इसे समझा जा सके। उस समय मनुष्य घबराये नहीं। यह तत्व-ज्ञान बुद्धि का विषय नहीं है। बुद्धि सीमित है। वह उस असीम को अपने में नहीं समा सकती। इस तत्व-ज्ञान का उपदेश सुनकर कोई मान ले कि मैं परमात्मा ही हूँ तो वह पाखंड ही होगा। जब भीतर से सब कुछ छूट जाता है तब मिलता है। ब्राह्य पदार्थों को छोड़ने से भी नहीं मिलता। यह ज्ञान ऐसा है जैसे स्वप्न टूटने पर ही ज्ञात होता है कि यह असत्य था, मिथ्या था। इसी प्रकार आत्म-ज्ञान के बाद ही संसार सम्बन्धी सारी मान्यताएँ, धारणाएँ गिर जाती हैं। इससे पहले नहीं। इससे पहले संसार सत्य प्रतीत होगा व आत्मा असत्य। जीवन में भी साक्षी भाव रखने पर भ्रान्ति मिट जाती है। अष्टावक्र इसीलिए निष्ठा की बात कहते हैं व समाधि को भी बन्धन मानते हैं।

यह उपदेश इतना सारगर्भित है कि जनक को सुनते-सुनते ही आत्म-बोध हो गया, स्व-स्वरूप का ज्ञान हो गया। इसका कारण था कि उनकी पात्रता पूर्ण थी। पात्रता नहीं होती तो इसका कोई प्रभाव नहीं होता। सारी देरी पात्रता प्राप्त करने में होती है। उसके बाद प्राप्ति में देरी नहीं होती। क्षण भर में घटना घट जाती है।

*। इति श्री अष्टावक्रगीतायां प्रथमं प्रकरणं समाप्तम् ।*

— ० —

# दूसरा प्रकरण

**(संसार अध्यात्म-सत्ता से भिन्न नहीं है)**

---

## सूत्र १

जनक-उवाच

**अहो निरञ्जनः शान्तो बोधोऽहं प्रकृतेः परः ।**
**एतावन्तमहं कालं मोहेनैव विडंबितः ।।**

*अनुवाद :— राजा जनक को अष्टावक्र का उपदेश सुनते ही आत्म-ज्ञान हो गया। वे कहते हैं—"मैं निरंजन (निर्दोष) हूँ, शान्त हूँ, बोध हूँ, प्रकृति से परे हूँ, आश्चर्य है। किन्तु मैं इतने काल तक मोह द्वारा ठगा गया हूँ।"*

***व्याख्या :*** **— ज्ञानी अष्टावक्र के सम्पर्क में आते ही राजा जनक का भी ज्ञान-दीपक जल उठा जिससे उनका समस्त अज्ञान का अन्धकार विलीन हो गया। वे आत्म सत्ता में प्रतिष्ठित हो गये। उनका मोह, ममता, तृष्णा, आकांक्षाएँ, अपेक्षाएँ, अहंकार आदि सारा भ्रम की भाँति दूर हो गया। उनकी सम्पूर्ण दृष्टि बदल गई। यह समस्त संसार स्वप्नवत् हो गया। जिस प्रकार स्वप्न से जागने पर स्वप्न में देखी गई समस्त माया विलीन हो जाती है; उसी प्रकार जनक को आत्म-ज्ञान के बाद यह सृष्टि माया व भ्रमवत् प्रतीत होने लगी। अब वे अपने को संसारी न समझ कर आत्मा समझने लग गये।**

शरीर, मन, प्रकृति से सम्बन्ध छूट गया। वासना विलीन हो गई, आसक्ति मिट गई। एक नए जीवन का सूत्रपात हो गया। यह सब कुछ अकस्मात नहीं था वरना जनक समझ भी नहीं पाते। पूर्व पात्रता थी, शक्ति के अवधारणा की क्षमता थी तो भी वे चौंक गये और कहने लगे कि "आश्चर्य है।" मैं आत्म-रूप हूँ अतः मैं निरंजन (निर्दोष) हूँ। आत्मा की भाँति शान्त हूँ, स्वयं बोध हूँ, साक्षी हूँ, प्रकृति से परे हूँ। मैं इतने काल तक बस मोह के द्वारा ठगा गया हूँ। यह मोह ही वास्तव में ठगने वाला है। सारे संसार को इसी ने ठग रखा है जिससे वास्तविकता का ज्ञान नहीं हो पाता। कबीर ने भी कहा है—'माया महा ठगिनी मैं जानी।' यह माया मोह ही है जिससे संसार जैसा है वैसा न दिखाई देकर भिन्न प्रकार का दिखाई देता है। जनक का यह माया का आवरण दूर हो गया। वे अपने स्वरूप को पहचान गये। यही गुरु महिमा है जो लोहे को स्वर्ण बना देता है, एवं शिष्य की भी पात्रता है जो स्वयं को बदलने को तैयार है, खुला है। जनक अब अपने को निर्दोष कहते हैं। पाप-पुण्य, कर्म आदि का समस्त माया जाल टूट गया। यह माया जाल केवल अहंकार के कारण है जिससे मनुष्य अपने को कर्त्ता समझता है। जब कर्त्तापन खो गया तो कृत्य का पाप-पुण्य उसे कैसे लग सकता है। ज्ञानरूपी अग्नि में सभी भस्म हो जाते हैं। यथार्थ का ज्ञान ही पर्याप्त है। यह सब सद्गुरु की उपस्थिति से ही घटा। गुरु ने 'केलेलिटिक एजेन्ट' का कार्य किया। पत्ता भी नहीं हिला और विस्फोट हो गया, घाव भी नहीं हुआ और शल्य क्रिया पूर्ण हो गई। ऐसा ही हुआ विवेकानन्द के साथ, ऐसा ही अन्य ज्ञानियों के साथ। जनक ऐसा अनुभव करने लगे जैसे शरीर से वस्त्र उतार दिये गये हों, साँप ने केंचुली उतार दी हो। सिंह का बच्चा भेड़ों के समुदाय में पलने से अपने को भेड़ ही समझने लग गया था, घास-पांत खाकर वह भेड़ के समान ही हो गया था किन्तु जब उसने पानी में अपना चेहरा देखा, सिंह की आवाज सुनी, खून का स्वाद एक बार उसे आया कि उसके भीतर का सिंह जाग उठा तथा वह वैसी ही गर्जना कर भेड़ों के समूह को छोड़कर सिंहों के साथ वन में चला गया। यह था स्वयं की सुप्त प्रतिभा का जागरण एवं गुरु की महिमा जिससे अपने स्वरूप को पहचान लिया, खोई स्मृति जाग गई। गुरु ने सिंह

**बनाया नहीं केवल उसके स्वरूप का बोध कराया। यही है आत्म-ज्ञान का स्वरूप, यही है निज स्वरूप जिसे पहचानना मात्र है।**

# सूत्र २

**यथा प्रकाशयाम्येको देहमेनं तथा जगत्।**
**अतो मम जगत्सर्वमथवा न च किंचन।।**

*अनुवाद :— "जैसे इस देह को मैं अकेला ही प्रकाशित करता हूँ, वैसे ही संसार को भी प्रकाशित करता हूँ। इसीलिए तो मेरा सम्पूर्ण संसार है, अथवा कुछ भी नहीं है।"*

***व्याख्या :—*** **राजा जनक आगे अपने आत्म-ज्ञान की अभिव्यक्ति देते हुए कहते है कि मैं शरीर नहीं, आत्मा हूँ अतः यह मेरी देह मुझसे ही प्रकाशित है। यही आत्मा मैं हूँ वही सम्पूर्ण जगत् की भी आत्मा है अतः यह सम्पूर्ण जगत् भी मेरे ही प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है अर्थात् आत्म रूप चैतन्य तत्व से प्रकाशित हो रहा है। इसलिए यह सम्पूर्ण संसार मेरा ही (आत्मा या ब्रह्म) स्वरूप है या मेरा कुछ भी नहीं है अर्थात् जिसे अहंकार एवं मोह के वश अपना कहता था वह कुछ भी नहीं है। सभी ईश्वर है, आत्मा से पृथक् इस जगत् का अस्तित्व नहीं है। अर्जुन उलझी हुई मनःस्थिति का था, क्षत्रिय होने से उसमें अहंकार अधिक था इसलिए वह हजार प्रश्न उठाता है, विभिन्न तर्क देता है किन्तु तत्व ज्ञान को ग्रहण नहीं करता। जनक न तर्क देते हैं, न प्रश्न करते हैं क्योंकि उनकी भूमि पहले से ही तैयार थी, पात्रता पूर्ण थी इसलिए उपदेश को सीधा पी गये। एकदम केन्द्र का, उस मूल सत्ता का स्मरण लौट आया। यह सभी आश्चर्य ही था।**

# सूत्र ३

**सशीरमहो विश्वं परित्यज्य मयाऽधुना।**
**कुतश्चित्कौशलादेव परमात्मा विलोक्यते।।**

*अनुवाद :—* "आश्चर्य है कि शरीर सहित विश्व को त्यागकर किसी कुशलता से ही (उपदेश से ही) अब मैं परमात्मा को देखता हूँ।"

***व्याख्या :—*** **राजा जनक को आत्म-ज्ञान हो गया। आत्मा का स्वरूप स्पष्ट दिखाई दिया व यह भी ज्ञात हो गया कि आत्मा और परमात्मा भिन्न नहीं है। इसलिए वे कहते हैं कि मैं गुरु की कुशलता से ही परमात्मा को देखता हूँ एवं इस ज्ञान के कारण मुझे शरीर सहित विश्व का भी त्याग हो गया है। आसक्तिवश मैं शरीर को अपना समझता था तथा संसार को मैं जिस दृष्टि से देखता था वह सब छूट गया। जनक ने त्याग किया नहीं, घट गया। त्याग किया नहीं जाता है। जहाँ करने की बात है वहाँ अहंकार है, कर्त्तापन मौजूद है। त्याग बोध का प्रतिफल है। सत्य एवं शाश्वत का बोध होने पर असत्य एवं अनित्य छूट जाता है। छोड़ने का प्रयास नहीं करना पड़ता। कुछ धर्म कहते हैं—यहाँ त्याग करो वहाँ स्वर्ग में मिलेगा। कुछ कहते हैं कि सब कुछ त्याग दो, नग्न हो जाओ तभी मोक्ष मिलेगा। किन्तु त्याग मोक्ष पाने की कोई शर्त नहीं है। ये सौदेबाज मोक्ष को भी सौदे की तराजू पर तोलते हैं। त्याग का अर्थ किसी वस्तु को छोड़ना नहीं है बल्कि ऐसी दृष्टि आ जाय कि जिससे ज्ञात हो सके कि यह सभी ईश्वर का है, मेरा कुछ नहीं है। जो तुम्हारा है ही नहीं उसे तुम छोड़ कैसे सकते हो। ईशावास्य उपनिषद् कहता है "जो कुछ सृष्टि में है वह सभी ईश्वर का है। इसलिए तुम उसका त्यागपूर्वक भोग करो।" जैसे स्वप्न में तुम सम्राट हो गये व स्वप्न टूटने पर यह नहीं कहते हो मैंने साम्राज्य का त्याग कर दिया वैसे ही आत्म-स्वरूप का बोध हो जाने पर संसार, शरीर आदि के प्रति जो भी आसक्ति है सब छूट जाती है। त्याग करना नहीं पड़ता। इससे पूर्व किये गये त्याग का महत्व नहीं है। जनक आगे कहते हैं—यह सब ज्ञान बड़ी कुशलता से हुआ। कोई हिमालय भाग रहा है, योग, उपासना, भजन, कीर्तन, जप, तप, यज्ञ सब कर रहा है किन्तु परमात्मा मिलता नहीं। मुझे न त्याग करना पड़ा, न कहीं आना जाना पड़ा। यहीं बैठे-बैठे घट गया। यह जीवन खेल व नाटकवत् हो गया, जो गम्भीरता थी सब समाप्त हो गई। यह सब बड़ी कुशलता से, बड़ी चतुराई से हो गया।**

# सूत्र ४

**यथा न तोयतो भिन्नास्तरङ्गा फेनबुद्बुदाः।**
**आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम् ।।**

*अनुवाद :— "जैसे जल से तरंग, फेन और बुदबुदा भिन्न नहीं है, वैसे ही विश्व आत्मा से भिन्न नहीं है किन्तु आत्मा से ही निकला हुआ है।"*

***व्याख्या :***— राजा जनक को स्वयं की आत्मा का तो बोध हो गया किन्तु साथ ही यह भी बोध हो गया कि ये समस्त आत्माएँ भी भिन्न-भिन्न नहीं हैं एवं यह समस्त विश्व भी आत्मा से भिन्न नहीं है बल्कि आत्मा ही से निकला हुआ है, उसी का फैलाव मात्र है, उसी की अभिव्यक्ति है, उसी का रूप है। वे इसे उदाहरण देकर समझाते हैं कि जिस प्रकार जल से तरंग, फेन और बुदबुदा भिन्न नहीं है उसी प्रकार आत्मा से विश्व भिन्न नहीं है। भिन्न मानने का अर्थ ही है उन्हें अभी आत्मा का ज्ञान हुआ नहीं, वे अभी मन से पार गये नहीं। मन के स्तर तक ही भिन्नता का अनुभव होता है, आगे सब भिन्नताएँ समाप्त होकर एकत्व का बोध हो जाता है। ध्यानी जब मानसिक स्तर की उच्चतम स्थिति में होता है तभी उसे आत्मा की थोड़ी सी झलक मिल जाती है किन्तु पूर्ण आत्म-ज्ञान की स्थिति में नहीं पहुँचने से उसे भिन्न-भिन्न आत्माएँ ही प्रतीत होती हैं। यह ज्ञान की अपूर्ण स्थिति है कि ज्ञान अभी हुआ नहीं है। ज्ञानी को यदि सब में एक ही परमात्मा न दिखाई दे तो समझ लो अभी ज्ञान हुआ ही नहीं है। अभी अज्ञान शेष है। अब तो वैज्ञानिक भी यही कहते हैं कि यह सारा अस्तित्व एक ही ऊर्जा से बना है। वह ऊर्जा 'विद्युत' है। ये सभी पदार्थ उस ऊर्जा का रूपान्तरण है। ऐसी स्थिति में आत्माओं को भिन्न-भिन्न मानना एवं यह कहना कि आत्माएँ अनन्त हैं, आत्मा और सृष्टि भिन्न है आदि तथ्य अज्ञानजनित ही है।

— × —

# सूत्र ५

**तन्तुमात्रो भवेदेव पटो यद्वद्विचारत: ।**
**आत्मतन्मात्रमेवेदं तद्वद्विश्वं विचारितम् ।।**

*अनुवाद :— "जैसे विचार करने से वस्त्र तन्तु मात्र ही होता है वैसे ही विचार करने से यह संसार आत्म-सत्ता मात्र ही है। "*

*व्याख्या :—* राजा जनक अपने आत्म-बोध की स्थिति में आत्मा एवं विश्व की एकता का अनुभव कर रहे हैं। इसे वे एक और उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं कि वस्त्र दिखाई देता है। किन्तु वह तन्तुओं से बना है। मूल तो तन्तु ही है जिससे वस्त्र बना। बिना तन्तु के वस्त्र नहीं हो सकता, इसी प्रकार आत्मा रूपी तन्तु से यह विश्व बना है फिर यह विश्व इसके भिन्न कैसे हो सकता है। यदि आत्मा है ही नहीं तो विश्व किस प्रकार बन सकता है। वस्तुत: आत्मा ही वह मूल तत्व है जो विश्व का आधार है फिर दोनों को भिन्न कैसे कहा जा सकता है, वैज्ञानिक इस मूल तत्व को विद्युत कहते हैं किन्तु विद्युत जड़-शक्ति है एवं आत्मा चैतन्य है। यह विद्युत भी चैतन्य आत्मा की ही शक्ति है। मूल तत्व विद्युत नहीं चैतन्य आत्मा है एवं उसी का सारा फैलाव है। जड़-विद्युत से जड़ पदार्थों का निर्माण तो संभव है किन्तु इससे चैतन्य उत्पन्न होने की संभावना नहीं है।

# सूत्र ६

**यथैवक्षुरसे क्लृप्ता तेन व्याप्तैव शर्करा।**
**तथा विश्वं मयि क्लृप्तं मया व्याप्तं निरन्तरम् ।।**

*अनुवाद :— "जैसे ईख के रस से बनी हुई शर्करा ईख के रस में व्याप्त है, वैसे ही मुझसे बना हुआ संसार मुझमें भी व्याप्त है। "*

*व्याख्या :—* राजा जनक एक और उदाहरण देकर विश्व एवं आत्मा की अभिन्नता को स्पष्ट करते हैं कि—ईख के रस से चीनी

स्वीकार कर लो, कर्त्ता नहीं साक्षी बन जाओ, केवल दृष्टा। सृष्टि का नियम है सब अपने आप हो रहा है। साक्षी का अर्थ अकर्मण्य होना नहीं है, बल्कि अपने को कर्त्तापन से मुक्त करना है। सभी कुछ ईश्वर का है, वही कर रहा है, उसे रोकना भी ईश्वर के कार्य में बाधा डालना है। ऐसी दृष्टि से ही योगी शान्त हो जाता है। साधक के लिए यह पात्रता बनती है।

# सूत्र ८

**प्रकाशो मे निजं रूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः ।**
**यदा प्रकाशते विश्वं तदाऽहं भास एव हि ।।**

*अनुवाद :— "प्रकाश मेरा निजी स्वरूप है। मैं उससे भिन्न नहीं हूँ। जब संसार प्रकाशित होता है तब वह मेरे ही से प्रकाशित होता है।"*

*व्याख्या :—* राजा जनक आत्म-ज्ञान की अनुभूति को व्यक्त करते हुए फिर कहते हैं कि—मैं आत्म-स्वरूप हूँ इसलिए इस आत्मा के गुण समस्त मेरे ही गुण हैं। यह आत्मा स्वयं प्रकाश है। इसको अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। यह जो वस्तुओं में प्रकाश दिखाई देता है यह भी उसी का है। जीसस ने भी कहा है "गॉड इज लाइट" (ईश्वर प्रकाश है) शास्त्रों में इसे 'ज्योतिषाम् ज्योति' (ज्योतियों की ज्योति है) कहा है। यह प्रकाश उसका स्वाभाविक धर्म है। जनक कहते हैं 'प्रकाश मेरा निज स्वरूप है।' उस निराकार ब्रह्म का स्वरूप प्रकाश मात्र है। ज्ञान के क्षणों में जिस किसी को भी अनुभव हुआ उन्हें पहले तीव्र प्रकाश दिखाई दिया। वह प्रकाश भी इतना तेज कि जैसे बारह सूर्य एक साथ चमक रहे हों। यह समस्त संसार आत्मा के प्रकाश से ही, उसी के तेज से प्रकाशित हो रहा है। सूर्य आदि में भी यह प्रकाश उसी का है। कोई पदार्थ जब जलता है तो उसमें से प्रकाश ही निकलता है। इसका अर्थ है यह प्रकाश उसमें विद्यमान है। यह चैतन्य तत्व का ही प्रकाश है जो गुप्त रूप से सभी में विद्यमान है। परमाणु-विस्फोट से भी प्रकाश ही

**निकलता है जो इस मूल तत्व का स्वरूप है। विद्युत प्रकाश ही है जिससे पदार्थ बने हैं। वैज्ञानिकों ने जो खोज आज की है उसे अध्यात्म हजारों वर्ष पूर्व ही जान गया था।**

# सूत्र ९

**अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते ।**
**रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरे यथा ।।**

*अनुवाद :— "आश्चर्य है कि कल्पित संसार अज्ञान से मुझे ऐसा भासता है जैसे सीपी में चांदी, रस्सी में साँप, सूर्य की किरणों में जल भासता है।"*

***व्याख्या :—*** **राजा जनक को आत्म-ज्ञान हो जाने से उनका संसार के प्रति भ्रम दूर हो गया। उनको अनुभव हो गया कि मेरा वास्तविक स्वरूप यह चैतन्य आत्मा है, शरीर नहीं। इसी प्रकार संसार का वास्तविक स्वरूप आत्मा है, भौतिक पदार्थ नहीं। यह संसार जैसा दिखाई देता है वह वास्तविक नहीं है, कल्पना मात्र है जो अज्ञानवश वास्तविक जैसा दिखाई देता है। यह संसार सीपी के समान महत्व-हीन है किन्तु चाँदी के समान मूल्यवान दिखाई देता है, यह रस्सी के समान निर्जीव है किन्तु अज्ञान से सर्पवत् दिखाई देता है, यह सूर्य की किरणों में जल की भ्रान्ति के समान दिखाई देता है अर्थात् इस मृग-मरीचिका में केवल जल की भ्रान्तिमात्र होती है वह प्यास नहीं बुझा सकती। इन तीन उदाहरणों में तीन तथ्य प्रकट किये गये हैं, सीपी में चाँदी का अर्थ है यह चाँदी के समान मूल्यवान एवं आकर्षक दिखाई देता है किन्तु है सीपी के समान निर्मूल्य। साँप के समान भयभीत करने वाला दिखाई देता है किन्तु है रस्सी के समान निर्जीव तथा जल की भ्रांतिमात्र होती है कि यह प्यास बुझा सकेगा किन्तु इन विषय-वासनाओं की प्यास इन संसार के भोगों से आज तक किसी की बुझी नहीं। वह मृग-जल की भाँति तड़फता ही रह जाता है व प्राणान्त हो जाते हैं। इसलिए इसे मृग-मरीचिका कहा है कि यह सत्य नहीं है, माया जाल है, भ्रममात्र है।**

# सूत्र १०

**मत्तौ विनिर्गतं विश्वं मय्येव लयमेष्यति।**
**मृदि कुम्भो जले वीचिः कनके कटकं यथा ।।**

*अनुवाद :— "मुझसे उत्पन्न हुआ यह संसार मुझमें ही लय को प्राप्त होगा जैसे मिट्टी में घड़ा, जल में लहर और सोने में आभूषण लय होते हैं।"*

**व्याख्या :— राजा जनक को आत्म-ज्ञान की स्थिति में अनुभव हुआ कि यही आत्म-तत्व (ब्रह्म) वह मूल-तत्व है जिससे मैं और यह सारा संसार उत्पन्न हुआ है। यह मूल तत्व सृष्टि के आरंभ में निराकार, अव्यक्त, असंभूत अवस्था में था। संकल्प से इसकी चेतना में तरंग उठी व वही चेतना सृष्टि रूप में विकसित होती ही चली गई व चली ही जा रही है किन्तु जब इसका अन्त होगा उस समय इसकी क्या स्थिति होगी? ज्ञानी कहते हैं यह पुनः अपने मूल स्वरूप में, अव्यक्त अवस्था में आ जायेगी एवं पुनः नई सृष्टि का आरंभ होगा। यह सृष्टि-चक्र इस प्रकार चलता ही रहेगा। कुछ धर्म कहते हैं सृष्टि ईश्वर ने बनाई, वही सृष्टा है, वही निर्माता है। किन्तु यह वैज्ञानिक बात नहीं है। विज्ञान इसे स्वीकार नहीं करेगा? ईश्वर ने बनाई तो इसमें दुःख क्यों है? आदि। इसका कोई वैज्ञानिक उत्तर यह धर्म नहीं दे सकता। किन्तु सृष्टि की उत्पत्ति की यह व्याख्या वैज्ञानिक है। आज नहीं तो कल विज्ञान इसी का समर्थन करने में सक्षम होगा। जो कहते हैं सृष्टि अनादि है, उसका कोई बनाने वाला नहीं है आदि, तो इसमें कुछ सार अवश्य है कि किसी व्यक्ति जैसे ईश्वर ने इसे नहीं बनाई अपितु यह सृजन की स्वाभाविक प्रक्रिया से बनी है। इसका कोई उद्देश्य भी नहीं है। रूप-परिवर्तन होता ही रहता है। पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता, केवल रूप-परिवर्तन करता है। यह पदार्थ ऊर्जा में परिवर्तित हो सकता है व ऊर्जा से पुनः पदार्थ का निर्माण होता है। यह वैज्ञानिकों की मान्यता है। जनक भी यही वैज्ञानिक बात कह रहे हैं कि यह संसार मुझसे (आत्मा, ब्रह्म से) उत्पन्न हुआ है जो इस सृष्टि का मूल-तत्व**

है। ये सब आकार ऊर्जा के घनीभूत रूप हैं जो विभिन्न संयोगों से बने हैं। प्रलय की स्थिति में ये रूप पुनः उस ऊर्जा में परिवर्तित होकर अरूप, निराकार, अव्यक्त में लीन हो जायेंगे जैसे घड़ा टूटकर मिट्टी रह जाता है। लहर समाप्त होने पर समुद्र शेष रह जाता है एवं स्वर्ण-आभूषणों को गलाने पर स्वर्ण ही शेष रह जाता है। वे सब अपने मूल-स्वरूप में आ जायेंगे। इस समग्र सृष्टि के इस मूलभूत-तत्व का नाम ही 'ब्रह्म' है। वही चेतन-तत्व है जिससे सृष्टि का निर्माण हुआ एवं पुनः उसी अपने मूल-स्वरूप में लौट आयेगी। राजा जनक को इसी मूल-तत्व आत्मा की अनुभूति होने से वे इसकी वैज्ञानिक व्याख्या दे पाये। सृष्टि की उत्पत्ति एवं लय की यही वैज्ञानिक धारणा भारतीय अध्यात्म की सर्वोत्कृष्ट खोज है। वेद वाक्य भी यही तथ्य प्रकट करता है कि "जिस आत्म-ब्रह्म से ये सब भूत प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिस ब्रह्म की सत्ता से उत्पन्न होकर जीते हैं और फिर सब मर करके जिसमें लय हो जाते हैं, उसी को तुम अपना आत्मा जानो।"

# सूत्र ११

**अहो अहं नमो मह्यं विनाशी यस्य नास्ति मे।**
**ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगन्नाशेऽपि तिष्ठतः।।**

*अनुवाद :— "मैं आश्चर्यमय हूँ। मुझको नमस्कार है। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त जगत् के नाश होने पर भी मेरा नाश नहीं है। (मैं नित्य हूँ)।"*

*व्याख्या :—* राजा जनक फिर आत्म-तत्व की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि मैं आत्मा होने से नित्य हूँ अतः ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त समस्त जगत् का नाश हो जाने पर भी मेरा नाश नहीं है। मैं आश्चर्यमय हूँ। जब सम्पूर्ण सत्ता का आधार मैं ही हूँ तो मैं और किसे नमस्कार करूँ। मेरा मुझको ही नमस्कार है। यह ब्रह्म पारमार्थिक-सत्ता है। इसे किसी ने बनाया नहीं बल्कि इसी से सब बने हैं। सम्पूर्ण जगत् बनने पर भी उसकी पूर्णता में कमी नहीं

आती। जगत् तो नाशवान् है ही किन्तु ब्रह्मा भी उस ब्रह्म का साकार रूप है अतः वह भी नष्ट हो सकता है। जिसका निर्माण हुआ है उसका ध्वंस अवश्य होगा यह सृष्टि का नियम है। इसलिए ये सब देवी-देवता, इन्द्र, ब्रह्मा आदि भी उस ब्रह्म का प्रकट स्वरूप हैं जिससे वे भी विनाश को प्राप्त होंगे केवल यह निराकार ब्रह्म ही अविनाशी है।

# सूत्र १२

**अहो अहं नमो मह्यमेकोऽहं देहवानपि।**
**क्वचिन्न गन्ता नागन्ता व्याप्य विश्वमवस्थितः ।।**

*अनुवाद :— "मैं आश्चर्यमय हूँ। मुझको नमस्कार है। मैं देहधारी होते हुए भी अद्वैत हूँ। न कहीं जाता हूँ, न आता हूँ और विश्व में व्याप्त स्थित हूँ)।"*

*व्याख्या :—* राजा जनक को आत्म-तत्व की, उस ब्रह्म की पूर्ण अनुभूति हो गई, एक साथ समग्र का ज्ञान हो गया। वे आश्चर्यमय होते हुए स्वयं को ही नमस्कार करते हुए कहते हैं कि यद्यपि मैं देहधारी हूँ फिर भी अद्वैत का बोध हो गया है। सामान्यतया देहधारी स्वयं को परमात्मा से भिन्न मानते हैं एवं जिसका देहाध्यास मिटा नहीं है वे आत्मा को भी सभी देहों में भिन्न ही मानते हैं। यह भिन्नता अज्ञान से ही प्रतीत होती है। जैसे सभी कुओं में जल भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है किन्तु उन सबका सम्बन्ध एक ही महासागर से है। जिस प्रकार चन्द्रमा एक ही है किन्तु विभिन्न जलाशयों में पड़ते प्रतिबिम्ब से वह अज्ञानी को भिन्न-भिन्न ही दिखाई देता है। आकाश एक है किन्तु अज्ञानी घर और बाहर के आकाश में भेद करते हैं। इसी प्रकार अज्ञानी ही सुख-दुःख, राग, विराग, ममता, आसक्ति, जन्म-मृत्यु, पुनर्जन्म आदि को लेकर आत्मा को भिन्न-भिन्न मानते हैं जबकि ये सभी गुण शरीर एवं मन के हैं जो अज्ञान-वश आत्मा पर आरोपित कर दिये गये हैं। ये आत्मा के धर्म नहीं हैं। आत्मा तो अद्वैत ही है, एक ही है जो सबमें समान रूप से

**व्याप्त है तथा इन सभी गुण-धर्मों से परे है। उसके गुण धर्म इनसे भिन्न हैं। इसलिए जनक अद्वैत आत्मा की बात कहते हुए स्पष्ट करते हैं कि यह आत्मा न कहीं जाती है, न आती है और संसार में व्याप्त होकर स्थित है। सर्वव्याप्त है।**

## सूत्र १३

**अहो अहं नमो मह्यं दक्षो नास्तीह मत्समः।**
**असंस्पृश्य शरीरेण येन विश्वं चिरं धृतम् ।।**

*अनुवाद* :— "मैं आश्चर्यमय हूँ। मुझको नमस्कार है। इस संसार में मेरे समान निपुण कोई नहीं। क्योंकि शरीर को स्पर्श किये बिना ही इस विश्व को सदा-सदा धारण किये रहा हूँ। "

***व्याख्या*** **:— राजा जनक कहते हैं कि इस संसार में मेरे समान दक्ष (निपुण) कोई नहीं है अर्थात् इस आत्म-तत्व की बड़ी निपुणता है कि यह असंग होते हुए भी बिना किसी शरीर को स्पर्श किये इस विश्व को सदा-सदा धारण किये रहा है। इसका अर्थ है यह विश्व आत्म-तत्व के बिना कैसे रह सकता है। जिस समय यह आत्म-तत्व शरीर से अलग हो जाता है उसी क्षण उस शरीर को मृत घोषित कर दिया जाता है। सभी शरीरों को धारण करने वाला यह आत्मा ही तो है। ये अनन्त शरीर इसी एक आत्म-तत्व द्वारा धारण किए हुए हैं। इसलिए यह आत्मा व्यक्तिगत नहीं है बल्कि विश्वात्मा है। यही विश्वात्मा चिरकाल से इस विश्व को धारण किये हुए है। यह आत्मा का विशिष्ट गुण है। वह स्वयं कर्त्ता नहीं होते हुए भी उसके गुणों से स्वाभाविक क्रिया अपने आप हो रही है। जैसे चुम्बक लोहे को प्रयत्न करके नहीं खींचता, विद्युत प्रयत्न करने अथवा अपनी इच्छा से प्रकाश नहीं फैलाता, सूर्य अपनी इच्छा से ताप व प्रकाश नहीं देता, गुरुत्वाकर्षण किसी के आदेश से पदार्थों को नहीं खींचता, बादल और वर्षा किसी के आदेश की प्रतीक्षा करके पानी नहीं बरसाते, अग्नि किसी के आदेश से नहीं जलाती, ये सब उनके स्वाभाविक गुण धर्म हैं जिनसे सब क्रियाएँ अपने आप होती हैं। ऐसे**

ही यह आत्म-तत्व संसार को धारण किये हुए है। उसकी मर्जी से नहीं बल्कि अपने स्वाभाविक गुणों के आधार पर। यह कितना बड़ा वैज्ञानिक सत्य है जो राजा जनक ने प्रकट किया। जो व्यक्ति सभी कार्य ईश्वर की इच्छा द्वारा किया हुआ मानते हैं कि वही कर्त्ता है, उन्हें इससे बड़ी निराशा होगी। विज्ञान का आधार भी यही दृष्टि है। यह कथन धार्मिक विश्वास ही नहीं वैज्ञानिक सत्य है।

# सूत्र १४

**अहो अहं नमो मह्यं यस्य मे नास्ति किञ्चन।**
**अथवा यस्य मे सर्वं यद्वाङ्मनसगोचरम्।।**

*अनुवाद :— "मैं आश्चर्यमय हूँ। मुझको नमस्कार है। मेरा कुछ भी नहीं है, अथवा मेरा सब कुछ है—जो मन और वाणी का विषय है।"*

*व्याख्या :—* राजा जनक आत्मा के बारे में कहते हैं कि मैं आत्म-रूप हूँ अतः मेरा कुछ भी नहीं है। मेरा वही होता है जहाँ किसी को अधिकृत कर रखा हो, किसी पर अपना अधिकार जमा रखा हो। आत्मा ने किसी को अधिकृत नहीं कर रखा है, गुलाम नहीं बना रखा है, वह असंग है, कर्त्ता और भोक्ता से मुक्त है। इसलिए आत्मा के लिए कोई मेरा नहीं है। वह तो केवल दृष्टा है, साक्षी है, उसकी उपस्थिति में ही सब हो रहा है। साथ ही जनक कहते हैं कि सब कुछ मेरा है यानी सब कुछ आत्मा का है। यह सारी सृष्टि उस आत्मा का ही खेल है, उसी का नृत्य है, उसी की लीला है। वह कुछ नहीं करते हुए भी सब कुछ उसी से हो रहा है किन्तु वह किसी में लिप्त नहीं है। ये सभी सांसारिक भोग मन और इन्द्रियों के विषय हैं आत्मा के नहीं। आत्मा इस भोगमय शरीर में रहता हुआ भी निर्लिप्त है। ऐसी महान् आत्मा को नमस्कार है।

★

# सूत्र १५

**ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम् ।**
**अज्ञानाद्भाति यत्रेदं सोऽहमस्मि निरञ्जनः ।।**

*अनुवाद :— "ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता ये तीनों यथार्थ नहीं हैं। जहाँ ये तीनों अज्ञान से ही भासते हैं। मैं वही निरंजन (निर्दोष) हूँ। "*

***व्याख्या :***— जो जाना जाता है उसे 'ज्ञान' कहते हैं। जिसे जाना जाता है वह 'ज्ञेय' कहलाता है तथा जो जानने वाला है वह 'ज्ञाता' कहलाता है। किसी वस्तु के ज्ञान के लिए ये तीनों आवश्यक हैं अन्यथा ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार कर्त्ता, कर्म, क्रिया, भोक्ता, भोग्य और भोग आदि की त्रिपुटी है। इन तीनों में से कोई एक रहता है तो उसके अन्य दो का होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए यदि भोक्ता है और भोग्य पदार्थ नहीं हैं तो वह भोग किसका करेगा। फिर वह भोक्ता भी नहीं रहा। यदि भोग्य पदार्थ हैं और भोक्ता नहीं तो भी भोग नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि ज्ञाता है तभी ज्ञेय और ज्ञान रह सकता है। यदि ज्ञाता और ज्ञेय दोनों नहीं हैं तो ज्ञान कहाँ से होगा। इस सूत्र में राजा जनक की आत्मानुभूति में यही ज्ञात हुआ कि आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है, उसे अन्य किसी ज्ञान की अपेक्षा नहीं है। उसके लिए जानने योग्य कुछ नहीं है। उसके जानने से सब जाना हुआ हो जाता है। जब तक अज्ञान है तभी तक ज्ञान की आवश्यकता है। मैं स्वयं आत्मा हूँ ज्ञानस्वरूप हूँ अतः आत्मा के लिए ये तीनों यथार्थ नहीं हैं। मैं आत्मा होने से निर्दोष हूँ अतः मुझे ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय ये तीनों जब तक अज्ञान हैं तभी तक प्रतीत होते हैं। ज्ञानी के लिए ये मिथ्या हैं। अज्ञानी को ही ज्ञान चाहिए। यदि उसे ज्ञान चाहिए तो किसका ज्ञान करना है वह वस्तु भी होनी चाहिए फिर ज्ञान प्राप्त करने की क्रिया भी करनी पड़ेगी। आत्मा चूंकि स्वयं ज्ञान है, वह दुनियां के सभी ज्ञानों का ज्ञान है अतः वह स्वयं किसका ज्ञान करे। अतः उसके लिए ये तीनों यथार्थ नहीं हैं। ये अज्ञान होने से ही

भासते हैं अन्यथा नहीं। अज्ञानी संसार की हर वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है फिर भी सब कुछ जान नहीं सकता। उसका अज्ञान शेष रह जाता है किन्तु आत्म-ज्ञानी ही सब कुछ जान कर तृप्त हो जाता है, उसे अन्य किसी ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती। अतः आत्म-ज्ञान ही परम-ज्ञान है। यही इसका तात्पर्य है। जो आत्मा को जान लेते हैं वे ही अज्ञान से मुक्त हो जाते हैं।

# सूत्र १६

**द्वैतमूलमहो दुःखं नान्यत्तस्यास्ति भेषजम्।**
**दृश्यमेतन्मृषा सर्वमेकोऽहं चिद्रसोऽमलः ।।**

*अनुवाद :— "अहो! दुःख का मूल द्वैत है, उसकी औषधि अन्य कोई नहीं। यह सब दृश्य मिथ्या है। मैं एक शुद्ध चैतन्य रस हूँ।"*

*व्याख्या :—* "राजा जनक को आत्म-ज्ञान होने पर अद्वैत की अनुभूति हो गई, द्वैत मिट गया, सारी भिन्नताएँ समाप्त होकर एकत्व का बोध हो गया, 'मैं' और 'मेरा' का यह भाव छूट गया। इस अनुभूति के बाद वे कहते हैं कि संसार में दुःखों का कारण द्वैत ही है। द्वैत का कारण है अहंकार, जिससे व्यक्ति अपने को अन्य प्राणियों से एवं परमात्मा से भिन्न समझता है। इस भिन्नता से ही उसे लोभ, लालच, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, संघर्ष, हिंसा, अपना-पराया, संग्रहवृत्ति, सुरक्षा आदि अनेक बीमारियाँ होती हैं। इनका इलाज भी कुछ नहीं है, इनकी कोई औषधि है ही नहीं। इन सबके मूल में अहंकार है। अहंकार मिटने से ही अद्वैत का बोध होता है किन्तु लोग अहंकार को तो मजबूत किये जाते हैं और बाकी बीमारियों का इलाज ढूँढते हैं जिससे कोई भी औषधि काम नहीं करती। मनुष्य अपने को अस्तित्व से अलग मानता है। वह चीजों को खण्ड-खण्ड में देखता है। वह समझता है मैं अकेला हूँ, दुनियाँ मुझसे भिन्न है। मैं उस समग्र का हिस्सा नहीं हूँ। मेरा अलग अस्तित्व है। ऐसा मानकर वह संपूर्ण अस्तित्व से संघर्ष करता है, प्रकृति पर विजय चाहता है। इसके लिए वह चोरी, हिंसा, हत्या सब कुछ कर सकता

है यह सब अपना अलग अस्तित्व मानने के कारण होता है। यही द्वैत है। इसी से होता है दुःख। किन्तु यह द्वैत मिथ्या है इसे वह जानना नहीं चाहता। ऐसा जानने से उसका अहंकार मिट जायेगा, उसका होना मिट जायेगा जिसे वह मिटाना नहीं चाहता। किन्तु इस राज का उसे पता नहीं है कि मिटता कुछ नहीं है। अहंकार जो क्षुद्र है उसके मिटने पर उसका उस परम अस्तित्व से सम्बन्ध हो जायेगा, लहर मिट कर सागर हो जायेगी, बीज मिट कर वृक्ष बनेगा, व्यक्ति मिट कर स्वयं समष्टि बन जायेगा, मनुष्य मिट कर परमात्मा बन जायेगा। जो उपलब्धि होगी वह अनन्तगुनी होगी। इसका ज्ञान न होने से वह क्षुद्र को पकड़े हुए है। जिस क्षण मनुष्य जान लेता है कि मैं उस अखण्ड का हिस्सा हूँ, मैं इस अस्तित्व से भिन्न नहीं हूँ उस दिन उसे समग्रता का बोध हो जायेगा व उसके सारे दुःख विलीन हो जायेंगे। परमात्मा को पाने का उपाय करना भी एक उपद्रव है। अहंकार के रहते सभी उपाय पाखंड मात्र ही हैं। मंदिर जाना, तिलक छापा लगाना, पूजा, पाठ, यज्ञ, व्रत, उपासना करना, योग, हठ-योग साधना आदि समस्त क्रियाएँ मनुष्य के अहंकार को बढ़ातीं हैं जिससे वह परमात्मा से दूर हटता जाता है। परमात्मा साधनों से नहीं मिलता। वह तो मिला हुआ है, तुम्हारे भीतर मौजूद है। वह अज्ञान-वश प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है, उस पर धूली जम गई है जिसे हटाना मात्र है। इसके हटते ही वह प्रत्यक्ष हो जायेगा। उस समय तुम्हें अद्वैत की अनुभूति होगी। तभी होगा सुख, तभी होगा आनन्द। केवल अपनी आँख खोलने और अपने वास्तविक चेहरे को पहचानने की आवश्यकता है। इसमें गुरु का इतना ही महत्व है कि वह भ्रान्ति तोड़ कर सत्य का दर्शन करा देता है। जनक को इस समग्र का बोध हुआ, अद्वैत का बोध हुआ व वे जाग उठे और कहने लगे 'मैं शुद्ध चैतन्य रस हूँ।' सृष्टि का सारा भ्रमजाल टूट गया। यह गुरु-कृपा से ही हुआ।

## सूत्र १७

बोधमात्रोऽहमज्ञानदुपाधिः कल्पितो मया।
एवं विमृश्यतो नित्यं निर्विकल्पे स्थितिर्मम ।।

*अनुवाद :—* ''मैं बोध मात्र हूँ। किन्तु मेरे द्वारा अज्ञान से उपाधि की कल्पना की गई है। इस प्रकार नित्य विचार करते हुए मैं निर्विकल्प में स्थित हूँ। ''

***व्याख्या :—*** **''राजा जनक अपनी आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति के क्रम में आगे कहते हैं कि मैं आत्मा होने से शुद्ध बोध हूँ। आत्म-रूप यह सृष्टि अखण्ड है। इसे विभाजित नहीं किया जा सकता। इसे खण्ड-खण्ड में नहीं देखा जा सकता। यह एक है, समग्र है। इसे भिन्न-भिन्न पदार्थों में विभक्त करने से इसकी उपयोगिता ही नष्ट हो जाती है, समग्र का सौन्दर्य ही नष्ट हो जाता है। शरीर एक है, पूर्ण है, सुन्दर है। इसके यदि सभी अंगों को भिन्न-भिन्न मान लिया जाय एवं प्रत्येक का एक दूसरे से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाय तो शरीर की क्या दशा हो। ऐसी ही दशा इस संसार की है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों में एकत्व का बोध उसमें स्थित आत्मा से ही होता है उसी प्रकार सृष्टि में एकत्व का बोध कराने वाला परमात्मा या ब्रह्म ही है। सृष्टि के विभिन्न पदार्थों में भिन्नता नहीं है बल्कि एकता है किन्तु उनको भिन्न-भिन्न नाम देने से ही उनमें भिन्नता का बोध होने लगा। नाम देने से पूर्व सभी एक ही था। ये भिन्न-भिन्न उपाधियाँ अथवा नामकरण अज्ञान के कारण ही दिये गये हैं। हाथ, पाँव, आँख, कान, नाक आदि भिन्न-भिन्न नाम देने से पूर्ण मनुष्य का बोध नहीं हो सकता। किन्तु पूर्ण मनुष्य के बोध से इन सभी अंगों का बोध हो जाता है। इसीलिए सृष्टि से परमात्मा खो गया। विभिन्न कारखानों में बने हुए विभिन्न पुर्जों के जोड़ से जिस प्रकार यन्त्र बनते हैं, यह शरीर इस प्रकार बना हुआ नहीं है बल्कि एक ही चैतन्य-तत्व से विकसित हुआ है, ऐसे ही यह सृष्टि विभिन्न अवयवों का जोड़ मात्र नहीं है बल्कि उसी एक परमतत्व 'ब्रह्म' से विकसित हुई है। इसीलिए इसमें एकत्व है। विभिन्न पुर्जों के जोड़ से बना हुआ मनुष्य यन्त्र मानव (रोबोट) तो हो सकता है, चेतन मानव नहीं हो सकता। ये मनुष्य फिएट और एम्बेसेडर कारों के विभिन्न मॉडल जैसे नहीं हैं बल्कि इनमें एक ही आत्मा-रूपी जीवन-धारा प्रवाहित हो रही है। ऐसी ही सृष्टि है जिसमें भिन्नता अज्ञानी को ही दिखाई देती है। ज्ञानी उसमें एकता**

को देखता है। हिन्दुओं की दृष्टि अनूठी थी जिन्होंने एक 'विश्व पुरुष' की कल्पना की एवं सृष्टि के समस्त अवयवों को उसके अंग माना जिससे सृष्टि का एकत्व भाव नष्ट नहीं हो जाय। जनक इसी तथ्य को प्रकट करते हैं कि इस समस्त उपाधियों की कल्पना अज्ञान से ही की गई है। जिसे आत्मा का ज्ञान नहीं, ब्रह्म का ज्ञान नहीं वे ही पदार्थ को पदार्थ ही समझ कर नाम दे देते हैं वरना यह सृष्टि आत्मा ही है। जनक कहते हैं मैं इस प्रकार नित्य विचार करता हुआ अब निर्विकल्प में स्थित हूँ। अब मेरे लिये दूसरा कोई विकल्प ही नहीं है। मैं एक हूँ एवं यह सृष्टि मुझ से भिन्न नहीं है।

# सूत्र १८

**अहो मयि स्थितं विश्वं वस्तुतो न मयि स्थितम्।**
**न मे बन्धोऽस्ति मोक्षो वा भ्रान्तिः शान्ता निराश्रया॥**

*अनुवाद :— "आश्चर्य है। मुझमें स्थित हुआ विश्व वास्तव में मुझमें स्थित नहीं है। इसलिए न मेरा बन्ध है न मोक्ष। आश्रयरहित होकर मेरी भ्रान्ति शांत हो गई है।"*

*व्याख्या* :— राजा जनक को एकत्व का बोध हो गया कि यह संसार और परमात्मा भिन्न नहीं है। परमात्मा अथवा आत्मा ही है, संसार उसी का फैलाव है। जब बन्धन होता है तभी मुक्ति की बात सोची जा सकती है। बन्धन का अर्थ कोई दूसरा है जिसने बाँध रखा है व हम मुक्त होने के लिए छटपटा रहे हैं। अज्ञान की स्थिति में मैंने संसार को आत्मा से भिन्न समझा था इसलिए संसार से मुक्त होना चाहता था किन्तु अब मुझे ज्ञात हुआ कि यह आत्मा ही है, संसार है ही नहीं, इसलिए अब कोई बन्धन नहीं है। यह संसार जैसे अज्ञान के कारण दिखाई देता था वैसे ही यह बन्ध भी अज्ञान के कारण ही था। यह संसार मिथ्या था तो बन्धन भी मिथ्या थे। जब बन्धन है तो मोक्ष भी मिथ्या है। दोनों ही असत्य हैं। मैं आश्रयरहित हूँ, मेरा कोई आश्रय नहीं है अतः इस अज्ञानरूपी बन्ध और मोक्ष की भ्रान्ति दूर हो गई है। अज्ञानावस्था में मुझमें विश्व स्थित था किन्तु अब यह

सारा भ्रम मिट गया है। अब मैं आत्मवान हूँ एवं विश्व मुझ में स्थित नहीं है। मैंने अज्ञानवश अपने को देह, इन्द्रियादि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वर्ण व आश्रम वाला, कर्त्ता, भोक्ता आदि न जाने क्या-क्या समझा। यही मेरा संसार था व यही बन्ध था। अब संसार मुझमें नहीं है इसलिए कोई बन्ध नहीं है तथा बन्ध नहीं तो मोक्ष भी नहीं है।

# सूत्र १९

**सशरीरमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चितम्।**
**शुद्धचिन्मात्र आत्मा च तत्कस्मिन्कल्पनाऽधुना ।।**

*अनुवाद :— "निश्चय ही शरीरयुक्त यह विश्व कुछ भी नहीं है। यह शुद्ध चैतन्य मात्र आत्मा है तो इसकी कल्पना ही किसमें है।"*

*व्याख्या* :— राजा जनक कहते हैं कि शरीरयुक्त यह विश्व अर्थात् यह सारा विश्व कुछ भी नहीं है। इसका स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं है। यह शुद्ध चैतन्य मात्र आत्मा ही है। आत्मा निराकार है उसी की साकार अभिव्यक्ति यह विश्व है अतः यह आत्मा से भिन्न नहीं है बल्कि आत्मा की है ऐसा मुझे निश्चय हो चुका है। फिर इसकी किसमें कल्पना की जाये। कल्पना में दो की आवश्यकता होती है जैसे रस्सी में साँप की कल्पना करना तो इसमें रस्सी है और उसमें साँप की कल्पना की जाती है किन्तु जब यह विश्व आत्मा ही है तो फिर इसकी किसमें कल्पना की जाये।

# सूत्र २०

**शरीरं स्वर्गनरकौ बन्धमोक्षौ भयं तथा।**
**कल्पनामात्रमेवैतत्किमे कार्यं चिदात्मनः ।।**

*अनुवाद :— "यह शरीर, स्वर्ग, नरक, बन्ध, मोक्ष व भय कल्पनामात्र ही हैं। उससे मुझ चैतन्य आत्मा का क्या प्रयोजन।"*

*व्याख्या* :— इसी क्रम में जनक कहते हैं कि यह शरीर, स्वर्ग, नरक, बन्ध, मोक्ष व भय कल्पनामात्र हैं। इसका अर्थ है अज्ञानी के लिए इनका प्रयोजन है एवं सत्य भी है। अज्ञानी अहंकारवश शरीर में ही जीता है, शरीर में ही मरता है, अहंकार के कारण वह कर्त्ता भी है, भोक्ता भी है, वह अपने कर्मों का फल भी भोगता है, मन के उपस्थित रहने से उसे स्वर्ग-नरक की अनुभूतियाँ भी होती हैं, वह बन्धन में भी है जिससे बार-बार जन्म लेना पड़ता है, वह स्वर्ग, नरक से भयभीत भी है किन्तु जिसने आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लिया उसके लिए ये सब कल्पना मात्र है, वास्तविक नहीं है।

## सूत्र २१

**अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम।**
**अरणयमिव संवृतं क्व रतिं करवाण्यहम्।।**

*अनुवाद :— "आश्चर्य है कि जन समूह में भी मुझे द्वैत दिखाई नहीं देता है। यह अरण्यवत् हो गया है तो फिर मैं किससे प्रेम करूँ।"*

*व्याख्या* :— राजा जनक को एक नई दृष्टि मिल गई। संसार वहीं का वहीं था किन्तु उनके देखने का ढंग बदल गया। जो संसार पहले उन्हें प्रीतिकर या दुःखद लगता था वह अब न प्रीतिकर रहा न दुःखद। सुख और दुःख, प्रेम और घृणा, अपना-पराया सब मानसिक अवस्थाएँ मात्र हैं। आत्मा के लिए वह केवल 'हैं'। उससे कोई लगाव नहीं, न अच्छा न बुरा। यह भेद ही समाप्त हो गया। उसकी उपस्थिति को केवल दृष्टा भाव से देख रहे हैं। पहले राजा जनक शरीर, स्वर्ग, नरक, बन्ध, मोक्ष, भय एवं विश्व को कल्पना मात्र कहते हैं अब उन्हें यह सम्पूर्ण जनसमूह भी वन के समान दिखाई दे रहा है। उसमें भी कहीं द्वैत दिखाई नहीं देता कि ये मनुष्य भिन्न-भिन्न है, इनमें आत्माएँ भिन्न-भिन्न हैं, ये मित्र, शत्रु, प्रेमी आदि हैं। इनके प्रति व्यक्तिगत मान्यताएँ सारी समाप्त हो गईं। इस जनसमूह में भी एकत्व भाव दिखाई दिया, आत्मवत् दिखाई दिया। संकीर्णता के समस्त दायरे टूट गये, जाति, धर्म, भाषा, सम्प्रदाय, लिंग, राष्ट्रीयता आदि विश्व बन्धुत्व की भावना का उदय हो गया।

**यह था ज्ञान का महत्व। अज्ञानी की जो भिन्न-भिन्न मानने की दृष्टि थी, खण्ड-खण्ड में देखने की दृष्टि थी वह दृष्टि भी विलीन हो गई। बच गया एकमात्र अस्तित्व। यही परम ज्ञान राजा जनक को गुरु-कृपा से उपलब्ध हुआ। मिथ्या का त्याग कर जनक सत्य को उपलब्ध हो गये।**

# सूत्र २२

**नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्।**
**अयमेव हि मे बंध आसीद्या जीविते स्पृहा ।।**

*अनुवाद :— "न मैं शरीर हूँ, न मेरा शरीर है, मैं जीव नहीं हूँ, निश्चय ही मैं चैतन्य मात्र हूँ। मेरा यही बन्ध था कि मेरी जीने में इच्छा थी।"*

***व्याख्या :—*** **राजा जनक अपने आत्म-ज्ञान की स्थिति में अध्यात्म जगत् की जिस ऊँचाई को थोड़े से उपदेश से छू पाये वैसी ऊंचाई कुछ को ही प्राप्त हुई है। यह सचमुच अद्भुत है। एक ही झटके में समस्त बाधाओं को पार कर, समस्त बन्धनों को तोड़ कर सुमेरू पर्वत पर जा खड़े हुए एवं इस समस्त विश्व प्रपंच को दृष्टा की भाँति देखने लगे। इस सूत्र में वे जीने की इच्छा को बन्ध मान कर उसे भी तोड़ देते हैं। जीने की इच्छा भी बन्ध है इसे समझना आवश्यक है। जनक कहते हैं कि मैं चैतन्य मात्र हूँ इसलिए न मैं शरीर हूँ, न मेरा शरीर है अर्थात् शरीर आत्मा नहीं है एवं आत्मा का कोई शरीर नहीं है। वह अशरीरी है। ये सभी शरीर उससे भिन्न नहीं हैं। भिन्न होने पर ही 'मेरा' कहा जा सकता है। मैं जीव भी नहीं हूँ। जन्म-मृत्यु को प्राप्त होने वाला, अहंकार, लोभ, मोह आदि अवगुणों वाला यह जीव है। मैं चैतन्य-आत्मा जीव नहीं हूँ। पंचतन्मात्राओं से बना हुआ तथा सोलह तत्वों के रूप में विकसित यह त्रिगुणमय संघात ही लिंग शरीर (सूक्ष्म शरीर) है। यह चेतना-शक्ति से युक्त होकर 'जीव' कहलाता है। (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये पाँच तन्मात्राएँ हैं। इनसे पंचभूतों की रचना हुई-**

**आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी। ये पंचभूत, दस इन्द्रियाँ तथा मन इन सोलह तत्वों के रूप में विकसित तथा सत्व, रज, तम तीन गुणों से युक्त यह लिंग शरीर है। यह चेतन-शक्ति आत्मा के साथ संयुक्त होकर ही जीव कहलाता है)। इसलिए जनक कहते हैं कि मैं केवल चैतन्यमात्र हूँ। जीव नहीं हूँ।**

**जनक आगे कहते हैं कि—'मेरा बन्ध यही था कि मेरी जीने की इच्छा थी।' यह जीने की इच्छा ही सबसे बड़ी वासना है। इसका अर्थ यह नहीं कि आत्म-हत्या करके जीवन को समाप्त कर दिया जाये। इस प्रकार मरने से शरीर तो नष्ट किया जा सकता है किन्तु जीने की जो वासना है वह नष्ट नहीं होती जिससे उस व्यक्ति को अपनी अतृप्त वासना की पूर्ति हेतु पुनः शरीर धारण करना पड़ेगा। यह अतृप्त वासना ही बार-बार शरीर धारण का कारण है। यह मनुष्य योनी कर्मयोनी भी है तथा भोगयोनी भी। अन्य पशु-पक्षी केवल भोग-योनी ही है। मनुष्य के पास अनेकों जन्मों में किये गये अच्छे-बरे कर्मों एवं वासनाओं का संचित भंडार है जिनमें से थोड़े से इस जन्म में भोगता है, शेष अगले जन्मों में भोगने के लिए सुरक्षित रहते हैं। यह मनुष्य शरीर उसे एक निर्धारित अवधि के लिए मिलता है जिससे वह इस जन्म में भोगने योग्य कर्म-फलों को भोग लेता है। किन्तु अवधि से पूर्व शरीर को नष्ट कर देने से वे अभोग्य कर्म उसे अगले जीवन में भोगने योग्य कर्मों के साथ और भोगने पड़ते हैं। अतः सभी प्रौढ़ धर्म आत्म-हत्या को बुरा व पाप मानते हैं। पाप मानने का कारण यह भी है कि ईश्वर ने, प्रकृति ने जो शरीर एक निर्धारित अवधि के लिए दिया है उसे विकृत कर देना या नष्ट कर देना उस ईश्वरीय नियम का उल्लंघन है। यही पाप है जिसकी सजा ईश्वर देता है। आत्म-हत्या के पीछे तीसरी धारणा यह है कि यह भी वासना ही है। जिसकी वासनाएँ सर्वाधिक होती हैं, जिन्हें वे संसार में पूरा नहीं कर पाते वे ही आत्म-हत्या का सहारा लेते हैं। आत्म-हत्या वासना-मुक्ति का उपाय कदापि नहीं हो सकता। बुद्ध आत्म-ज्ञानी होने के बाद भी चालीस वर्ष जीवित रहे। उन्होंने कहा कि जितने समय के लिए मुझे यह घड़ा मिला है उसे समय से पूर्व ही फोड़ दूँ यह भी वासना ही है। इस शरीर से मेरा काम हो गया**

**इसलिए अब इसे नष्ट कर दूँ यह भी स्वार्थ है। यह स्वाभाविक रूप से जब भी फूट जाय, फूट जाय। फोड़ने की चाह ठीक नहीं है। जो भूखे रह कर जबरदस्ती शरीर छोड़ना चाहते हैं वह भी पाप ही है, सृष्टि के नियमों के विपरीत है। ऐसा व्यक्ति जीने में भी शर्त रखता है कि ऐसा होने पर ही जीऊँगा अन्यथा जीना व्यर्थ है। वह शर्त पूरी न होने पर आत्म-हत्या कर लेता है। आत्म-हत्या करने वाला भोग की वासना से ग्रस्त है। इसलिए यह पाप है।**

**फिर जनक जीने की इच्छा को बन्ध क्यों कह रहे हैं? वे कहते हैं इच्छा मात्र बन्ध है, जीने की इच्छा भी बन्ध है। जीने की इच्छा भोगों की इच्छा के कारण ही पैदा होती है कि मैं अधिक जीऊँ तो अधिक भोग सकूँगा। यदि भोगों की कोई इच्छा नहीं, अन्य कोई वासना नहीं अपने-पराये में राग-द्वेष नहीं, भेद नहीं, सम्पूर्ण सृष्टि आत्मवत् प्रतीत होने लगी, व्यक्तिगत जितनी मान्यताएँ थीं, सब समाप्त हो गईं, फिर भी जीने की इच्छा करने का अर्थ है अभी वासना शेष है, अभी कुछ पाना शेष है, अभी मोह, ममता, राग, द्वेष आदि छूटा नहीं है। इसीलिए जनक जीने की इच्छा को बन्धन कहते हैं। समस्त इच्छाओं के छूट जाने पर भी शरीर तो रहेगा किन्तु वह निराकांक्षी होकर रहेगा, स्वाभाविक जीवन चलता रहेगा कर्म एवं संसार के प्रति आग्रह नहीं होगा। ऐसा व्यक्ति ही 'जीवन्मुक्त' होता है। ऐसा जीवन भी एक उच्च कोटि की कला है। अज्ञानी इस कला को न जानने से ही दुःखी रहते हैं। दुःख न तो भाग्य का फल है, न ईश्वर का अभिशाप। मनुष्य की गलत दृष्टि ही इसका कारण है।**

**जिज्ञासु अक्सर ये प्रश्न पूछते रहते हैं कि जीना ही क्यों है? यह जीवन किसलिए है? इसका उद्देश्य क्या है? जीवन मिला ही क्यों? जीवन का सार क्या है? क्या खाना, पीना, बच्चे पैदा करना व अन्त में मर जाना ही जीवन है? आदि। मुमुक्षु ऐसे प्रश्न नहीं करता। वह सीधे ही मुक्ति का इच्छुक है। बुद्धिवादी ही ऐसी इच्छा करते हैं। ज्ञानी के सभी प्रश्न गिर जाते हैं। उसको समाधान मिल जाता है। मूढ़ में इतनी बुद्धि होती ही नहीं कि उसको ऐसी जिज्ञासा हो। यह सारी समस्या जिज्ञासु की है। जहां जिज्ञासु ने प्रश्न किया कि उत्तर देने वाले तैयार बैठे रहते हैं। उनके पास रेडीमेड उत्तर तैयार रहता**

**है। कोई कहता है जीवन का उद्देश्य मुक्ति पाना है, कोई कहता है जीवन जीने के लिए है, कोई कहता है यह ईश्वर प्राप्ति का साधन है, कोई कहता है यह सेवा के लिये है, दूसरों की भलाई करने के लिये है, कोई कहता है जीवन असार है, इसमें सार ही नहीं है, आदि भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं किन्तु जनक कहते हैं कि जीवन जैसा है उसे स्वीकार कर लो, स्वाभाविक रूप से जीना ही उत्तम है। न इसका तिरस्कार करो, न इसके प्रति मोह। यह जीवन किसी पाप के कारण नहीं मिला है बल्कि ईश्वरीय वरदान है। ईश्वरेच्छा समझ कर इसे स्वीकार कर लो। न भोग न त्याग की इच्छा करो, न जीने की इच्छा करो न मृत्यु की। ईश्वर ने दिया है अच्छा है, वह वापस ले ले तो भी अच्छा है। सब उसकी मर्जी से होने दो। तुम व्यर्थ ही इसका उद्देश्य निर्धारित मत करो। जीने की इच्छा रखने से तुम अनेक पाप करके भी, चोरी, हत्या, शोषण, बेईमानी करके भी अपने को जिन्दा रखने का प्रयत्न करोगे तो पाप ही होगा। जितना अधिक जिन्दा रहने की इच्छा होगी उस इच्छा के कारण उतने ही अधिक पाप करने पड़ेंगे। अतः स्वाभाविक रूप से बिना पाप कर्म किये जीना है जी लो किन्तु जहाँ तुम्हारी जीने की इच्छा बलवती हुई कि पाप आरम्भ हो जायेंगे। जीना शुभ है किन्तु जीने की उसकी वासना बन जायेगी और यह इच्छा यदि पूर्ण नहीं हुई तो फिर जन्म लेना पड़ेगा। यह इच्छा ही तुम्हारा बन्धन बन जायेगी। जनक यही कहते हैं कि मेरी भी जीने की इच्छा थी और यही मेरा बन्ध था। अब मैं मुक्त हूँ।**

# सूत्र २३

**अहो भुवनकल्लोलैर्विचित्रैर्द्राक् समुत्थितम्।**
**मय्यनन्तमहाम्भोधौ चित्तवाते समुद्यते।।**

*अनुवाद :— "आश्चर्य कि अनन्त समुद्ररूप मुझमें चित्त रूपी हवा के उठने पर शीघ्र ही विचित्र जगत् रूपी तरंगें पैदा होती हैं।"*

***व्याख्या :—*** **जनक कहते हैं यह सृष्टि इस आत्म रूपी अनन्त**

**समुद्र में उठी हुई विचित्र तरंगें हैं जो चित्त रूपी वायु के झोंके से उठती हैं। इसमें तीन तथ्य महत्वपूर्ण हैं। एक तो यह आत्मा या ब्रह्म अनन्त समुद्र के समान है जिसका कोई अन्त ही नहीं है, जो असीम है, किसी सीमा में बद्ध नहीं है। जिस प्रकार वायु के झोंकों से समुद्र में ऊँची-ऊँची एवं विभिन्न प्रकार की तरंगें उठती हैं उसी प्रकार चित्त रूपी वायु के झोंकों से इस आत्मा में विभिन्न वासनाओं की तरंगें उठती हैं। यह काम, क्रोध, लोभ, मोह, प्रेम, घृणा, वासना, उत्तेजना आदि उस आत्मा में उठी तरंगें ही हैं जो चित्त के स्वभाव के कारण उठती हैं। इन्हें न मनुष्य उठा सकता है न रोक सकता है; इन तरंगों का नाम ही संसार है। ये तरंगें चूँकि समुद्र से भिन्न नहीं हैं इसी प्रकार यह संसार आत्मा से भिन्न नहीं है। चित्त हवा के समान चंचल है। इससे आत्मा रूपी संसार में तरंगें उठेंगी ही। योग इसी चित्त की वृत्तियों के निरोध की बात कहता है ''योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः''। यदि इन चित्त की वृत्तियों का निरोध हो गया तो तुम उस आत्मा को उपलब्ध हो जाओगे। चन्द्रमा का बिम्ब समुद्र के जल में पड़ता है किन्तु लहरों के कारण तुम उसे नहीं देख पाते। लहरें शान्त होने पर तुम उसका बिम्ब स्पष्टतः देख सकोगे।**

# सूत्र २४

**मय्यनन्तमहाम्भोधौ चित्तवाते प्रशाम्यति।**
**अभाग्याज्जीव वणिजो जगत्पोतो विनश्वरः।।**

*अनुवाद :— ''अनन्त महासागररूप मुझ में चित्तरूप वायु के शान्त होने पर जीवरूप व्यापारी के अभाग्य से जगत्‌रूपी नौका नाश को प्राप्त होती है।''*

***व्याख्या :—*** **जनक कहते हैं आत्मारूपी समुद्र तो शान्त है, निर्मल है, क्षोभ-रहित है, निर्दोष है, निर्विकार है। यदि चित्तरूपी वायु न चले तो उसमें लहरें उठेंगी ही नहीं। यह चित्त ही उस शान्त समुद्र को तरंगित करता है, वही लहरें उठाता है। चित्त की वृत्तियों से ही लहरें उठती हैं। ये तरंगें ही संसार है जो आत्मारूपी समुद्र से**

भिन्न नहीं है किन्तु 'अहं' भाव के कारण ये भिन्न प्रतीत होने लगती हैं, अपना अलग अस्तित्व मानने लग जाती हैं। यही अज्ञान है जो अहंकार के कारण पैदा हुआ। संसार को आत्मा से भिन्न मानने का यही कारण है। अपने को आत्मा से भिन्न, अकेला, स्वतन्त्र मानने के कारण ही काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अनेक वृत्तियाँ बढ़ती ही गईं, तृष्णा, वासना का विस्तार हुआ, परिग्रह की प्रवृत्ति बढ़ी, जीने की इच्छा हुई, आदि अनेक रूपों में इनका विस्तार होता ही गया व मनुष्य अपने ही बनाये हुए माया-जाल में उलझ गया। जनक कहते हैं कि तरंगें ही संसार है जो आत्मारूपी समुद्र में चित्तरूपी वायु से पैदा हुईं। यह जीवरूपी व्यापारी संसार में भोगों का अभिलाषी है। इसकी जीवन-नौका इस चित्तरूपी वायु के सहारे से ही चलती है अर्थात् संसार का अस्तित्व तभी तक है जब तक यह चित्त विद्यमान है। यदि यह चित्तरूपी वायु अधिक तेज हो जाती है, विषय, वासनाएं, अहंकार, लोभ आदि बहुत बढ़ जाते हैं तो संसार में अत्याचार, अनाचार, दुराचार, वैमनस्य, घृणा, हिंसा आदि इतनी बढ़ जाती हैं कि यह संसाररूपी नौका डूबने लगती है किन्तु यदि हवा बिल्कुल शान्त हो जाती है तो भी इन हवाओं के सहारे ही चलने वाली नाव आगे नहीं चल सकती, वह वहीं विनाश को प्राप्त हो जाती है। इसलिए चित्तरूपी वायु ही इस संसार का आधार है तथा जीवरूपी व्यापारी इसी के सहारे संसार में अपना व्यापार करता है। इस जीवरूपी व्यापारी के लिए यह सौभाग्य है कि यह वायु न अधिक तीव्र चले, झंझावात व बबंडर, आँधी, तूफान भी न आवें और न यह हवा बिल्कुल ही शान्त हो जाय कि जिससे नाव चले ही नहीं। किसी ने कहा है:—

*दर्द भी होता रहे, होती रहे फरियाद भी।*
*मर्ज भी कायम रहे, जिन्दा रहे बीमार भी।।*

यही दुनियां का वास्तविक स्वरूप है। इससे भिन्न दुनियां की कल्पना की ही नहीं जा सकती। राजा जनक इसमें संसार की बात न करके मुक्ति को प्रतिष्ठा देते हुए कहते हैं कि यदि चित्तरूपी वायु का चलना बन्द कर दिया जाय तो ये लहरें उठेंगी ही नहीं, समुद्र

**शान्त हो जायेगा, तरंग रूप यह संसार विलुप्त हो जायेगा तो यह जीव अपनी नाव को खे नहीं सकेगा, उसका संसार के साथ जो व्यापार है वह बन्द हो जायेगा तथा उसकी यह जगत्‌रूपी नौका विनाश को प्राप्त ह्ये जायेगी। यह उस जीवरूप व्यापारी का दुर्भाग्य ही होगा क्योंकि जीव का मुख्य आधार ही संसार है, भोग है, तृष्णा है, वासना है। किन्तु जनक इस दुर्भाग्य को भी सौभाग्य मानते हैं। जीव के लिए यह दुर्भाग्य है किन्तु जीव इससे अपने को संसार से अलग करके अमृत को प्राप्त हो जाता है, लहर मिटकर सागर बन जाती है, जीव विनाश को प्राप्त होकर आत्मा स्वरूप हो जाता है। वास्तव में छूटता कुछ भी नहीं। लहर को समुद्र से भिन्न मानने की जो भ्रान्ति थी, जो अज्ञान था वह मिटते ही वह समुद्र हो गई। जनक यही कहते हैं कि मेरा जीवरूप विनाश को प्राप्त होकर आत्मरूप हो गया। पतंजलि कहते हैं— "जब चित्त की वृत्तियाँ रुद्ध होती हैं तब जीव अपने रूप में स्थित रहता है। अन्य समयों में चित्त की वृत्तियों के समानरूप होता है।"** (योग-दर्शन-१।३-४)

# सूत्र २५

**मय्यनन्तमहाम्भोधावाश्चर्यं जीववीचयः।**
**उद्यन्ति घ्नन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः॥**

*अनुवाद :— "आश्चर्य है कि अनन्त महासागररूप मुझमें जीवरूप तरंगें उठती हैं, परस्पर संघर्ष करती हैं, खेलती हैं तथा स्वभाव से ही लय हो जाती हैं।"*

*व्याख्या :—* **राजा जनक अष्टावक्र के सामने अपनी आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति दे रहे हैं। अभिव्यक्ति के इस अन्तिम चरण से वे आत्मानुभूति के क्षणों में कैसी अनुभूति करते हैं इसका सार निचोड़ रख देते हैं, बिना कुछ छिपाये जो सत्य है उसे प्रगट कर देते हैं जिससे अष्टावक्र को विश्वास हो जाय कि उसे वास्तव में ज्ञान हुआ है या भ्रान्तिमात्र ही है। जनक कहते हैं कि मैं अपने वास्तविक**

स्वरूप आत्मा को उपलब्ध हो गया। मैं अब सीमित जीव नहीं हूँ, इस सागर की तरंग मात्र नहीं हूँ, बल्कि विशाल महासागर हूँ। महासागर तो पहले भी था किन्तु अहंकारवश, अज्ञानवश मैं अपने को उस अनन्त महासागर से भिन्न तरंग मात्र मानता था। यह अज्ञान मेरे में चित्त की चंचलता एवं अहंकार के कारण पैदा हो गया था। आज यह सारी भ्रान्ति मिट गई है व मैं अपने वास्तविक स्वरूप आत्मा में प्रतिष्ठित हो गया हूँ। अहंकार मिट गया, भिन्नताएँ समाप्त हो गईं, एकत्व का बोध हो गया, व्यष्टि एवं समष्टि का भेद समाप्त हो गया, बूँद से सागर बन गया, अन्त से अनन्त हो गया, सीमित से असीमित हो गया, समस्त बाधाएँ हट गईं, संकीर्णताओं के समस्त घेरे टूट गये, सभी द्वन्द्व मिट गये। अब मैं अकेला ही आत्म-रूप में स्थित हूँ। यह गुरु-महिमा है। अब इस आत्मा रूपी अनन्त महासमुद्ररूप मुझमें जीवरूपी तरंगें उठती हैं, परस्पर संघर्ष करती हैं, खेलती हैं तथा स्वभाव से ही लय हो जाती हैं। इसमें यह तथ्य समझने का है कि जब तरंगें शान्त हो गईं फिर क्यों उठती हैं और उठती हैं तो इसका अर्थ है अभी शान्त हुई नहीं। इसके विषय में जनक कहते हैं कि एक बार सब शान्त हो गया, तरंगें उठना बन्द हो गईं, मैंने अपने स्वरूप को पहचान लिया कि मैं संसार नहीं आत्मा हूँ, तरंग नहीं समुद्र हूँ, जीव नहीं आत्मा हूँ किन्तु चित्त का स्वभाव है चंचलता। इससे तरंगें उठेंगी ही, ये वासना की तरंगें फिर भी उठती हैं, परस्पर संघर्ष करती हैं, खेलती हैं किन्तु मैंने जब इनसे अपने को भिन्न देख लिया तो अब इनसे प्रभावित नहीं होता। मैं इन सबका दृष्टा बन गया, साक्षी बन गया, इन्हें केवल देखभर रहा हूँ। पहले ये मेर ऊपर शासन करती थीं अब मैं इन पर शासक बन गया। मेरे दृष्टा हो जाने से ये अपने आप उछल कूद कर करके अपने स्वभाव से ही शान्त हो जाती हैं। पहले इन्हें शान्त करने के लिए योग, समाधि, जप, तप, उपासना न जाने किन-किन विधियों से इनके निरोध की बात सोचता था। अब साक्षी मात्र, दृष्टा मात्र हो जाने से ये स्वभाव से अपने आप शान्त हो जाती हैं। मैं अब ऐसा हो गया हूँ जैसे इन सबका नाटक देख रहा हूँ, तटस्थ हो गया हूँ, सागर के किनारे बैठकर इनका सारा खेल देख रहा हूँ। यही है आत्म-दृष्टि।

संसार ज्यों का त्यों है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। किसी के ज्ञान को उपलब्ध हो जाने से संसार की गतिविधियों में कोई परिवर्तन नहीं आता, केवल ज्ञानी को वास्तविकता का ज्ञान हो जाने से उसकी दृष्टि बदल जाती है; देखने का ढंग बदल जाता है। अज्ञानी संसार में लिप्त रहता है, ज्ञानी किनारे खड़ा हो जाता है, वह संसार में रहते हुए भी जल कमलवत् हो जाता है। यही ज्ञानी की उपलब्धि है। आत्म-ज्ञान में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि कुछ भी नष्ट नहीं होते। ये आत्मा में ही विलीन हो जाते हैं एवं स्वभाव से फिर उठते हैं। किन्तु बार-बार इनका निरोध नहीं करना पड़ता। ज्ञानी साक्षी हो जाता है जिससे इनसे प्रभावित नहीं होता।

राजा जनक को जो भी घटा वह बहुमूल्य था। ऐसी घटना धीरे-धीरे नहीं घटती, एक ही क्षण में घट जाती है। उस समय यदि साधक की पूर्व तैयारी नहीं है तो वह उस शक्ति को झेल नहीं पाता जिससे वह पागल भी हो सकता है एवं मृत्यु भी हो सकती है। घटना घटते समय इसीलिए गुरु की उपस्थिति अनिवार्य है। यह अचानक एवं सम्पूर्ण परिवर्तन उसके शरीर, मन, इन्द्रियाँ, अहंकार, स्नायु संस्थान आदि सबको झकझोर देता है। यह सामान्य अनुभव नहीं है। उस विराट का अनुभव है। इसी विराट् के दर्शन से अर्जुन भी भयभीत हो गया था। उसने कृष्ण को कहा कि अपने तेज को सँभालो। सामान्य सुख से ही मनुष्य पागल हो जाता है तो विराट् का अनन्त सुख वह कैसे झेल सकता है। अतः गुरु उस समय सहायता करता है। कहने से भी सुख-दुःख हल्के हो जाते हैं, उनकी गंभीरता समाप्त हो जाती है इसलिए जनक को जो घटा है उसकी वे अभिव्यक्ति देते हैं जिससे उसका वेग कम हो जाय। गुरु की उपस्थिति इसलिए आवश्यक मानी जाती है।

*। इति श्री अष्टावक्रगीतायां द्वितीयं प्रकरणं समाप्तम् ।*

卐

# तीसरा प्रकरण

## (आत्म ज्ञान के बाद आसक्ति का त्याग हो जाता है)

## सूत्र १

अष्टावक्र-उवाच

**अविनाशिनमात्मानमेकं विज्ञाय तत्वतः।**

**तवात्मज्ञस्य धीरस्य कथमर्थार्जिने रतिः ।।**

*अनुवाद :— अष्टावक्र जी राजा जनक की परीक्षा लेने हेतु पूछते हैं कि इन्हें वास्तव में आत्म-ज्ञान हुआ है या आत्म-ज्ञान की भ्रान्ति हुई है। ये प्रश्न करते हैं :—"आत्मा को तत्वतः एक और अविनाशी जान कर भी तुझ आत्म-ज्ञानी धीर को धन कमाने में क्यों आसक्ति है?"*

***व्याख्या :—*** **राजा जनक गुरु का उपदेश सुनकर जाग गये, भ्रान्ति मिट गई, वे सत्य को, उपलब्ध हो गये। उनका अहंकार जाता रहा, कर्त्तापन जाता रहा, व्यष्टि से समष्टि हो गये, नया रूपान्तरण हो गया। उन्होंने कहा यह सब स्वभाव से हो रहा है। जब तक मनुष्य कर्ता भोक्ता है तब तक संघर्ष है, तनाव है। जब यह समझ लिया कि कर्त्तापन अहंकार के कारण है, सब कुछ स्वभाव से हो रहा है तो उसने अध्यात्म का रस चख लिया, वह मुक्त हो गया। तुमसे संसार का अस्तित्व नहीं है, बल्कि तुम्हारा अस्तित्व संसार से है। इस धारणा से समर्पण होता है, विनम्रता आती है तभी परमात्मा का स्वाद आता है। जनक को अभिव्यक्ति के बाद**

अष्टावक्र उनकी परीक्षा लेने हेतु कई प्रश्न करते हैं कि इसे वास्तव में आत्म-ज्ञान हुआ है या बौद्धिक भ्रान्ति मात्र हुई है। अष्टावक्र सामान्य शिक्षक नहीं हैं, वे गुरु हैं। शिक्षक बौद्धिक ज्ञान मात्र देता है किन्तु गुरु अनुभव देता है, रूपान्तरण करता है, मुक्त कर देता है। बौद्धिक ज्ञान से ज्ञानी होने का भ्रम पैदा हो सकता है। शास्त्रों के अध्ययन एवं उपदेश से जानकारी होती है, पहुँचना नहीं हो सकता। ज्ञान आत्मजाग्रति से ही होता है। अष्टावक्र उनकी परीक्षा लेने हेतु प्रश्न करते हैं कि :-

तूने आत्मा को एक ओर अविनाशी जान लिया फिर तेरी धन कमाने में क्यों आसक्ति है? राजा जनक ने भौतिक पदार्थों का त्याग नहीं किया, कपड़े नहीं बदले, सन्यासी नहीं हुए, नग्न नहीं हो गये, महल छोड़कर जंगल नहीं गये, राज्य भी नहीं छोड़ा, सब जैसा था वैसा ही चल रहा था। इसलिए अष्टावक्र पूछते हैं कि आत्म-ज्ञानी होकर तेरी क्या अभी भी धन कमाने में आसक्ति है, क्या अभी भी परिग्रह में तेरी आस्था है, क्या अभी भी तुझे पद, प्रतिष्ठा, मान, सम्मान में आसक्ति है, क्या अभी भी सिंहासन में तेरी रुचि है। धन, पद, प्रतिष्ठा, सम्मान आदि की दौड़ तो अज्ञानी की दौड़ है। जिसको हीरा नहीं मिला वही कंकड़-पत्थर इकट्ठे करता है, जो स्वयं प्रतिष्ठित नहीं है वही दूसरों से प्रतिष्ठा पाना चाहता है; जो भीतर से भिखमंगा है वही बाह्य वस्तुओं का संग्रह करता है, जिसे स्वयं में सुख नहीं मिला वहीं बाह्य पदार्थों में सुख ढूँढता है। आत्म-ज्ञान तथा वासना साथ-साथ नहीं रह सकती, प्रकाश आने पर अँधेरा नहीं रह सकता। आत्म-ज्ञानी के लिए ये सारी भौतिक सम्पदाएँ होना बुरा नहीं है, न पाप है। धन कमाना भी बुरा नहीं है, पत्नी, बाल-बच्चे, घर, गृहस्थी होना भी बुरा नहीं है किन्तु इनके प्रति आसक्ति बुरी है। जो है उसे छोड़ना भी आसक्ति ही है। बिना आसक्ति के भी सब कुछ रखा जा सकता है, भोगा जा सकता है एवं कुछ नहीं होने पर भी आसक्ति हो सकती है। अतः ज्ञान और अज्ञान का सम्बन्ध भौतिक पदार्थों के त्याग और संग्रह से नहीं बल्कि आसक्ति और अनासक्ति से है। अष्टावक्र इस प्रश्न द्वारा जनक से यही जानना चाहते हैं कि विषयों में इसकी आसक्ति है या नहीं? धन ही

वासनाओं में वृद्धि करता है तथा वासनाओं के बढ़ जाने पर अन्यायपूर्वक भी यह अधिक धनप्राप्ति की इच्छा करने लगता है। धन के कारण ही लोभ, मोह, राग-द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, छीना-झपटी, परिग्रह, उसकी सुरक्षा, दुश्मनी, हत्याएँ आदि अनेकों पाप कर्म करने पड़ते हैं। इसलिए धन को सब पापों का मूल कहा गया है। अष्टावक्र इसी कारण प्रथम प्रश्न में ही धन के प्रति आसक्ति की बात पूछते हैं। यदि धन के प्रति आसक्ति नहीं है तो वह अनेकों पापों से अपने आप ही छूट जाता है, फिर इनका परित्याग नहीं करना पड़ता एवं धन में आसक्ति रहते इन सब बुराइयों से बचा ही नहीं जा सकता। न्यायपूर्वक धन कमाना एवं उसे भोगना स्वस्थ है, पाप नहीं है, धर्म के कहीं विरुद्ध नहीं है। सब कुछ छोड़कर लंगोटी लगा कर, जंगल में भागने वाला ही धार्मिक है एवं गृहस्थी सभी पापी हैं ऐसी मान्यता मूढ़ लोगों के सिवाय और किसी की भी नहीं हो सकती।

# सूत्र २

**आत्माऽज्ञानादहो प्रीतिर्विषयभ्रमगोचरे ।**
**शुक्तेरज्ञानतो लोभो यथा रजतविभ्रमे ।।**

*अनुवाद :— "आश्चर्य कि आत्मा के अज्ञान से विषय का भ्रम होने पर वैसी ही प्रीति होती है जैसी सीपी के अज्ञान से चाँदी की भ्रान्ति में लोभ पैदा होता है।"*

*व्याख्या :—* इस सूत्र में अष्टावक्र आसक्ति का कारण बताते हुये जनक से फिर प्रश्न करते हैं कि जिस प्रकार सीपी के अज्ञान से उसमें चाँदी की भ्रान्ति होती है एवं इसी चाँदी की भ्रान्ति से लोभ पैदा होता है। जब स्पष्ट देख लिया कि यह चाँदी नहीं है सीपी है तो फिर लोभ नष्ट हो जाना चाहिये। लोभ का कारण यह भ्रान्ति ही थी कि यह चाँदी है। इसी प्रकार आत्मा के अज्ञान से ही विषयों का भ्रम हो गया था एवं उनमें राग पैदा हो गया था, आसक्ति हो गई थी कि विषयों में ही सुख है किन्तु अब तो आत्म-ज्ञान होने से यह भ्रम छूट जाना चाहिए था। आश्चर्य है कि आत्म-ज्ञान के बाद भी तू इन विषयों को नहीं छोड़ रहा है एवं इनसे प्रीति बनी हुई है। यह क्यों?

# सूत्र ३

**विश्व स्फुरित यत्रेदं तरंग इव सागरे।**
**सोऽहमस्मीति विज्ञाय किं दीन इव धावसि ।।**

*अनुवाद :— "जहाँ यह विश्व आत्मा में समुद्र में तरंग के समान स्फुरित होता है, 'वहीं मैं हूँ', ऐसा जानकर क्यों तू दीन की तरह दौड़ता है?"*

**व्याख्या :— अष्टावक्र फिर कहते हैं कि जो स्वयं आनन्दित नहीं है वही दूसरों में आनन्द ढूँढता फिरता है, जो स्वयं सुखी नहीं है वही विषयों में सुख खोजता है, जो स्वयं तृप्त नहीं है वही दीन हीन भिखारी की तरह दूसरों से तृप्ति प्राप्त करना चाहता है। किन्तु दूसरे कभी सुख, आनन्द नहीं दे सकते, विषयों से क्षणिक सुख मिल सकता है किन्तु शाश्वत आनन्द नहीं मिल सकता। इन क्षणिक सुखों की प्राप्ति के लिए मनुष्य चोरी, हत्याएँ, बेईमानी, झूट, कपट, शोषण, रिश्वत-खोरी, धोख., फरेब सब करता है, हजारों को कष्ट पहुँचाता है, गला घोंटता है, भ्रष्ट लोगों की चाटुकारिता करता है, अपने को दीन हीन समझकर दूसरों को अन्नदाता, गरीबनवाज, मालिक कहता है। यह सब किसलिए? इसलिए कि वह यह समझता है कि ये मुझे सुख देंगे। इसका कारण यह है कि उसके पास अतुल सम्पत्ति, परमानन्द का जो खजाना है उसका उसे ज्ञान नहीं है। इसलिए वह दीन हीन होकर सदा दूसरों से याचना करता है। अष्टावक्र इसी तथ्य को प्रगट करते हुए जनक से प्रश्न करते हैं कि यह विश्व उस अथाह समुद्र रूपी आत्मा में तरंगों के समान क्षुद्र है जिनका कोई अस्तित्व नहीं है, न ये नित्य हैं। तू आत्मा रूपी अथाह समुद्र है ऐसा तूने जान लिया फिर महान् को छोड़कर तू दीन की तरह इन क्षुद्र तरंगों रूपी वासनाओं के पीछे दौड़ता है, हीरा मिलने पर भी कंकड़-पत्थरों की आकांक्षा रखता है, ऐसा क्यों? अष्टावक्र यह जानना चाहते हैं कि यह इन क्षुद्र वासनाओं से मुक्त हुआ या नहीं।**

— ० —

## सूत्र ४

**श्रुत्वाऽपि शुद्धचैतन्यमात्मानमतिसुन्दरम् ।**
**उपस्थेऽत्यन्तसंसक्तो मालिन्यमधिगच्छति ।।**

*अनुवाद :— "आत्मा को शुद्ध चैतन्य व अति सुन्दर सुनकर भी कैसे कोई इन्द्रिय के विषय में अत्यन्त आसक्त होकर मलिनता को प्राप्त होता है। "*

***व्याख्या :***— **अष्टावक्र को भी आश्चर्य हुआ कि इसे सुनने मात्र से आत्म-ज्ञान कैसे हो गया? वे पूछते हैं कि जब तूने आत्मा को शुद्ध, चैतन्य व अति सुन्दर जान लिया तो फिर कामासक्त होकर इन्द्रिय के भोगों में क्यों अत्यन्त आसक्त होकर मलिनता को प्राप्त होता है। यदि कोई अज्ञानी इनकी ओर आसक्त रहते हैं तो समझ में आता है कि उन्हें महान् आनन्द नहीं मिला इसलिए क्षुद्र आनन्द में लिप्त हैं किन्तु ज्ञानी इस आत्मा रूपी महान् आनन्द को पाकर भी यदि क्षुद्र में रस लेता है तो इसका अर्थ है उसे अभी आत्मानन्द का अनुभव हुआ नहीं। जनक के उत्तर पर ही अष्टावक्र निश्चित करेंगे कि इसे ज्ञान हुआ है या भ्रान्ति मात्र है।**

## सूत्र ५

**सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।**
**मुनेजर्नित आश्चर्यं ममत्वमनुवर्तते ।।**

*अनुवाद :— "सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को जानकर भी मुनि को ममता होती है। यही आश्चर्य है। "*

***व्याख्या :***— **शिक्षक विद्यार्थियों को पढ़ाता है व अन्त में परीक्षा भी लेता है। उत्तीर्ण होने पर ही उसे प्रमाण-पत्र देता है। इसी प्रकार सच्चा गुरु शिष्य की परीक्षा भी करता है, कसौटी पर कसता भी है कि स्वर्ण शुद्ध हुआ या नहीं, या अभी भी उसमें मिलावट है। बिना कसौटी पर कसे ज्ञात ही नहीं होता है कि खरा क्या है और खोटा**

क्या है? पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर कोई भी अपने को ज्ञानी घोषित कर दे तो अज्ञानी उसे भले ही मान ले किन्तु ज्ञानी-गुरु उसे ज्ञानी नहीं मान सकता। इसलिए अष्टावक्र ने अभी जनक के ज्ञान को मान्यता दी नहीं है। वे कसौटी पर कस रहे हैं। वे पूछते हैं कि तूने सब भूतों में आत्मा को एवं आत्मा में सब भूतों को जान लिया है। इस प्रकार संसार एवं आत्मा में अभेद सम्बन्ध जानकर भी तुझे ममता होती है। यही आश्चर्य है।

# सूत्र ६

**आस्थितः परमाद्वैतं मोक्षार्थेऽपि व्यवस्थितः।**
**आश्चर्यं कामवशगो विकलः केलिशिक्षया॥**

*अनुवाद :— "परम अद्वैत में स्थित हुआ और मोक्ष के लिए भी उद्यत हुआ पुरुष काम के वश होकर क्रीड़ा के अभ्यास से व्याकुल होता है- यही आश्चर्य है।"*

*व्याख्या* :— आत्म-ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होगी। आत्म-ज्ञान से सृष्टि एवं आत्मा का भेद मिट जाता है किन्तु यह मुक्ति की स्थिति नहीं है। इसे सविकल्प समाधि कहते हैं। इसमें विकल्प बना रहता है, सभी संस्कार, मन, बुद्धि, चित्त आदि बीजरूप में विद्यमान रहते हैं किन्तु इसके बाद ज्ञानी निर्विकल्प समाधि में प्रवेश करता है तो वह बीज भी नष्ट हो जाता है जिससे सृष्टि में पुनः आने की संभावना ही मिट जाती है। यही मुक्तावस्था है। इसी को निर्वाण या मोक्ष कहा गया है। अष्टावक्र इसीलिए जनक से पूछते हैं कि तू परम अद्वैत में तो स्थित हो गया और मोक्ष के लिए उद्यत है, (अर्थात् पूर्णरूपेण तैयार है। इसका अर्थ ही है आत्म-ज्ञान हो चुका है, मुक्ति अभी शेष है। यह सविकल्प समाधि की स्थिति है।) ऐसी स्थिति में पहुँच कर भी तू काम-क्रीड़ा के अभ्यास से व्याकुल है- यही आश्चर्य है। अष्टावक्र यह जानना चाहते हैं कि तेरी काम के प्रति व्याकुलता नष्ट हुई या नहीं। यदि काम-क्रीड़ा की व्याकुलता शेष है तो इसका अर्थ है आत्म-ज्ञान अभी हुआ ही नहीं, भ्रान्ति मात्र ही है।

# सूत्र ७

**उद्भूतं ज्ञानदुर्मित्रमवधार्यापि दुर्बलः ।**
**आश्चर्यं काममाकाङ्क्षेत्कालमन्तमनुश्रितः ।।**

*अनुवाद :— "काम को उद्भूत ज्ञान का शत्रु जानकर भी कोई अति दुर्बल और अन्त काल को प्राप्त हुआ पुरुष काम भोग की इच्छा करता है- यही आश्चर्य है।"*

*व्याख्या :—* वासनाएँ अनेक प्रकार की होती हैं। किन्तु उनमें काम वासना मनुष्य में सबसे तीव्र है। अन्य वासनाओं को तो छोड़ा भी जा सकता है किन्तु इसे सामान्यतया छोड़ना अति कठिन है। अनेक ऋषि, मुनि, साधु, सन्यासी, योगी, भक्त, तपस्वी, साधक, ध्यानी कोई भी इससे मुक्त नहीं है। यह देवताओं तक की पीछा नहीं छोड़ती। यह काम एक शक्तिशाली ऊर्जा है। इसे दबाया या नष्ट नहीं किया जा सकता। इसका रूपान्तरण किया जा सकता है, इसका उन्नयन किया जा सकता है। इसे परिष्कृत रूप में विकसित किया जा सकता है। यह सम्पूर्ण सृष्टि काम से ही उत्पन्न हुई है। यह शक्ति ईश्वर प्रदत्त है अतः हेय नहीं है किन्तु इसका उपयोग वासना रूप में करना हेय है। अष्टावक्र इन तीन सूत्रों में काम में आसक्ति के प्रति जनक को सचेत करते हैं। इस सूत्र में वे कहते हैं कि अत्यन्त दुर्बल एवं मृत्यु समय के निकट पहुँचा हुआ व्यक्ति कभी काम भोग की इच्छा नहीं करता। किन्तु ऐसा व्यक्ति भी यदि इसकी इच्छा करता है तो आश्चर्यजनक ही है। इसी प्रकार यह काम उस व्यक्ति का महान् शत्रु है जिसमें नया-नया ज्ञान उद्भूत हुआ है; क्योंकि जन्मों-जन्मों से जिस काम वासना का भोग के रूप में उपयोग किया है वह एक क्षण में आत्मज्ञान होते ही छूट कैसे सकती है। आत्मज्ञान तो एक क्षण में हो जाता है किन्तु चित्त की वृत्तियों को छोड़ने में थोड़ा समय लगता है। जब ये पूर्णरूप से छूट जाती हैं तब होती है मुक्ति। जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार एक साथ नहीं रह सकते, या तो प्रकाश ही होगा या अन्धकार ही। इसी प्रकार ज्ञान और संसार, ज्ञान और काम, ज्ञान और वासना एक साथ नहीं

रह सकते। यदि ज्ञान हो गया तो संसार, काम, वासना नहीं रहेगी। यदि ये हैं तो इसका अर्थ है ज्ञान हुआ नहीं, ज्ञान का भ्रम ही हुआ है। इसीलिए ज्ञानी कहता है संसार माया है, मिथ्या है, भ्रम है किन्तु अज्ञानी को, यह ज्ञान, ईश्वर, परमात्मा, आत्मा, ब्रह्म आदि स्वप्नवत्, कल्पनावत्, मायावत् एवं भ्रम मालूम होते हैं। आत्मज्ञान की इसी कसौटी पर अष्टावक्र जनक को कसते हुए पूछते हैं कि तुझे आत्मज्ञान हो गया ऐसा ज्ञात होता है किन्तु इस ज्ञान की स्थिति में तूने जान लिया कि यह काम, उद्भूत ज्ञान का शत्रु है। काम का प्रभाव तुझ पर जन्मों-जन्मों से है, ज्ञान नया हुआ है इसलिए यह काम तुझे कभी भी अपनी ओर खींच सकता है। यह जान कर भी तू काम-भोग की इच्छा करता है, यही आश्चर्य है। अष्टावक्र यह जानना चाहते हैं कि यदि जनक काम भोग की इच्छा करता है तो उसे ज्ञान हुआ नहीं है। भ्रान्ति मात्र है।

# सूत्र ८

**इहामुत्र विरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः।**
**आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षादेव विभीषिका।।**

*अनुवाद :— "जो इह लोक और परलोक के भोग से विरक्त है और जो नित्य और अनित्य का विवेक रखता है और मोक्ष को चाहने वाला है वह भी मोक्ष से भय करता है- यही आश्चर्य है।"*

*व्याख्या :—* संसारी द्वन्द्व में जीता है। अच्छा-बुरा, लाभ-हानि, सुख-दुःख, प्रेम-घृणा, जय-पराजय, संघर्ष-शान्ति आदि द्वन्द्व ही जीवन है। नैतिक व्यक्ति इनमें भेद करता है। अच्छे को पुण्य व बुरे को पाप कहता है। दुनियाँ में रह कर वह अपने विभिन्न कर्मों द्वारा इस पाप-पुण्य की संपत्ति अर्जित करता है। मृत्यु पर कर्म तो छूट जाते हैं। किन्तु यह पाप-पुण्य की अर्जित सम्पत्ति अपने साथ लेकर जाता है। इसका पूरा लेखा-जोखा, 'बेलेन्स शीट' लेकर जाता है। यदि पुण्य का बेलेन्स अधिक है तो वह स्वर्ग जाता है, पाप का बेलेन्स अधिक होने पर नरक जाता है। जब वहाँ वह इन्हें भोग

लेता है तो बेलेन्स समाप्त होने पर वह पुनः संसार में लौटता है। कोई भी कर्म हो उसका फल अवश्य होता है। अतः कर्म मुक्ति का साधन नहीं बन सकता। जो स्वर्ग की कामना से कर्म करते हैं वे भी भोग की ही कामना कर रहे हैं कि वहाँ इस संसार से भी ज्यादा अच्छा भोग होगा किन्तु मुक्ति की इच्छा रखने वाला इन दोनों प्रकार के भोगों से विरक्त होता है। वह द्वन्द्व से पार हो जाता है। उसमें यह विवेक आ जाता है कि संसार के भोग यदि अनित्य हैं तो स्वर्ग के भोग भी अनित्य हैं। वे भी क्षीण होंगे। इसलिए वह नित्य, शाश्वत, परमानन्द मुक्ति की ही चाह करता है। ऐसा विवेक आत्म-ज्ञान की स्थिति में ही पैदा होता है। इसलिए अष्टावक्र जनक से फिर प्रश्न करते हैं कि तू आत्म-ज्ञान को उपलब्ध हो गया इसलिए तू इस संसार और स्वर्गादि के भोगों से विरक्त हो गया है। आत्म-ज्ञान के बाद अगला चरण मुक्ति ही है, तू उसे भी चाहने वाला है। जो संस्कार, जो वृत्तियाँ बीज रूप में शेष हैं उन्हें भी नष्ट करके तू पूर्णरूपेण मुक्त होकर उस नित्य एवं शाश्वत को पाना चाहता है, फिर भी तुझे मोक्ष से भय लगता है तो बड़ा आश्चर्य है। मोक्ष में, मुक्ति में बड़ा भय लगता है, पूर्ण स्वतन्त्रता में बड़ा भय है, बड़ी असुरक्षा है, वहाँ भोग नहीं होंगे। इसलिए भोग की इच्छा करने वाला मुक्ति से भयभीत होता है तथा जिसे मुक्ति से भय लगता है इसका अर्थ ही है उसकी अभी भोगने की वासना शेष है। अष्टावक्र इस सूत्र में जनक से यही जानना चाहते हैं कि इसकी भोग की वासना तो कहीं शेष नहीं है।

## सूत्र ९

**धीरस्तु भोज्यमानोऽपि पीड्यमानोऽपि सर्वदा।**
**आत्मानं केवलं पश्यन्न तुष्यति न कुप्यति।।**

*अनुवाद :— "धीर पुरुष तो भोगता हुआ भी और पीड़ित होता हुआ भी नित्य केवल आत्मा को देखता हुआ न प्रसन्न होता है, न क्रुद्ध होता है।"*

*व्याख्या* :— प्रसन्न होना, क्रुद्ध होना आदि मन के धर्म हैं जो अहंकार के कारण अपना प्रभाव दिखाते हैं। अज्ञानी का जीवन मन और अहंकार से ही चलता है इसलिए उनको इसका अनुभव होना स्वाभाविक है। धीर पुरुष अर्थात् आत्म-ज्ञानी भी भोग तो भोगता ही है। वह प्रारब्ध कर्मों का भोग भी भोगता है, संसार में रहकर आवश्यक कर्म तो उसे भी करने ही पड़ते हैं, उपस्थित भोगों को भी भोगता है। कई ऐसे भोग भी उसे भोगने पड़ते हैं जिनसे उसे पीड़ा भी होती है जैसे रामकृष्ण को कैंसर की पीड़ा, कृष्ण के पाँव में बाण लगना, जीसस को सूली पर लटकाना, मंसूर के हाथ-पाँव काट देना, दयानन्द को जहर देना, सुकरात व मीरा को भी जहर देना आदि से उत्पन्न पीड़ाओं को आत्म-ज्ञानी भी भोगता ही है। वह सम्मान, प्रशंसा आदि भी पाता है किन्तु इन दोनों परिस्थितियों में वह केवल आत्मा को ही देखता हुआ प्रसन्नता एवं क्रोध जैसे मानसिक भावों से मुक्त ही रहता है। ये भाव उसे प्रभावित नहीं करते। यदि ये प्रभावित करते हैं तो ज्ञानी के लिए यह आश्चर्य ही है। उसे अभी ज्ञान हुआ नहीं है।

## सूत्र १०

**चेष्टमानं शरीरं स्वं पश्यत्यन्यशरीरवत्।**
**संस्तवे चापि निन्दायां कथं क्षुभ्येन्महाशयः ।।**

*अनुवाद :— "जो अपने चेष्टारत शरीर को दूसरे के शरीर की भाँति देखता है, वह महाशय पुरुष स्तुति और निन्दा में भी कैसे क्षोभ को प्राप्त होता है।"*

*व्याख्या* :— इस सूत्र में अष्टावक्र कहते हैं कि आत्म-ज्ञान के बाद यह शरीर आत्मा से भिन्न ज्ञात होने लगता है। ज्ञानी फिर आत्मा को ही अपना स्वरूप मानता है, शरीर को नहीं। ज्ञान के बाद भी उसका शरीर तो चेष्टारत रहता ही है। शरीर के चेष्टारत रहने से उसे स्तुति और निन्दा भी प्राप्त होती है किन्तु ज्ञानी अपने को इस शरीर से भिन्न मानता है जिससे वह उस स्तुति और निन्दा से क्षोभ

को प्राप्त नहीं होता। क्षोभ तब प्राप्त होता है जब वह इस स्तुति और निंदा को अपनी स्तुति और निंदा समझता है। ज्ञानी इन्हें इस प्रकार देखता है जैसे यह निंदा और स्तुति किसी और की की जा रही है। शरीर से आत्मा का सम्बन्ध विच्छेद होने पर ही ऐसी प्रतीति होती है। यदि ज्ञानी को भी ऐसा क्षोभ होता है तो इसका अर्थ है अभी ज्ञान हुआ नहीं है।

## सूत्र ११

**मायामात्रमिदं विश्वं पश्यन् विगतकौतुकः।**
**अपि सन्निहिते मृत्यौ कथं त्रस्यति धीरधीः।।**

*अनुवाद :— "जो इस विश्व को माया मात्र देखता है, और जो आश्चर्य को पार कर गया है, वह धीर पुरुष मृत्यु के आने पर भी क्यों भयभीत होता है।"*

*व्याख्या :—* अष्टावक्र जनक से यह भी जानना चाहते हैं कि वह मृत्यु से भयभीत तो नहीं है। वे कहते हैं अज्ञानी के लिये तो संसार ही सत्य है। वह इसी में रहता है, खाता-पीता, हँसता खेलता है, बड़ा होता है, अपना विकास करता है, संसार के राग, द्वेष, प्रेम, घृणा सबसे प्रभावित होता है, वह संसार को ही भोग का साधन व उन्नति का मार्ग मानता है, कई तो संसार को ही स्वर्ग कहते हैं किन्तु आत्म-ज्ञानी को जब वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है तो वह संसार को माया, भ्रम देखने लगता है, क्योंकि उसे इससे भी बहुमूल्य मिल गया है। अज्ञानी को इन विचित्रताओं से भरे संसार को देखकर आश्चर्य भी होता है किन्तु ज्ञानी को वास्तविकता का ज्ञान हो जाने से वह इस आश्चर्य को भी पार कर जाता है। संसारी तो मृत्यु से भयभीत होता ही है कि न जाने इसके बाद कौन सी योनी मिलेगी? स्वर्ग-नरक में क्या सुख-दुःख होंगे? सबसे बड़ी उसकी जीने की व भोगने की वासना की मृत्यु हो रही है एवं वह अनजाने पथ पर जा रहा है इससे भय लगता है। मरते सभी हैं, यह जानते हुये भी मरना कोई नहीं चाहता। ऐसे सभी अज्ञानी तो मृत्यु से भयभीत हैं ही किन्तु

अष्टावक्र जनक से पूछते हैं कि क्या ज्ञानी होकर जब तूने संसार को माया की भाँति जाना ही नहीं, देख लिया है तो भी मृत्यु से भयभीत होता है? क्योंकि ज्ञानी मृत्यु से भयभीत नहीं होते। वे उत्सव की भाँति उसका स्वागत करते हैं। शरीर के प्रति आसक्ति रखने वालों को ही मृत्यु का भय अधिक लगता है।

# सूत्र १२

**निःस्पृहं मानसं यस्य नैराश्येऽपि महात्मनः: ।**
**तस्यात्मज्ञानतृप्तस्य तुलना केन जायते ।।**

*अनुवाद :— "जिस महात्मा का मन नैराश्य में (मोक्ष में) भी स्पृहा नहीं रखता, उस आत्म-ज्ञान से तृप्त पुरुष की तुलना किससे की जाय?"*

***व्याख्या*** **:— अष्टावक्र जनक से ऊँचे स्तर का प्रश्न करते हैं कि संसारी तो मृत्यु से भयभीत होते ही हैं किन्तु ज्ञानी को तो भयभीत नहीं होना चाहिए। भय इच्छा और वासना के छूटने से होता है अन्यथा कोई भय नहीं है। वे कहते हैं ज्ञानी संसार की तो क्या मोक्ष की भी इच्छा नहीं करता। यदि उसने मोक्ष की भी इच्छा की तो वह भी उसकी वासना ही है एवं जहाँ वासना है वहाँ मोक्ष नहीं है। जो बिना किसी प्रकार की इच्छा करते हुये केवल आत्म-ज्ञान से तृप्त है, केवल आत्मानन्द का ही अनुभव कर रहा है वह मुक्ति ही है, मुक्ति से भी बढ़ कर है। ऐसे व्यक्ति की तुलना किसी से भी नहीं हो सकती। अष्टावक्र जनक से यह जानना चाहते हैं कि इसकी मोक्ष में स्पृहा तो नहीं है।**

# सूत्र १३

**स्वभावादेव जानानो दृश्यमेतन्न किञ्चन।**
**इदं ग्राह्यमिदं त्याज्यं स किं पश्यति धीरधीः।।**

*अनुवाद :— "जो जानता है कि यह दृश्य स्वभाव से ही कुछ नहीं है, वह धीर बुद्धि कैसे देख सकता है कि यह ग्रहण करने योग्य है और यह त्यागने योग्य है?"*

*व्याख्या :—* **अज्ञानी को आत्मा का ज्ञान नहीं होने से वह संसार को ही सब कुछ देखता है किन्तु जिसे आत्मा का ज्ञान हो गया है उस ज्ञानी को आत्मा की ही सम्पूर्ण सत्ता ज्ञात होने लगती है। वह संसार को अनित्य, माया जाल, भ्रम समझने लगता है। उसे आत्मा ही नित्य एवं सत्य प्रतीत होती है फिर वह इस अनित्य जगत् से क्या प्राप्त करने की इच्छा रखता है। जिसे महान् मिल गया, विराट् मिल गया वह क्षुद्र की क्यों अपेक्षा करेगा। आत्म-ज्ञानी को यह सब दृश्य जगत् स्वभाव से ही कुछ नहीं है एवं सब कुछ आत्मा ही है ऐसा ज्ञान हो जाता है। ऐसा ज्ञानी इस संसार में न कुछ त्यागने योग्य समझता है, न ग्रहण करने योग्य। त्याग और ग्रहण दोनों ही अहंकार के ही रूप हैं। अहंकारवश ही संसारी सब कुछ अपने लिए पाना चाहता है एवं उनका त्याग भी अहंकार ही है। वह छोड़ता भी है तो पुनः स्वर्ग में मिलेगा, इस आश्वासन पर छोड़ता है। पाखंडी, अहंकारी सब कुछ छोड़कर नग्न हो सकता है किन्तु ऐसा भी यदि अहंकार के कारण ही किया गया है तो त्याग नहीं है, मूढ़ता मात्र है। छोड़ना पाने की कोई शर्त नहीं है। जहां भी 'मैं' मौजूद है, कर्त्ता मौजूद है वहाँ अहंकार ही है। ज्ञानी त्याग करता नहीं, उससे त्याग घटता है, त्याग होता है, किया नहीं जाता। वह अपना सब कुछ समझता ही नहीं है, सभी ईश्वर का समझता है, वह संसार को कंकड़-पत्थर से अधिक महत्व नहीं देता फिर किसका त्याग करे व किसको ग्रहण। भोग और त्याग दोनों ही अहंकार के रहते कृत्य हैं। ज्ञानी के लिए दोनों का महत्व नहीं है।**

—०—

# सूत्र १४

**अन्तस्त्यक्तकषायस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः।**
**यदृच्छयाऽऽगतो भोगो न दुःखाय न तुष्टये।।**

*अनुवाद :— "जिसने अन्तःकरण के कषाय को त्याग दिया है, और जो द्वन्द्वरहित और आशारहित है। ऐसे पुरुष को दैवयोग से प्राप्त भोगों में न दुःख है न सुख।"*

***व्याख्या :—*** **इस अन्तिम सूत्र में अष्टावक्र जनक को और पूछते हैं कि तू आत्मा-ज्ञानी है। तेरे अन्तःकरण का विषय वासनाओं सम्बन्धी सारा मल धुल चुका है, तू द्वन्द्वरहित और आशारहित हो चुका है। तुझे दैवयोग से प्राप्त भोगों को ईश्वर का वरदान समझकर भोग करना चाहिए। तुझे इनमें सुख-दुःख नहीं होना चाहिए। अर्थात् जो भी अच्छा-बुरा होता है उसे दैवयोग समझ कर भोग लेना चाहिए। यदि ऐसी प्रतिक्रिया होती है तो इसका अर्थ है अभी मन जीवित है, आत्म-ज्ञान हुआ नहीं है।**

**ज्ञानी वही है जो स्व विवेक से जीता है। क्या अच्छा है, क्या बुरा है, क्या ग्रहण है, क्या त्याग है इसका निर्णय स्व विवेक से ही करता है। वह सांसारिक नियमों, रूढ़ियों, मर्यादाओं से प्रभावित नहीं होता। अष्टावक्र इन चौदह सूत्रों के द्वारा जनक के आत्म-ज्ञान की परीक्षा कर रहे हैं।**

*। इति अष्टावक्रगीतायां तृतीयं प्रकरण समाप्तम् ।*

— ० —

# चौथा प्रकरण

## *(योगी संसार से अस्पर्शित रहता है)*

---

## सूत्र १

जनक-उवाच

**हन्तात्मज्ञस्य धीरस्य खेलतो भोगलीलया ।**
**न हि संसारवाहीकैर्मूढैः सह समानतः ।।**

*अनुवाद :— राजा जनक अष्टावक्र द्वारा किये गये प्रश्नों का उत्तर देते हैं जिससे उनको हुए आत्म-ज्ञान की पुष्टि होती है। जनक कहते हैं:—"हन्त! भोग-विलास के साथ खेलते हुए आत्म-ज्ञानी धीर पुरुष की बराबरी संसार को सिर पर ढोने वाले मूढ़ पुरुषों के साथ कैसे की जा सकती है?"*

***व्याख्या :*— तीसरे प्रकरण में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर जनक इस चौथे प्रकरण में सारगर्भित रूप में छः ही सूत्रों में दे देते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञानी और अज्ञानी द्वारा किये गये कर्मों में अन्तर होता है। अज्ञानी में अहंकार होता है। वह सभी कर्म अहंकारवश अपने को कर्त्ता मान कर करता है इसीलिए वह कर्म फल का भोक्ता होता है। ज्ञानी में अहंकार नहीं होता जिससे वह कर्त्तापन से मुक्त हो जाता है। इसी कारण उसके द्वारा किये गये कर्म स्वाभाविक एवं विवेकपूर्ण होते हैं जिससे वह कर्म फल का भोक्ता नहीं होता। वह सभी कर्म ईश्वरीय कर्म समझ कर करता है। अज्ञानी सारे कर्म अहंकारवश अथवा वासना एवं भोग की अभिलाषा से करता है**

जिससे वह कर्मफल का भोक्ता बनता है। आत्म-ज्ञानी इनका साक्षी हो जाता है। जो कुछ ईश्वर ने दिया है उसके भोगने में पाप नहीं है बल्कि उसका तिरस्कार करना, उसको अहंकारवश त्याग देना भी पाप ही है, ईश्वरीय नियम के विपरीत है। ज्ञानी कर्मों को स्वाभाविक रूप से करता है, उसकी फलाकांक्षा नहीं होती, वह निष्काम कर्म-योगी हो जाता है, कर्म के प्रति उसका राग-द्वेष, अहंकार आदि नहीं होता, मानसिक तनाव नहीं होता, ऐसी कर्म की कुशलता को वह प्राप्त कर लेता है। जबकि अज्ञानी के कर्म अहंकारवश किये जाते हैं, कर्त्तापन मौजूद रहता है, ईर्ष्या-द्वेष रहता है, मानसिक तनाव रहता है, वह कर्म करके ऐसा अनुभव करता है कि यह सब मैं ही कर रहा हूँ, मैं नहीं होता तो यह कार्य होता नहीं, सारा चौपट हो जाता। वह सारी दुनियाँ का बोझ अपने सिर पर लेकर चलता है कि सारी दुनियाँ मेरे ही चलाने से चल रही है। इसके विपरीत ज्ञानी यह समझता है कि दुनियाँ को ईश्वर चला रहा है, सारी सृष्टि अपने विशिष्ट नियमों से चल रही है, मैं नितान्त मात्र हूँ। ऐसे ज्ञानी में अहंकार नहीं होता। इसी तथ्य को प्रकट करते हुए जनक कहते हैं कि ज्ञानी के कार्यों की तुलना मूढ़ पुरुष के कार्यों के साथ कैसे की जा सकती है। दोनों की दृष्टि में बड़ा अन्तर है। मेवाड़ रियासत में एक ज्ञानी सन्त हुए हैं चतुरसिंह जी। उन्होंने इसी तथ्य को एक मेवाड़ी भाषा के दोहे में प्रकट किया है:—

*रँहट फिरे चरख्यो फिरे पण फरवा में फेर।*
*यो तो बाड़ हर्‌यो करे, वो छूँता रो ढेर।।*

(रँहट भी फिरता है और गन्ना पेरने की चर्खी भी फिरती है किन्तु दोनों के फिरने में बड़ा अन्तर है। एक तो बाड़ को यानि गन्ने को हरा करता है और दूसरा गन्ने को पेर कर छूँतों का ढेर लगा देता है।) ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मों में यही अन्तर है।

ज्ञानी मृत्यु के समय भी हँसता है, मूढ़ जिन्दा रहते भी रोता है। ज्ञानी के पास सब कुछ नहीं होते हुए भी आनन्दित रहता है, अज्ञानी के पास सब कुछ होते हुए भी दुःखी, चिन्तित रहता है। ज्ञानी कर्म को भी खेल समझता है, अज्ञानी खेल को भी कर्म समझता है, ज्ञानी संसार को भी नाटकवत्, स्वप्नवत् समझता है। किन्तु अज्ञानी

**नाटक एवं स्वप्न को भी वास्तविकता समझता है। ज्ञानी व अज्ञानी के कर्मों में समानता होते हुए भी दृष्टि में बड़ा अन्तर होता है। जनक इसी अनुभूति का वर्णन कर रहे हैं।**

## सूत्र २

**यत्पदं प्रेप्सवो दीना शक्राद्याः सर्वदेवताः।**
**अहो तत्र स्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति ।।**

*अनुवाद :— "जिस पद की इच्छा करते हुए इन्द्रादि सम्पूर्ण देवता दीन हो रहे हैं, उस पर स्थित हुआ भी योगी हर्ष को प्राप्त नहीं होता- यही आश्चर्य है।"*

***व्याख्या :***— **इस सूत्र में राजा जनक कहते हैं कि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों कर्म तो करते हैं किन्तु अज्ञानी उन कर्मों के फल की आकांक्षा करता है जिससे वह लाभ-हानि, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि से प्रभावित होता है। इसका मुख्य कारण उसकी इच्छाएँ व अपेक्षाएँ हैं। अज्ञानी कर्म आरंभ करने के पहले ही उसके फल की अपेक्षाएँ निश्चित कर लेता है कि इस कार्य से इतना लाभ होगा। इतना आनन्द मिलेगा। इसी लाभ के आधार पर वह अपने जीवन की आगे की सारी योजनाएँ भी बना लेता है कि इससे मकान बनाऊँगा, कार खरीदूँगा, बच्चों की अच्छी पढ़ाई की व्यवस्था करूँगा आदि। जब उसकी अपेक्षाएँ पूरी नहीं होतीं तो शेखचिल्ली की योजनाओं की भाँति उसके कल्पना के महल ढह जाते हैं जिससे वह दुःखी हो जाता है। यह दुःख पदार्थों से नहीं अपेक्षाओं के कारण होता है। जनक कहते हैं कि इन इच्छाओं के कारण ही इन्द्र भी दीन दुःखी हो रहा है। उसको भी खतरा है कि कोई मेरा सिंहासन छीन न ले। किसी ने कठोर तपस्या की कि इन्द्र का आसन डोलने लगता है। फिर उसे बचाने के लिए वह षड़यंत्र आरंभ कर देता है। इसी भोग की इच्छा के कारण ही सभी देवता दीन हो रहे हैं। कभी इन्द्र के पास और कभी विष्णु के पास, कभी शिव को प्रसन्न करने पहुँच जाते हैं, गिड़गिड़ाते हैं कि हमारा संकट दूर करो।**

देवता व इन्द्र भी वासनाग्रस्त होने से ही इस आत्मारूपी एवं मुक्ति रूपी परम पद को नहीं पा सके हैं। वे इसको पाने की इच्छा के कारण बड़े दीन हो रहे हैं किन्तु जो योगी ऐसे महत्वपूर्ण पद को पाकर भी हर्ष को प्राप्त नहीं होता है यही आश्चर्य है। यानि मैं उस पद को प्राप्त करके भी हर्षित नहीं हूँ क्योंकि द्वन्द्व से ही पार हो गया हूँ। द्वन्द्वातीत स्थिति ही मुक्ति है। मैं अब प्राप्त और अप्राप्त में समभाव से स्थित हूँ। मैं नित्य एवं शाश्वत आत्म-पद पर स्थित हूँ। दीन वह नहीं है जिसके पास कुछ नहीं है बल्कि वह है जो निरंतर अधिक की इच्छा करता है। इच्छाएँ मात्र दीनता का कारण हैं।

## सूत्र ३

**तज्ज्ञस्य पुण्यपापाभ्यां स्पर्शो ह्यन्तर्न जायते।**
**न ह्याकाशस्य धूमेन दृश्यमानाऽपि संगतिः।।**

*अनुवाद :— "उस पद को जानने वाले के अन्तःकरण का स्पर्श वैसे ही पुण्य और पाप के साथ नहीं होता जैसे आकाश का सम्बन्ध भासता हुआ भी धुएँ के साथ नहीं होता।"*

*व्याख्या :—* अन्तःकरण का दोहरा कार्य है। जब यह शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियों के साथ होकर इच्छाओं एवं वासनाओं से ग्रस्त होता है तो यह पाप-पुण्य का भागी होता है किन्तु यह शुद्ध होने पर आत्मा का अनुभव करता है तब यह विकाररहित होने से पाप-पुण्य का भागी नहीं होता। ये पाप-पुण्य के भाव उसका स्पर्श भी नहीं कर पाते। पाप-पुण्य एक धारणा मात्र है, यह कृत्य में नहीं भावना में है, ये शरीरकृत नहीं मानसिक है जिसका प्रभाव अहंकार के कारण होता है। जब चित्तवृत्ति अंहकाररहित हो जाती है तब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। आत्मज्ञानी का अहंकार खो जाता है, कर्त्तापन ही खो जाता है फिर पाप-पुण्य का प्रभाव किस पर हो सकता है। कर्त्तापन ही पाप-पुण्य का कारण है। इसलिए जनक कहते हैं कि उस आत्म-पद को जानने वाले के अन्तःकरण का स्पर्श अब ये पाप-पुण्य नहीं कर सकते जैसे आकाश का धुएं के साथ

कोई सम्बन्ध नहीं होता, आकाश धुएँ से अस्पर्शित ही रहता है। यद्यपि दिखाई ऐसा देता है कि इस धुएँ से सारा आकाश गन्दा हो गया है। ऐसे ही लोग चाहे यह समझें कि ज्ञानी भी संसारी जैसे ही कार्य कर रहा है अतः वह ज्ञानी नहीं है भोगी ही है, पाखंड कर रखा है, दुनियाँ को धोखा देने के लिए ज्ञानी बन बैठा है। उसने कपड़े छोड़े नहीं, महल छोड़े नहीं, सभी राग-रंग वैसा ही है, सब खाता-पीता है, अतः यह ज्ञानी हो ही नहीं सकता। ज्ञानी कैसा होता है, इसकी परिभाषा भी जब अज्ञानी करने लगते हैं तो अपनी मूढ़ता उस पर थोप देते हैं कि ज्ञानी नंगा रहता है, खाता-पीता नहीं है, उपवास करता है, जिसका चेहरा लटका हुआ हो, जिसे एनीमिया हो गया हो, जो कृशकाय हो गया हो, जिसकी बोलने की शक्ति न हो, आँखों में तेज न हो, जो मरे हुए जैसा जीता हो वह ज्ञानी होता है। यदि किसी बन्दर को परमात्मा की आकृति बनाने को कहा जाये तो वह उसकी आकृति बन्दर जैसी ही बनायेगा, वह मनुष्य जैसी क्यों बनायेगा। जनक को ज्ञान प्राप्त हुआ इसलिए वे इसकी सही व्याख्या दे पा रहे हैं। इस कारण को भी अष्टावक्र जैसा ज्ञानी गुरु ही समझ सकता है। अज्ञानी इसे समझ ही नहीं पायेगा कि जो घटा है वह वास्तविक है अथवा भ्रान्ति ही है।

## सूत्र ४

**आत्मैवेदं जगत्सर्वं ज्ञातं येन महात्मना।**
**यदृच्छया वर्त्तमानं तं निषेद्धुं क्षमेत कः ॥**

*अनुवाद :—"जिस महात्मा ने इस सम्पूर्ण जगत् को आत्मा की तरह जान लिया है, उस ज्ञानी को अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार करने से कौन रोक सकता है।"*

*व्याख्या* :— जो अपने को आत्मा से भिन्न मानकर मन एवं अहंकारवश जो कर्म करता है वही कर्म उसे पाप-पुण्य का फल देते हैं तथा उन कर्मों के फल का भोक्ता भी वही मन और अहंकार होता है किन्तु जो इनसे पार चैतन्य आत्मा में स्थिर हो गया, जिसने इस

सम्पूर्ण जगत् को आत्मा की तरह जान लिया है तो फिर न कर्म करने वाला बचता है न उसका फल भोगने वाला क्योंकि आत्मा न कर्त्ता है न भोक्ता तथा जो मन और अहंकार कर्त्ता भोक्ता था वह जा चुका। अब उसका अस्तित्व ही नहीं है इसलिए पाप-पुण्य होता ही नहीं है। जनक यही बात कह रहे हैं कि जिस महात्मा ने इस सम्पूर्ण जगत् को आत्मा की तरह जान लिया है उस ज्ञानी को अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार करने से कौन रोक सकता है। ऐसा व्यक्ति सामाजिक, राजनैतिक, व्यावहारिक, शास्त्रीय आदि सभी बन्धनों से मुक्त होकर केवल ईश्वरीय नियमों के अनुसार कार्य एवं व्यवहार करता है, उसका समस्त कार्य एवं व्यवहार स्व-विवेक पर आधारित होता है। इसलिए वह अपनी इच्छा यानि आत्मा की इच्छानुसार कार्य करता है। वह मन बुद्धि, अहंकार व शरीर आदि की इच्छा अनुसार नहीं चलता। इन सब बन्धनों से वह मुक्त होकर परम स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। जब दूसरा मौजूद है तभी पाप-पुण्य की संभावना होती है। जब दो हैं ही नहीं तो कौन पाप करने वाला है, किसके साथ पाप किया जायेगा, कौन भोक्ता है, कौन भोग्य है। यह पाप-पुण्य द्वैत की ही भाषा है, अज्ञानी की भाषा है। ज्ञानी में एकत्व भाव आ जाता है, भिन्नता ही मिट जाती है, दो का भेद ही समाप्त हो जाता है फिर कैसा पाप-पुण्य? जिस प्रकार शरीर का एक अंग किसी दूसरे अंग को कष्ट नहीं पहुँचाता एवं सहयोग ही करता है। यदि भूल-चूक में कष्ट पहुँचा भी दिया तो न तो दूसरा अंग उसका बदला लेता है, न उससे क्षमा ही मँगवाता है, न पहले अंग को कोई पाप ही लगता है कि वह इस कर्म का फल भुगतेगा ही, वह अंग नरक में जायेगा, बाकी अंग स्वर्ग जायेंगे। ऐसा कभी होता नहीं। यह पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, दया, क्षमा आदि द्वैतवादी धर्म की मान्यताएँ हैं जो मात्र अज्ञानी के लिए हैं। अद्वैत को उपलब्ध हुआ ज्ञानी इन सबसे पार हो जाता है। उसे एकत्व का बोध हो जाता है फिर कोई पाप-पुण्य नहीं है।

卐

# सूत्र ५

**आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते भूतग्रामे चतुर्विधे।**
**विज्ञस्यैव हि सामर्थ्यमिच्छाऽनिच्छाविवर्जने।।**

*अनुवाद :— "ब्रह्मा से चींटी पर्यन्त चार प्रकार के जीवों के समूह में ज्ञानी की ही इच्छा और अनिच्छा को रोकने में सामर्थ्य है।"*

***व्याख्या** :—* **जिस प्रकार ज्ञानी एवं अज्ञानी के कार्यों एवं व्यवहारों में भिन्नता दिखाई देती है उसी प्रकार ज्ञानियों तथा अज्ञानियों द्वारा निर्मित शास्त्रों में भी भिन्नता दिखाई देती है। सभी ज्ञानियों की एक ही दृष्टि होती है किन्तु अज्ञानियों में सभी की दृष्टि भिन्न-भिन्न होती है। दादू ने कहा है :—**

*जे पहुँचे ते कहि गये, तिनकी एके बाति।*
*सबै सयाने एक मति, उनकी एके जाति।।*

**ज्ञानी के कोई सम्प्रदाय नहीं होते, उनकी कोई जाति नहीं होती, उनमें मतभेद नहीं होता, सिद्धान्तों व कार्यों में भिन्नता नहीं होती। वे सभी एक ही बात कहते हैं। जो सत्य है वही कहते हैं। असत्य अनेक प्रकार के होते हैं किन्तु सत्य एक ही है। एक बार एक न्यायाधीश ने दस गवाह बुलाये। वकील दस ही सूफी पकड़ कर ले गया। न्यायाधीश ने कहा कि मैं इन दस सूफियों को एक ही गवाह मानूँगा क्योंकि सभी सूफी एक ही बात कहते हैं अतः यह एक ही गवाह हुआ। नौ कोई दूसरे लाओ। यह ज्ञानी का ढंग है किन्तु अज्ञानियों के अनेक ढंग हैं, अनेक विचार हैं, अनेक सिद्धान्त हैं, यहाँ तक कि उनके धर्म और ईश्वर भी अनेक हैं, आत्माएँ भी अनेक हैं किन्तु ज्ञानी इन सबके पार एक की ही अनुभूति करता है, समस्त सृष्टि को एक समझता है। कुछ अज्ञानी कहते हैं कि इच्छाएँ छोड़ो, वासनाएँ छोड़ो, संसार छोड़ो, लोभ, मोह, माया, ममता, धन, दौलत सब छोड़ो, तब तुम्हें ज्ञान होगा। वे छोड़ने को पाने का नियम मानते हैं किन्तु ज्ञानी जनक कहते हैं कि ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त चार**

प्रकार के जीव समूहों में कोई भी अपनी इच्छा को और अनिच्छा को रोकने में समर्थ नहीं है। सृष्टि का निर्माता जिसे ब्रह्मा कहते हैं वह भी इच्छाओं से ग्रस्त है, सृष्टि-निर्माण की उसकी भी इच्छा है। विष्णु, महेश, इन्द्र आदि अनेक देवी-देवता भी इच्छाओं एवं वासनाओं से ग्रस्त हैं। फिर मनुष्य, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु अपनी इच्छाएँ कैसे छोड़ सकते हैं? इन सबमें केवल आत्म-ज्ञानी ही इन इच्छाओं और अनिच्छाओं दोनों को रोकने में समर्थ है, अन्य कोई नहीं। इसलिए छोड़ने से ज्ञान नहीं होता बल्कि ज्ञानावस्था में जब सत्य का बोध हो जाता है तो जो असार है वह अपने आप छूट जाता है, छोड़ना नहीं पड़ता। ज्ञानी जनक के सत्य-प्रति का यही सार है कि पाना ही नियम है छोड़ना नियम नहीं है। क्या छोड़ना है और क्या ग्रहण करना है यह ज्ञानी विवेक से निर्धारित करता है।

## सूत्र ६

**आत्मानमद्वयं कश्चिज्जानाति जगदीश्वरम्।**
**यद्वेत्ति तस्य कुरुते न भयं तस्य कुत्रचित्॥**

*अनुवाद :— "कोई विरला ही आत्मा को अद्वय और जगदीश्वर रूप में जानता है। वह जिसे करने योग्य मानता है उसे करता है।"*

*व्याख्या :—* जनक कहते हैं कि संसार में नये-नये मुखौटे लगा कर अनेक लोग ज्ञानी बने घूमते हैं। कोई नंग-धड़ंग, कोई चिमटा लिये, कोई त्रिशूल लिये, कोई खप्पर व खोपड़ी लिये, कोई तिलक छापा लगाये, कोई धुनी रमाते, कोई पंचाग्नि तप करते, कोई घंटा घड़ियाल बजाते न जाने किस-किस भेष व रूपों में देखे जा सकते हैं फिर कोई द्वैतवादी, कोई अद्वैतवादी, कोई निरंकारी, कोई सनातनी, कोई कबीरपंथी, कोई नानकपंथी, कोई शैव, कोई वैष्णव आदि किन्तु इनमें विरला ही कोई आत्मा को अद्वय जानता है कि आत्मा एक ही है एवं यह सम्पूर्ण सृष्टि उसी का फैलाव है। वही आत्मा जगदीश्वर है, उसी से सृष्टि है। सृष्टि व आत्मा तथा ईश्वर

**भिन्न नहीं है, सृष्टि व सृष्टा भिन्न नहीं है ऐसा कोई विरला ही जानता है एवं ऐसा जानने वाला हीं ज्ञानी है। ऐसा ज्ञानी जिसे करने योग्य मानता है वही करता है। किसी दूसरे के अधीन होकर नहीं करता। उसे किसी का भय भी नहीं है क्योंकि वह मन व अहंकार से ऊपर उठ चुका है। भय मात्र द्वैत के कारण होता है अद्वैत में भय होता ही नहीं।**

**राजा जनक ने अपने पूछे गये प्रश्नों का उत्तर सार-संक्षेप में रख दिया।**

*। इति श्री अष्टावक्रगीतायां चतुर्थं प्रकरणं समाप्तम् ।*

— ० —

# पाँचवाँ प्रकरण

## (देहाभिमान के त्याग से ही मोक्ष की प्राप्ति)

---

## सूत्र १

अष्टावक्र-उवाच

**न ते सङ्गोऽस्ति केनापि किं शुद्धस्त्यक्तु मिच्छसि।**
**संघातविलयं कुर्वन्नेवमेव लयं व्रज।।**

*अनुवाद :— अष्टावक्र राजा जनक को मोक्ष का उपाय बताते हुए कहते हैं :—"तेरा किसी से भी संग नहीं है इसलिए तू शुद्ध है, फिर किसको त्यागना चाहता है। इस प्रकार देहाभिमान के त्याग की इच्छा करके लय (मोक्ष) को प्राप्त हो।"*

**व्याख्या :— राजा जनक के उत्तर सुनकर अष्टावक्र को विश्वास हो गया कि इसे आत्म-ज्ञान हो चुका है क्योंकि आत्म-ज्ञानी की जैसी स्थिति होती है, वैसा ही वह अनुभव कर रहा है। अब इस प्रकरण में वे जनक को मोक्ष का उपदेश करते हैं। अष्टावक्र कहते हैं कि जब आत्म-ज्ञान की स्थिति में तूने जान लिया है तू शुद्ध चैतन्य मात्र आत्मा है, तेरा कोई संगी-साथी नहीं है, तू अकेला है फिर तू किसे त्यागना चाहता है। त्याग उसका किया जाता है जिसे तुम अपना मानते हो। जो तुम्हारा है ही नहीं उसका तुम त्याग कैसे कर सकते हो? यह सब जिसे तुम अपना समझ रहे हो वह मात्र देहाभिमान के कारण है। देहाभिमान से ही यह संसार अनंत शरीरों वाला दिखाई देता है तथा मनुष्यों में जो परस्पर सम्बन्ध हैं वे सब देहाभिमान के कारण ही हैं। इस देहाभिमान के कारण ही आत्माओं**

**में भी भेद दिखाई देता है कि जितने देह हैं उतनी ही आत्माएँ हैं, देह अनंत हैं इसलिए आत्माएँ भी अनंत हैं। यह मेरा, तेरा, अपना, पराया आदि के समस्त भेद भी देहाभिमान के कारण हैं। इसी देहाभिमान के कारण ही लोग वस्तुओं को अपनी समझ कर दान करते हैं, उनका त्याग करते हैं। यह मोह, लोभ, ममता आदि भी देहाभिमान के कारण ही हैं। यह धन-दौलत, महल, पत्नी, पुत्र, सम्बन्धी आदि छोड़ने से कुछ नहीं होगा। देहाभिमान ही सबसे बड़ा बन्धन है। इसके त्याग से ही मोक्ष हो जाता है। यह देहाभिमान ही अज्ञान है, दीया जलने पर अँधेरे का त्याग नहीं करना पड़ता, जो है ही नहीं उसका त्याग कैसा? इस देहाभिमान के कारण ही तुम्हें यह भ्रान्ति हो गई थी कि यह मेरा है इसलिए त्याग की बात सोचते हो। ज्ञान के प्रकाश में ही तुम्हें इस सत्य का ज्ञान हो सकता है। इस देहाभिमान की भ्रान्ति का मिट जाना ही मोक्ष है अतः तू इसे मिटाकर मोक्ष को प्राप्त हो।**

# सूत्र २

**उदेति भवतो विश्वं वारिधेरिव बुद्बुदः।**
**इति ज्ञात्वैकमात्मानमेवमेव लयं व्रज।।**

*अनुवाद :— "तुझसे संसार उत्पन्न होता है जैसे समुद्र से बुलबुला। इस प्रकार आत्मा को एक जान मोक्ष को प्राप्त हो।"*

***व्याख्या :—*** **अष्टावक्र मोक्ष का उपाय बताते हुए कहते हैं कि यह आत्मा समुद्र के समान है एवं यह संसार उस समुद्र में उठे बुद्बुदे की भाँति है इसलिए यह संसार तुझ आत्मा से भिन्न नहीं है। समस्त सृष्टि एक है। इस प्रकार के एकत्व भाव को ग्रहण करके तू मोक्ष को प्राप्त हो। देवी भागवत में भी कहा है—यह बन्ध और मोक्ष मन के ही धर्म हैं, मन के शान्त होने से बन्ध और मोक्ष का नाम भी नहीं रहता। आत्मा में मन के लय करने से सारा जगत् लय को प्राप्त हो जाता है। अष्टावक्र कहते हैं कि जब तक आत्मा के एकत्व का बोध नहीं होता तब तक मोक्ष नहीं है।**

# सूत्र ३

**प्रत्यक्षमप्यवस्तुत्वाद्विश्वं नास्त्यमले त्वयि।**
**रज्जुसर्प इव व्यक्तमेवेमेव लयं व्रज।।**

*अनुवाद :— "दृश्यमान जगत् प्रत्यक्ष होता हुआ भी रज्जु सर्प की भाँति तुझ शुद्ध के लिये नहीं है। इसलिए तू मोक्ष को प्राप्त हो"*

***व्याख्या :—*** **अज्ञानी को यह दृश्यमान जगत् स्थूल होने से प्रत्यक्ष दिखाई देता है क्योंकि उसे इस आत्म-तत्व का कुछ पता नहीं है। किन्तु उसके पीछे जो सूक्ष्म है वह इन्द्रियों का विषय नहीं होने से प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता। आत्म-ज्ञानी ही इस तत्व को जानने में सक्षम है। अतः अष्टावक्र कहते हैं कि यह दृश्यमान जगत् प्रत्यक्ष होता हुआ भी रज्जु सर्प की भाँति तुझ शुद्ध, चैतन्य, आत्म-ज्ञानी के लिए सत्य नहीं है। तेरे लिए तो एकमात्र यह आत्मा ही सत्य है। ऐसा मानकर तू मोक्ष को प्राप्त हो। आत्म-तत्व में दृढ़ निष्ठा वाला होना ही मुक्ति है।**

# सूत्र ४

**समदुःखसुखपूर्ण आशानैराश्ययोः समः।**
**समजीवितमृत्युः सन्नेवमेव लयं व्रज।।**

*अनुवाद :— "दुःख और सुख जिसके लिए समान है, जो पूर्ण है, जो आशा और निराशा में समान है, जीवन और मृत्यु में समान है। ऐसा होकर तू मोक्ष को प्राप्त हो।"*

***व्याख्या :—*** **अष्टावक्र कहते हैं कि जब तूने यह जान लिया है कि यह आत्मा पूर्ण है और मैं शरीर नहीं आत्मा ही हूँ इसलिए मैं भी पूर्ण ही हूँ। यह सुख-दुःख मन के धर्म हैं, आशा-निराशा चित्त के धर्म हैं तथा जीवन और मृत्यु शरीर के धर्म हैं। तू इन तीनों से परे चैतन्य आत्मा है जो साक्षी है। अतः ये आत्मा के धर्म कदापि नहीं**

हैं। इसलिए जब तूने अपने को आत्मा जान लिया तो तेरे लिए ये सब समान हैं। तुझे न इनसे प्रसन्नता है न दुःख। ऐसा स्थितप्रज्ञ होकर तू मोक्ष को प्राप्त हो।

अष्टावक्र इन चार सूत्रों में मुक्ति का उपदेश करते हैं कि :— देहाभिमान का त्याग, अद्वैत आत्मा का बोध, जगत् की भ्रान्ति का त्याग तथा द्वन्द्वों में समत्व-बुद्धि का होना ये चार धारणाएँ आत्म-ज्ञानी को मुक्त करा देती हैं।

*। इति अष्टावक्रगीतायां पंचमं प्रकरणं समाप्तम् ।*

— ० —

# छठा प्रकरण

**(आत्मा आकाश की भाँति है। उसका त्याग और ग्रहण नहीं है)**

---

## सूत्र १

जनक-उवाच

**आकाशवदनन्तोऽहं घटवत्प्राकृतं जगत्।**
**इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ।।**

*अनुवाद :— "मैं आकाश की भाँति अनंत हूँ। यह संसार घड़े की भाँति प्रकृतिजन्य है, ऐसा ज्ञान है। इसलिए न इसका त्याग है, न ग्रहण और न लय है। "*

**व्याख्या :— पाँचवें प्रकरण में अष्टावक्र राजा जनक के आत्म-ज्ञान पर आश्वस्त होकर उन्हें मुक्ति का उपाय बताते हैं। साथ ही वे परोक्ष रूप से उनकी परीक्षा भी ले रहे हैं कि इसे मोक्ष की चाह है या नहीं। यदि चाह है तो इसका अर्थ है अभी मोक्ष हुआ नहीं। जहाँ न कुछ पाने को है, न छोड़ने को, न राग है, न विराग, न आसक्ति है न विरक्ति, यहाँ तक कि न संसार है न मुक्ति; चित्त की ऐसी शून्य एवं जाग्रत अवस्था का नाम ही मोक्ष है। यहाँ पहुँचा हुआ व्यक्ति शुद्ध चैतन्यमात्र रह जाता है। समाधि की स्थिति में जब व्यक्ति शून्यावस्था को प्राप्त हो जाता है तब उसे ब्रह्मात्मैक्य का बोध हो जाता है। वह व्यष्टि न रह कर समष्टि के साथ एक हो जाता है, वह पूर्ण सत्तावान् ब्रह्म को जान लेता है, जान लेने से वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है, वह सत्य को जानकर स्वयं सत्य हो जाता है। इस स्थिति**

में पहुँचने से पूर्व कई क्रियाएँ करनी पड़ती हैं किन्तु पहुँचने पर उन सबको छोड़ना भी आवश्यक हो जाता है वरना वे ही क्रियाएँ उसका बन्धन बन जाती हैं। नदी पार करके किनारा आने पर नाव भी छोड़नी पड़ती है। फिर उसको ढोना मूर्खता ही है। पहुँचने पर शास्त्र, कर्म-विधि, विधान, ध्यान, धारणा, समाधि आदि सब छोड़ना आवश्यक हो जाता है क्योंकि इनकी उपयोगिता ही समाप्त हो गई। ज्ञान-प्राप्ति के लिए ही इनकी उपयोगिता थी अब सब व्यर्थ हो गये, मंदिर, पूजा, उपासना सब व्यर्थ हो गये। जीवन में इनकी उपयोगिता है, मोक्ष में इनकी कोई उपयोगिता नहीं है। संसार जागने के लिए बनाया गया है कि यहाँ सुख-दुःख आदि सब द्वन्द्वों का अनुभव करके तुम जागो। अष्टावक्र जनक की मुक्तावस्था की स्थिति को जानने हेतु जो उपदेश देते हैं जनक उनका उत्तर देते हुए कहते हैं कि— मैं शरीर नहीं आत्मा हूँ। जिस प्रकार यह आकाश अनन्त है, असीम है, इसकी कोई सीमा नहीं है उसी प्रकार मैं आत्म-रूप होने से इस आकाश की भाँति ही अनन्त हूँ। यह संसार उसी आत्मा का साकार रूप है, उसी का स्थूल रूप है जो घट की भाँति है। जब यह सम्पूर्ण सृष्टि एक ही आत्म-तत्व है तो फिर इसका त्याग, ग्रहण और लय कैसे व किसमें हो। त्याग, ग्रहण व लय में दो का होना आवश्यक है तब एक का त्याग, ग्रहण व लय दूसरे में होता है, अन्यथा नहीं। जब मैंने देख लिया कि आत्मा एक ही है व वही सत्य है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किंचन' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' तो फिर किसका किसमें लय हो, क्या त्याग हो और क्या ग्रहण हो।

# सूत्र २

**महोदधिरिवाहं स प्रपञ्चो वीचिसन्निभः।**
**इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ।।**

*अनुवाद :— "मैं समुद्र के समान हूँ, यह संसार तरंगों के समान है, ऐसा ज्ञान है। इसलिए न इसका त्याग है, न ग्रहण और न इसका लय है।"*

*व्याख्या* :— जनक दूसरा उदाहरण देते हुए कहते हैं कि मैं आत्म-रूप होने से समुद्र के समान हूँ एवं यह जगत् मेरी ही तरंगों के समान है, ऐसा ज्ञान मुझे हो चुका है। भिन्नताएँ जो भ्रान्तिवश प्रतीत हो रही थीं सब मिट चुकी हैं इसलिए न इसका त्याग है न ग्रहण है न इसका लय है। ऊपर के उदाहरण में आकाश एवं घट में भी भिन्नता की प्रतीति होती है कि घट एवं आकाश भिन्न तत्व हैं। इसलिए जनक इस दूसरे उदाहरण में लहर और सागर का उदाहरण देकर अद्वैत की स्थिति को स्पष्ट करते हैं कि आत्मा एक ही है, इसका न निर्माण होता है न विनाश। इसलिए न इसे छोड़ा जा सकता है, न ग्रहण किया जा सकता है, न इसका किसी में लय ही होता है।

# सूत्र ३

**अहं स शुक्ति सङ्काशो रूप्यवद्विश्वकल्पना।**
**इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः।।**

*अनुवाद :— "मैं सीपी के समान हूँ, विश्व की कल्पना चाँदी के समान है। ऐसा ज्ञान है। अतएव इसका न त्याग है, न ग्रहण है, न लय है।"*

*व्याख्या* :— ऊपर के उदाहरण में समुद्र और उसकी तरंगों में फिर थोड़ी भिन्नता दिखाई देती है अतः जनक इस सूत्र में तीसरा उदाहरण देकर और स्पष्ट करते हैं कि यह जगत् समुद्र व तरंगों की भाँति भी नहीं है क्योंकि लहरों का लय समुद्र में होना संभव है। किन्तु मैं (आत्मा) सीपी के समान सत्य हूँ एवं इस विश्व की कल्पना उस सीपी में चाँदी की भ्रान्ति के समान है। अतः भ्रान्तिरूप होने से न इसका त्याग है, न ग्रहण है, न लय है। ऐसा ज्ञान है।

# सूत्र ४

**अहं वा सर्वभूतेषु सर्वभूतान्यथो मयि।**
**इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः।।**

*अनुवाद :— "मैं निश्चित ही सब भूतों में हूँ और ये सब भूत मुझमें हैं। ऐसा ज्ञान है। इसलिए न इसका ग्रहण है, न त्याग है, न लय है।"*

**व्याख्या :— उपरोक्त तीनों उदाहरणों में अद्वैत की पूर्ण व्याख्या नहीं हो पाई। इनमें भी थोड़ी-थोड़ी भ्रान्ति रह ही जाती है अतः जनक इस चौथे उदाहरण द्वारा और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मैं आत्म-रूप होने से सभी भूत पदार्थों में हूँ तथा ये सभी भूत मुझमें हैं। ऐसी आत्मा एवं सृष्टि की अभिन्न स्थिति है। ये समस्त भूत-समुदाय शारीरिक रूप से भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हुए भी सभी मेरे ही रूप हैं। रूप और अरूप का, सूक्ष्म और स्थूल का, निराकार और साकार का तत्वतः कोई भेद नहीं होता। वाष्प भी जल ही है व जल भी वाष्प ही है। केवल आकार-भेद से तत्व में भेद नहीं होता। ऐसी ही आत्मा और सृष्टि है। इसलिए न इसका त्याग है, न ग्रहण है, न लय है।**

**इस अद्वैत को और भी कई उदाहरणों से समझाया जाता है जैसे सूत और वस्त्र, माला की मणियाँ व धागा, आकाश और उसकी नीलिमा आदि। ऐसा ही सृष्टि एवं आत्मा (ब्रह्म) का सम्बन्ध है।**

*। इति अष्टावक्रगीतायां षष्ठं प्रकरणं समाप्तम् ।*

— ० —

# सातवाँ प्रकरण

**(आत्मा अनन्त महासागर के समान है व जगत् उसकी लहर)**

---

## सूत्र १

जनक-उवाच

**मय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वपोत इतस्ततः ।**
**भ्रमति स्वान्तवातेन न ममास्यसहिष्णुता ।।**

*अनुवाद :— "मुझ अन्तहीन महासमुद्र में विश्वरूपी नाव अपनी ही प्रकृत वायु से इधर-उधर डोलती है। मुझे असहिष्णुता नहीं है।"*

**व्याख्या :— पूर्व अध्याय में जनक कहते हैं कि यह विश्व अपनी स्वाभाविक गति से चल रहा है। मेरे ज्ञानी हो जाने से विश्व की गति में कोई परिवर्तन नहीं आ गया। बल्कि मेरी दृष्टि बदल गई जिससे पहले मैं उसमें लिप्त था, उसकी गति से प्रभावित था किन्तु अब मैं साक्षी होकर, दृष्टा होकर देख रहा हूँ। अब मैं उससे प्रभावित नहीं हो रहा हूँ। इससे मेरे में त्याग, ग्रहण और लय के विचार ही नहीं उठते। मैं आत्म-स्वरूप हो गया हूँ फिर ये विचार किससे उठें। विचार मात्र मन के हैं। आत्मा में कोई विचार नहीं हैं। इसी क्रम में वे आगे इस सूत्र में अपनी मुक्तावस्था का वर्णन करते हैं कि मैं आत्मा हूँ जो उस अन्तहीन महासमुद्र के समान हूँ। इसमें यह विश्वरूपी नाव अपनी प्रकृत वायु से इधर-उधर डोलती है। कोई दूसरा इस वायु को नहीं चलाता किन्तु मैं तटस्थ होकर, साक्षी होकर**

इसे देख रहा हूँ। मुझे असहिष्णुता नहीं है, मैं इससे प्रभावित नहीं होता हूँ। यह सारा उपद्रव, अशांति आदि लहरों तक ही सीमित है, समुद्र गहराई में प्रभावित नहीं होता। इसी प्रकार मनुष्य की सारी अशांति का कारण मन है। मन में ही कामनाओं, वासनाओं की तरंगें उठती हैं, यह मन का स्वभाव है। जो नहीं है उसकी माँग है, जो है उसमें सन्तोष नहीं है, अधिक चाहिये, कोई धन पाने के लिए अशांत है, तो कोई पद के लिए, कोई सम्मान के लिए तो धार्मिक व्यक्ति ईश्वर तथा मोक्ष पाने के लिए ही अशांत है, लोग भिन्न-भिन्न कारणों से अशांत हैं किन्तु मेरे में सहिष्णुता है। मैं अपने स्वभाव को उपलब्ध हो गया हूँ, स्वाभाविक जीवन जी रहा हूँ अतः मैं पूर्णतया शान्त हूँ। मैं शान्त होने की चेष्टा भी नहीं करता। चेष्टा ही अशांति का कारण है। जो हो रहा है सब ठीक है, सब स्वीकार है, कोई चुनाव नहीं, अच्छे-बुरे का कोई भेद नहीं, कोई संकल्प-विकल्प नहीं, न मैं हिंसक हूँ न अहिंसक बनने का प्रयत्न करता हूँ, न संसार छोड़ा न संन्यास ग्रहण किया, न पश्चाताप करता हूँ न क्षमा याचना, न त्याग का आग्रह है न ग्रहण का। यही आत्मा का स्वभाव है और मैं उसमें स्थित हुआ शांत हूँ।

## सूत्र २

**मय्यनन्तमहाम्भोधौ जगद्वीचिः स्वभावतः।**
**उदेतु वास्तमायातु न मे वृद्धिर्न च क्षतिः ।।**

*अनुवाद :— "मुझ अन्तहीन महासमुद्र में जगत् रूपी लहर स्वभाव से उदय हो, चाहे मिटे। मेरी न वृद्धि है न हानि।"*

*व्याख्या :—* जनक कहते हैं कि महासमुद्र में जिस प्रकार से तरंगें उठती हैं अथवा शान्त हो जाती हैं तो उनसे न समुद्र की कोई वृद्धि होती है न कमी। इसी प्रकार चित्त रूपी वायु से आत्मा में जो वासनाओं, कामनाओं आदि की तरंगें चाहे उठें या मिटें मैं आत्मरूप होने से मेरी न कोई वृद्धि है न हानि। यह सारी वृद्धि और हानि अहंकार की होती है। अहंकार प्रतिष्ठा माँगता है। न मिलने पर वह

**अपने को छोटा समझने लगता है, प्रतिष्ठा मिलने पर अपने को बड़ा समझने लगता है, फुग्गे की तरह फूलता व पिचक जाता है। संसारी तो प्रतिष्ठा मांगते ही हैं, साधु-संन्यासी भी माँगते हैं। वे भी बैंड बाजे बजवाते हैं, जय-जयकार करवाते हैं, शोभा-यात्रा निकलवाते हैं, तालियाँ बजवाते हैं, ऊँचे आसन पर ही बैठते हैं, यह सारा पाखंड पूज्य बनने के लिए करते हैं। वे अस्वाभाविक हैं, जो इन अहंकार की तरंगों से प्रभावित हैं। जनक कहते हैं मैं इन सबसे अप्रभावित हूँ अतः मेरी न वृद्धि है न हानि।**

## सूत्र ३

**मय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वं नाम विकल्पना।**
**अतिशान्तो निराकार एतदेवाहमास्थितः।।**

*अनुवाद :— "मुझ अन्तहीन महासमुद्र में निश्चय ही संसार कल्पना मात्र है। मैं अत्यन्त शांत हूँ, निराकार हूँ और इसी अवस्था में स्थित हूँ।"*

*व्याख्या :—* **जनक कहते हैं कि मैं आत्मारूपी अन्तहीन समुद्र हूँ जिसमें यह संसार कल्पना मात्र है। जब इसका अस्तित्व ही नहीं है तो यह मुझे कैसे प्रभावित कर सकता है। पहले इस कल्पना को, भ्रम को ही मैं वास्तविक समझता था इसलिए यह मुझे प्रभावित करता था, अशांत करता था। अब मैं अपने को निराकार रूप में समझकर अत्यन्त शान्त हूँ। अब मेरे में कोई विक्षेप नहीं है। ये सारे विक्षेप मन के कारण थे। आत्म-रूप मुझमें कोई विक्षेप नहीं हो सकता।**

## सूत्र ४

**नात्मा भावेषु नो भावस्तत्रानन्ते निरञ्जने।**
**इत्यसक्तोऽस्पृहः शान्त एतदेवाहमास्थितः।।**

*अनुवाद :— "आत्मा विषयों में नहीं है और विषय उस अनन्त निरंजन (निर्दोष) आत्मा में नहीं है। इस प्रकार मैं अनासक्त हूँ, स्पृहा मुक्त हूँ, और इसी अवस्था में स्थित हूँ। "*

**व्याख्या :— राजा जनक कहते हैं कि शरीर के साथ इन्द्रियाँ और मन है। यह मन सदैव विषयों की ओर आकर्षित होता है तथा इन्द्रियों की सहायता से उन्हें भोग कर तृप्त होता है। शरीर नहीं रहने पर इन्द्रियां भी नहीं रहतीं किन्तु मन सूक्ष्म शरीर के साथ रहने से उसकी विषय-भोगों के प्रति रुचि बनी रहती है। इसी वासना के कारण वह पुनः नया शरीर ग्रहण करता है। इसलिए संसार के सभी विषयों का सम्बन्ध केवल शरीर और मन तक ही है। ये ही कर्त्ता और भोक्ता हैं, ये ही विषयों का भोग करते हैं। मैं इनसे परे आत्म-स्वरूप हूँ जो न कर्त्ता है न भोक्ता। अतः इस आत्मा का विषयों से कोई सम्बन्ध नहीं है। न आत्मा विषयों में है और न ये विषय उस अनन्त, निर्दोष आत्मा में है, इसलिए मैं आत्मा होने से सदा इन विषयों के प्रति अनासक्त हूँ, विषयों के प्रति आसक्ति केवल मन व शरीर की है मेरी नहीं। इसलिए मैं स्पृहामुक्त हूँ, मेरी विषयों में कोई इच्छा नहीं है। ऐसी अवस्था में मैं स्थित हूँ।**

# सूत्र ५

**अहो चिन्मात्रमेवाहमिन्द्रजालोपमं जगत्।**
**अतो मम कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना।।**

*अनुवाद :— "अहो! मैं चैतन्य मात्र हूँ। संसार इन्द्रजाल की भाँति है। तब मेरी हेय और उपादेय की कल्पना किसमें हो। "*

**व्याख्या :— जनक कहते हैं कि मैं आत्म-स्वरूप हूँ तथा आत्मा के लिए यह समस्त संसार इन्द्रजाल की भाँति, माया एवं भ्रम दिखाई देता है। यह माया जाल मन और इन्द्रिय को ही प्रभावित कर सकता है जिसमें अज्ञान है। आत्मा ज्ञान-स्वरूप है वह इससे प्रभावित नहीं होती। वह इस सारे खेल को दृष्टा होकर देखती है। जब तक अज्ञान था तब तक मैं इस इन्द्रजाल को सत्य समझता था जिससे हेय**

और उपादेय, अच्छा-बुरा, लाभ-हानि, शुभ-अशुभ आदि की अनेक कल्पनाएँ करता था। अब मुझे आत्म-बोध हो चुका है जिससे अब अपने को इन सबसे परे आत्म-स्वरूप मानता हूँ इसलिए यह संसार मुझे इन्द्रजाल से अधिक महत्व का ज्ञात नहीं हो रहा है, अब मैं इससे अप्रभावित हूँ, इसमें हेय की तथा उपादेय की कल्पना भी नहीं कर सकता। अब सब कल्पनाएँ ही व्यर्थ हो चुकी हैं। जब सब कुछ पा लिया, पाने को कुछ शेष नहीं बचा फिर कल्पना किसकी की जाये। इस संसार में न कुछ पाने को है, न छोड़ने को। भोग व त्याग दोनों कल्पनाएँ हैं जो कुछ पाने के लिए की जाती हैं। हेय और उपादेय, अच्छा-बुरा, शुभ-अशुभ आदि की सारी कल्पनाओं के पीछे प्राप्ति की वासना ही हैं। जब वासना ही नहीं रही तो ये भेद अपने आप छूट गये। मैं स्वभाव से जो हो रहा है उसमें संतुष्ट हूँ, कोई चुनाव नहीं है। मैं दोनों का साक्षी होकर चैतन्य में स्थित हूँ।

*। इति अष्टावक्रगीतायां सप्तमं प्रकरणं समाप्तम् ।*

— ० —
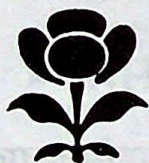
# आठवाँ प्रकरण

## (मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है)

---

## सूत्र १

अष्टावक्र-उवाच

**तदा बन्धो यदा चित्तं किञ्चिद्वाञ्छति शोचति।**
**किञ्चिन्मुञ्चति गृहणाति किञ्चिद्धृष्यति कुप्यतिः ।।**

*अनुवाद :— "इस प्रकरण में अष्टावक्र मुक्ति और बन्ध की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि :—"जब चित्त कुछ चाहता है, कुछ सोचता है, कुछ त्याग करता है, कुछ ग्रहण करता है, जब दुःखी और सुखी होता है- तब बन्ध है।"*

***व्याख्या :***— **अष्टावक्र के उपदेश से राजा जनक को तत्व-बोध हो गया। अष्टावक्र ने विभिन्न प्रश्नों द्वारा उनकी परीक्षा की एवं जनक उसमें भी खरे उतरे। अष्टावक्र इनसे संतुष्ट हो गये किन्तु अन्तिम रूप से बन्ध और मुक्ति की संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकरण के इन चार सूत्रों में सार रूप में देते हुए कहते हैं :—हे जनक! यह बन्ध कोई भौतिक नहीं है। संसार में कोई बाँधा जा सकता है किन्तु उसकी चेतना, उसके मन, विचार आदि को नहीं बाँधा जा सकता। मनुष्य स्वयं देहाभिमान के कारण, वासनाओं और इच्छाओं के कारण अपने आप बँधता है और फिर दुःखी होता है। उसके दुःख का कारण कोई दूसरा नहीं, वह स्वयं ही है। आत्मा से भिन्न यह चित्त है। यह चित्त ही समस्त विचारों, वासनाओं, इच्छाओं का केन्द्र है। इसी से संसार भासता है। इसी के कारण सुख-दुःख का**

अनुभव होता है। यह चित्त विषयों की इच्छा वाला होकर उसे भोगने हेतु उसकी प्राप्ति की इच्छा करता है। इसी इच्छा से संसार की शुरूआत हो जाती है। इसी इच्छा पूर्ति हेतु वह संघर्ष करता है, दूसरों को कष्ट पहुँचाता है, शोषण करता है, अपनी तिजोरी भरता है। हिंसा व हत्या करता है, अनेक प्रकार के अच्छे व बुरे कार्य करता है। ज्यों-ज्यों उसे प्राप्त होता जाता है, लोभ बढ़ता जाता है, तृष्णा बढ़ती जाती है, मोह बढ़ता जाता है, एक पूरा जाल तैयार हो जाता है। जब उसे प्राप्त होता है तब हर्ष होता है, प्राप्त नहीं होने पर दुःख होता है। इस प्रकार वह सुख-दुःख का अनुभव करता है। प्राप्त नहीं होने पर अथवा बाधा आने पर क्रोधित भी होता है। इस प्रकार जब चित्त इच्छा करता है, वासनाग्रस्त होता है तभी वह कुछ चाहता है, सोचता है, त्यागता है, ग्रहण करता है और इसी से उसे सुख-दुःख होता है। योग वाशिष्ठ में भी कहा है कि "वासना से बँधा चित्त ही बन्धन है और वासना का क्षय ही मोक्ष है। इसलिए हे राम! तू वासना का त्याग करके मोक्ष की इच्छा का भी त्याग कर दे, तब तू सुखी होगा।" बाहर कर्म-जगत् है जो छोटा है किन्तु इसके पीछे एक विशाल विचार-जगत् है एवम् इसके पीछे ही सबसे विशाल वासनाओं का जगत् है। वासनाओं से ही विचार उत्पन्न होते हैं एवं विचारों से ही कर्म होते हैं। इसलिए कर्मों को रोक देने से विचार नष्ट नहीं हो सकते एवं विचारों को रोक देने से वासनाएँ नष्ट नहीं होतीं। वासनाएँ यदि मूल है तो विचार उसके तने व शाखाएँ हैं एवं कर्म उसके पत्ते हैं। इन सबकी खुराक तो वासनारूपी जड़ों से मिल रही है जिससे पत्ते मात्र काट देने से कोई परिणाम नहीं होता। जब तक वासनाएँ जीवित हैं तब तक कर्मों पर रोक लगा देने से कोई लाभ नहीं होता बल्कि वासनाक्षय से यह विचार और कर्म-जगत् अपने आप नष्ट हो जाता है। चित्त में होती है वासना, उसके कारण मन सक्रिय होता है जिससे विचार उत्पन्न होते हैं। इन विचारों को बुद्धि नियंत्रित करती है व थोड़े से विचारों को ही क्रियान्वित करने के लिए वह शरीर को आदेश देती है तब शरीर कर्म में उतरता है। अतः कर्मों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वासना के कारण ही मनुष्य सोचता है, चिन्तन करता है, त्याग करता है, ग्रहण करता

है, एवं सुखी-दुःखी होता है। ये सब लक्षण हैं जो वासना के कारण पैदा होते हैं जिनसे यह पहचाना जाता है कि अभी वासना शेष है। मन का सक्रिय होना ही बन्ध नहीं है बल्कि वासना की उपस्थिति ही बन्ध है। वे काम, क्रोध, लोभ आदि उसके फल हैं। वासना से ही चित्त में तरगें उठती हैं। ये तरंगें ही मन है। तरंगों को सीधा रोका नहीं जा सकता केवल वासना रूपी वायु के रुकने से ही तरंगें शान्त होंगी। इसी प्रकार वासना क्षय से ही मन का क्षय होगा अन्यथा नहीं। अतः न शरीर बन्धन है, न उसके कर्म, न मन बन्धन है न उसके विचार बल्कि यह वासना ही बन्धन है। यह वासना चाहे भोग की हो या त्याग की, संसार की हो या मोक्ष की, ग्रहण की हो या त्याग की कोई फर्क नहीं पड़ता। दोनों ही बन्ध है। कर्म में उलझने वाला राजनीतिज्ञ हो जायेगा, विचार में उलझने वाला दार्शनिक हो जायेगा किन्तु जो साक्षी को उपलब्ध हो गया वही धार्मिक है वही मुक्त है। विचारों का जगत् इन तरंगों का जगत् है। दार्शनिक इसी का हिसाब लगाता है। उसे शान्त समुद्र का कुछ पता नहीं होता। राजनीतिज्ञ कर्म में ही उलझा रहता है उसे विचार-जगत् का भी पता नहीं रहता। कर्म सामान्य जन के भी समझ में आ जाते हैं इसलिए कर्मों की व्याख्या अधिक हुई, विचार के तल पर कुछ ही लोग पहुंच पाते हैं अतः इन्हें कम ही समझा गया एवं साक्षी तल पर तो बिरले ही पहुंचे हैं इसलिए जो सबसे मूल्यवान है वह अधिकांश की पहुंच के बाहर हो गया। यही कारण है कि अज्ञान सर्वाधिक है एवं यही संसार है, यही बन्धन है। ज्ञान अर्थात् मुक्ति बहुत कम को उपलब्ध है। संसार में जितने भी धर्म हैं वे विचारों के जगतः से ऊपर के नहीं हैं इसलिए भिन्नताएं प्रतीत होती हैं। उपलब्धि का कोई धर्म है ही नहीं। मूढ़ तो कर्म में ही उलझ कर रह गये। वे आचरण, सदाचार, कर्मकाण्ड से ऊपर की स्थिति का अनुभव ही नहीं कर पाये। अष्टावक्र इन सबको बन्धन कहते हैं।

卐

# सूत्र २

## तदा मुक्तिर्यदा चित्तं न वाञ्छति न शोचति।
## न मुञ्चतिगृह्णाति न हृष्यति न कुप्यति ।।

*अनुवाद :— "जब मन न चाह करता है, न सोचता है, न त्यागता है, न ग्रहण करता है। जब यह न सुखी होता है न दुःखी होता है। तभी मुक्ति है।"*

**_व्याख्या_ :— इस सूत्र में अष्टावक्र कहते हैं कि जो बन्ध के कारण ही मोक्ष है अर्थात् जब चित्त न चाह करता है, न सोचता है, न त्यागता है, न ग्रहण करता है, जब यह न सुखी होता है न दुःखी होता है तब मुक्ति है। चित्त की शान्त अवस्था ही मुक्ति है। यह मन, बुद्धि, अहंकार और शरीर भी चित्त से भिन्न नहीं हैं बल्कि चित्त की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं। चित्त वासनाओं और इच्छाओं का पुंज है, उसमें 'मैं' भाव का उत्पन्न होना, अपने को आत्मा से भिन्न मानना ही अहंकार है। वासनापूर्ति हेतु जब वह विचार करता है तब उसे 'मन' कहते हैं, जब वह अच्छे-बुरे का भेद करता है, निर्णय लेता है तब 'बुद्धि' कहलाता है, जब वह क्रियाशील होता है तो 'शरीर' है। शरीर का विकास भी चित्त की वृत्तियों के कारण एवं उसके अनुरूप ही हुआ है। यह संसार और मोक्ष कोई भौगोलिक स्थिति नहीं है, किसी स्थानविशेष में नहीं है। शरीर से बाहर जो भौतिक जगत्, स्थूल जगत् दिखाई देता है, ये पर्वत, पठार, मैदान, नदियां, झरने, समुद्र आदि दिखाई देते हैं वह संसार नहीं है बल्कि मनुष्य के भीतर एक और संसार है जो सूक्ष्म है, दिखाई नहीं देता। मनुष्य के भीतर एक और जगत् है। इसी के अनुरूप वह बाह्य जगत् दिखाई देता है, दुःखी को दुःखपूर्ण एवं सुखी को सुखपूर्ण दिखाई देता है। बाह्य जगत् में जो कुछ एवं जैसा कुछ दिखाई देता है वह भीतरी चेतना का ही प्रक्षेपण है अन्यथा जैसे आत्मा निरपेक्ष है वैसे ही बाह्य जगत् भी निरपेक्ष है। मनुष्य अपनी चित्तवृत्तियों के विक्षेपों के अनुसार ही इस व्यक्त जगत् की व्याख्या कर देते हैं। यही भ्रम है। इसीलिए इस संसार को अध्यात्म में माया कहा है। यह माया मनुष्य**

की चित्तवृत्तियां हैं न कि बाह्य जगत्। अध्यात्म इसी भीतरी माया-जगत् की बात कहता है। इसी प्रकार मोक्ष भी कोई भौगोलिक स्थान नहीं है कि इस भौतिक-जगत् से मर कर किसी सिद्ध लोक में जाकर बैठ गये, अथवा किसी सिद्ध शिला पर बैठ गये बल्कि चित्त की आत्यंतिक रूप से शान्त हो गई अवस्था है जिसमें न कोई वासना है, न इच्छाएँ, न विचार, न कर्म। यही चैतन्य की शुद्धतम अवस्था है। यही आत्मा का स्वरूप है, यही निज स्वभाव है। इसे उपलब्ध हो जाना ही मोक्ष या मुक्ति है अन्य कोई स्थिति नहीं है। चैतन्य की उद्विग्न लहरें ही संसार है, एवं उनका शांत हो जाना ही मुक्ति है। मोक्ष की चाह करना, मोक्ष की चाह में संसार छोड़ देना, सत्य और आनन्द की खोज में छोड़ना भी मोक्ष का मार्ग नहीं है बल्कि वह भी कामना, वासना की लहरें ही हैं। संसार की कामना हो या मोक्ष की, ये लहरें ही हैं, विषय बदलने से लहरों में कोई अन्तर नहीं आता, कामना चाहे ग्रहण की हो, भोग की हो या त्याग की, कामना ही है अतः दोनों की मोक्ष की स्थिति नहीं है। अष्टावक्र के अनुसार संसार चित्त की चाह की अवस्था है एवं अचाह की अवस्था मुक्ति है।

## सूत्र ३

**तदा बन्धो यदा चित्तं सक्तं कास्वपि दृष्टिषु।**
**तदा मोक्षो यदा चित्तमासक्तं सर्वदृष्टिषु।।**

*अनुवाद :— "जब चित्त किसी दृष्टि अथवा विषय में लगा है तब बन्ध है और चित्त जब सब दृष्टियों से अनासक्त है तब मोक्ष है। "*

*व्याख्या :—* पहले और दूसरे सूत्र में अष्टावक्र बन्ध और मोक्ष की अलग-अलग व्याख्या करते हैं किन्तु इसमें वे सार रूप में एक ही सूत्र में व्याख्या कर देते हैं कि जब चित्त किसी दृष्टि अथवा विषय में लगा है तब बन्ध है और जब वह सब दृष्टियों से अनासक्त है तब मोक्ष है। इसमें अष्टावक्र एक और महत्वपूर्ण बात कहते हैं कि कर्म में लगा होना ही बन्धन नहीं है बल्कि आत्मा से भिन्न दिखाई देने

वाले समस्त विषयों के प्रति किसी भी प्रकार की दृष्टि होना भी बन्ध है। यह दृष्टि ही वासना का रूप है। जहाँ दृष्टि है वहीं वासना भागेगी। यदि कोई दृष्टि ही न हो तो वासना को भागने का अवसर ही नहीं मिलेगा और वह अपने आप शान्त हो जायेगी। इसीलिए चित्त जब सभी दृष्टियों से चाहे वह संसार की हो, स्वर्ग की हो अथवा मोक्ष की, अनासक्त हो जाता है तब मोक्ष है। विषयों से दृष्टि हटाकर केवल आत्म-दृष्टि वाला ही मुक्त है। इसमें एक शंका यह होती है कि यह चित्त जब विषयों में दृष्टि रखता है तब बन्ध है एवं आत्मा में रखता है तब मोक्ष है तो फिर चित्त तो चंचल है। उसकी दृष्टि आत्मा से हटकर फिर विषयों में जा सकती है। ऐसी स्थिति में तो मोक्ष भी अनित्य ही हुआ, सावधिक ही हुआ। किन्तु इसमें यदि इच्छा करके यदि चित्त को जबरदस्ती अनासक्त किया तो वह पुनः विषयों में भाग सकता है किन्तु यदि वह स्वाभाविक रूप से अनासक्त हुआ है तो वह आत्मा के साथ एकाकार हो जाता है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है, वह भ्रान्तिवश, अहंकारवश, जो भिन्न प्रतीत होता था वह भिन्नता ही मिट जाती है। इसी को चित्त का आत्मा में लय होना कहा गया है। इसके बाद फिर उसमें वासना, कामना की तरंगें उठ ही नहीं सकतीं जैसे भुना हुआ चना अंकुर पैदा नहीं कर सकता उसी प्रकार आत्म-रूप होने पर वह चित्त रहता ही नहीं तो फिर उसमें वासना का बीज भी कैसे रह सकता है।

## सूत्र ४

**यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बन्धनं तदा।**
**मत्वेति हेलया किञ्चिन्मा गृहाण विमुञ्च मा ।।**

*अनुवाद :— "जब तक 'मैं' है तब तक बन्ध है, जब 'मैं' नहीं है तब मोक्ष है। इस प्रकार का विचार कर, न इच्छा कर, न ग्रहण कर, न त्याग कर।"*

***व्याख्या :—*** इस सूत्र में अष्टावक्र बन्धन का कारण अहंकार

को बताते हुए कहते हैं कि जब तक मनुष्य में 'मैं' भाव है तभी तक बन्ध है। आत्मा से भिन्न किसी की सत्ता है ही नहीं किन्तु इस 'मैं' भाव से ही इन सब भिन्नताओं की प्रतीति होती है। 'मैं' भाव ही अहंकार है जिसके मिटने से सारी भिन्नताएँ समाप्त हो जाती हैं। चित्तरूपी वायु से आत्मारूपी शान्त समुद्र में एक तरंग उठी। इस तरंग ने अज्ञानवश, भ्राँतिवश अपनेको आत्मा से भिन्न अनुभव किया। यह भिन्नता का अनुभव ही अहंकार बन गया। अहंकार के कारण अथवा भिन्नता के कारण वह स्वयं कर्त्ता बन गया, भोक्ता बन गया, विचार एवं बुद्धि का प्रयोग करने लगा, विषयों में आसक्ति बढ़ी, कुछ पाने की इच्छा से दौड़-धूप आरंभ हुई। यही मन एवं बुद्धि बन गया जिससे सृष्टि का क्रम चल पड़ा। यह सारा उपद्रव अहंकार के कारण आरंभ हुआ कि उसने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व मान लिया। यदि यह 'मैं' का भाव नष्ट हो जाय तो न विचार पैदा होंगे, न इच्छा, न वासना आदि होगी, न ग्रहण व त्याग होगा। भिन्नताएँ ही मिट जायेंगी, एक ही आत्मा शेष रह जायेगी फिर किसका त्याग व ग्रहण होगा। ऐसी स्थिति को उपलब्ध हो जाना ही मोक्ष है। जब तक जीव का सम्बन्ध इस अहंकाररूपी दुरात्मा के साथ रहता है तब तक वह अपने को आत्मा से भिन्न मानता रहेगा, तब तक मुक्ति नहीं है मोक्ष नहीं है।

अष्टावक्र ने मूल पर ही चोट कर दी, जड़ को ही उखाड़ फैंकने को कह दिया जिससे वृक्ष पनपे ही नहीं, बीज को ही भुनने की बात कह दी जिससे वृक्ष उगने की संभावना ही समाप्त हो जाये। किन्तु लोग हैं बड़े चालाक। अहंकार तो छोड़ते नहीं जो सभी बुराइयों का मूल है, वासना और आसक्ति छोड़ते नहीं और छोड़ने के नाम पर कोई चाय छोड़ रहा है, कोई रात्रि का भोजन छोड़ रहा है, कोई घरबार छोड़ रहा है, कोई दान दे रहा है, मंदिर, धर्मशालायें बनवा रहा है, कोई मंदिर जाकर ५ पैसे भेंट करता है, कोई नारियल-अगरबत्ती चढ़ाता है। धर्म के नाम से न जाने क्या-क्या मनुष्य कर रहा है किन्तु अष्टावक्र कहते हैं कि इन सबके पीछे यदि 'मैं' भाव है कि मैंने ऐसा किया, इन सबके पीछे यदि कुछ पाने की इच्छा है तो ये सब मोक्ष के मार्ग नहीं हैं। दुनियां में सभी भोग से

लिप्त हैं, 'मैं' भाव छूटा नहीं, वासना, आसक्ति छूटी नहीं इसलिए सब भोगवादी पूरे के पूरे चार्वाकी हैं। 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' ही सबका आदर्श है। आज यदि ऋण आदर्श नहीं है तो चोरी, डकैती, हत्या, बेईमानी, रिश्वतखोरी, धोखा देकर धन हड़पना, गबन करना, मिलावट करना, शोषण करना आदि द्वारा दूसरों का धन हड़प कर गुलछर्रे उड़ाना ही जीवन आदर्श बन गया है। चार्वाक सच्चा तो था कि उसने संसार की वास्तविकता को प्रगट कर दिया कि यह संसार ऐसा है किन्तु लोग इतने बेईमान हैं कि इस असलियत को छिपा कर धर्म का झूठा मुखौटा लगाये घूमते हैं कि लोग हमें धार्मिक समझें। इन धर्मग्रन्थों के आधार पर किसी जाति या वर्ग को धार्मिक कह देना मूर्खता ही है। गीता, कुरान, बाइबिल, गुरु-वाणी, धम्मपद आदि के आधार पर कोई कहे कि मैं इसे मानता हूँ, इसे पढ़ता हूँ इसलिए धार्मिक हूँ यह मूर्खतापूर्ण एवं पाखंडयुक्त है। धर्म है स्वयं के रूपान्तरण में। जो धार्मिक जीवन जी रहा है वही धार्मिक है अन्य कोई नहीं। चोर अचौर्य का सिद्धान्त लेकर चलता है, हिंसक अहिंसा परमोधर्मः की तख्ती लटका लेता है, भोगी निष्काम कर्म-योग की बातें करता है, अष्टावक्र कहते हैं कि अहंकार के रहते जो भी कुछ किया जायगा वह पाप ही होगा। इससे तो चार्वाक की भाँति भोग को स्वीकार कर लेना अधिक सत्यता है, वह धर्म के अधिक निकट है। इसलिए चार्वाक को ऋषि कहा गया। असत्य को भी यदि स्वीकार कर लिया तो वह साक्षी बन जाता है, एवं सत्य के साथ भी धोखा किया जाये तो वह नरक का द्वार ही है। क्रोध, काम आदि भीतर से उठने वाली तरंगें हैं इनको साक्षी भाव से देखने पर ये अपने आप लीन हो जायेंगी। संसार में जो कुछ हो रहा है अपने स्वभाव से हो रहा है। अतः भोग और मोक्ष दोनों से अलग होकर साक्षी हो जाना ही मोक्ष है। यह सब अहंकार गिरने से, 'मैं' भाव के गिरने से होगा अन्यथा नहीं। यही अष्टावक्र का उपदेश है।

*। इति अष्टावक्रगीतायां अष्टमं प्रकरणं समाप्तम् ।*

— ० —

# नवाँ प्रकरण

## *(संसार की उपेक्षा कर अपने स्वभाव में स्थित होना ही मुक्ति है)*

---

## सूत्र १

अष्टावक्र-उवाच

**कृताकृते च द्वन्द्वानि कदा शान्तानि कस्य वा ।**
**एवं ज्ञात्वेह निर्वेदाद्भव त्यागपरोऽव्रती ।।**

*अनुवाद :— अष्टावक्र जी आगे कहते हैं :—"किया और अनकिया कर्म और द्वन्द्व किसके कब शान्त हुए हैं? इस प्रकार निश्चित जानकर इस संसार से निर्वेद (उदासीन) होकर त्याग और अव्रती हो। "*

***व्याख्या :—*** **आठवें प्रकरण में अष्टावक्र बन्ध व मोक्ष की व्याख्या करके इस प्रकरण में वे शान्ति का उपाय बताते हुए कहते हैं कि संसार के प्रति उदासीन होकर या उसकी उपेक्षा कर अपने स्वभाव (आत्मा) में स्थित हो जाने से ही शान्ति उपलब्ध होगी, अन्यथा नहीं। वे कहते हैं कि जो कर्म किये जा चुके हैं वे वासना एवं अहंकार से किये गये हैं अतः उनका तो फल भोगना ही पड़ेगा। उनसे छूटने का कोई उपाय नहीं है। ये बिना भोगे शान्त नहीं हो सकते अतः ये तो बन्धन हैं ही किन्तु जो कर्म अभी नहीं किये गये हैं वे भी बन्धन हैं क्योंकि उनके करने की वासना भीतर विद्यमान है, विचार भीतर विद्यमान है। मनुष्य कर्मों से अधिक अशान्त नहीं है, वह विचारों से, वासनाओं से अधिक अशान्त है। कर्म के वनिस्वत**

विचारों का महत्व सर्वाधिक है क्योंकि वे ही कर्म के कारण हैं। विचारों की तरंग उठते ही भीतर मलिनता प्रविष्ट हो जाती है। यही पाप हो गया, यही बन्धन बन गया, उपद्रव शुरू हो गया। अपराध करना ही पाप नहीं है, अपराध के विचार आना ही पाप है क्योंकि ये विचार ही मनुष्य को पापी बना देते हैं। इसी से मनुष्य सुख-दुःख, का अनुभव करता है। संसार द्वन्द्वात्मक है। यह सुख-दुःख, लाभ-हानि, प्रेम-घृणा, हिंसा-अहिंसा, ग्रहण-त्याग, राग-विराग, जीवन-मृत्यु आदि द्वन्द्वों के आधार पर ही चलता है। संसार की गति ही द्वन्द्वात्मक है। ये द्वन्द्व एक ही सिक्के के दो पक्ष की भाँति हैं जिनमें एक का ग्रहण व दूसरे का त्याग किया ही नहीं जा सकता। या तो दोनों रहेंगे या दोनों नहीं रहेंगे। अष्टावक्र इसीलिए कहते हैं ये किये और अनकिये कर्म तथा द्वन्द्व किसी के शान्त नहीं हो सकते, ऐसा निश्चित जानकर इस संसार के प्रति उदासीन होकर त्यागपरायण और अव्रती होना ही शान्ति प्राप्त करने का तरीका है। व्रत ले-ले कर, कसमें खा-खा कर, इनको छोड़ने के प्रयास से मनुष्य और अशांत होता है। जो है उसको भोगने में तो अशांति है ही उनको छोड़ने की जिद्द से और नई अशांति पैदा हो जाती है। इन दोनों प्रकार की अशांति को दूर करने का एक ही उपाय है स्वाभाविक रूप से जो हो रहा है उसे स्वीकार करना एवं अनाग्रहपूर्वक जीवन जीना।

## सूत्र २

**कस्यापि तात धन्यस्य लोकचेष्टावलोकनात्।**
**जीवितेच्छा बुभुक्षा च बुभुत्सोपशमं गता।।**

*अनुवाद :— "हे तात! लोक की चेष्टा (व्यवहार, उत्पत्ति और विनाश) को देखकर किसी भाग्यशाली की ही जीने की कामना, भोगने की वासना और ज्ञान की इच्छा शांत हुई है।"*

*व्याख्या :—* आत्मा निर्दोष है, ज्ञानमय है, उत्पत्ति और विनाश से रहित है, शांत है, आनन्दमय है किन्तु लोक-चेष्टा इससे भिन्न है। लोक की उत्पत्ति है, विनाश है, वह द्वन्द्वात्मक है, इसमें वासना है, कामना है, भोग है। यह अनित्य है, सदोष है, अज्ञानजनक है,

अशांत है, दुःखमय है किन्तु उस परमानन्दस्वरूप आत्मा के अज्ञान के कारण ही इस लोक में संसारी की जीने की कामना, भोगने की वासना एवं इस संसारी ज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा कभी शांत नहीं होती। वह इस लोक में अधिक से अधिक पाने एवं भोगने की इच्छा करता है, वह इसी में सभी सुख मानता है किन्तु जिसने आत्म-तत्व का स्वाद चख लिया उसे ये संसारी भोग, वासनाएँ, जीने की इच्छाएँ, इसका ज्ञान सब अनित्य एवं क्षणिक तथा सदोष ज्ञात होने लगता है इसलिए वह संसार के प्रति उदासीन हो जाता है, उसे संसार से वैराग्य हो जाता है क्योंकि उसे परमानन्द का स्थाई, नित्य, निर्दोष सुख प्राप्त हो गया। फिर वह क्षणिक की इच्छा नहीं करता। अष्टावक्र कहते हैं कि आत्म-अज्ञान के कारण ही संसारी की इस लोक में जीने की कामना, भोगने की वासना एवं ज्ञान की इच्छा कभी शांत नहीं होती। हजारों में से कोई एक-आध ही ऐसा भाग्यशाली होता है जिसे इस आत्म-सुख की उपलब्धि होती है और उसी की ये सब सांसारिक वासनाएँ शान्त होती हैं। अन्य की नहीं। ऐसे व्यक्ति को ही संसार से वैराग्य होता है। केवल घर छोड़ देना व लंगोटी लगा लेना वैराग्य नहीं है। यदि यह वैराग्य होता तो ये नंगे-भूखे व भिखारी सभी वैरागी कहलाने के अधिकारी होते। निश्चित ही आत्म-ज्ञानी ही वैराग्यवान है एवं वही जीवन-मुक्त है।

## सूत्र ३

**अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रितयदूषितम्।**
**असारं निन्दितं हेयमिति निश्चित्य शाम्यति ।।**

*अनुवाद :— "यह सब अनित्य है, तीनों तापों से दूषित है, सारहीन है, निंदित है, हेय है। ऐसा निश्चित होने पर शांति प्राप्त होती है।"*

*व्याख्या :—* अष्टावक्र ज्ञानी हैं, आत्मानन्द के सुख में अवस्थित हैं जो नित्य है, निर्दोष है अतः उनको ये अनित्य, क्षणभंगुर सुख प्रिय नहीं लगते। सूरदास ने कहा है "जिन रसना अंबुज फल चाख्यो,

क्यों करील फल खावे।'' इसलिए वे कहते हैं कि ये सांसारिक सुख, भोग सब अनित्य हैं, सदा रहने वाले नहीं हैं, चार दिन की चाँदनी मात्र है, ये विनाशी हैं, नष्ट होंगे ही, ये आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक तीनों प्रकार के तापों से दूषित हैं, इनमें सार कुछ भी नहीं है। बार-बार जन्म लेना व मर जाना, बार-बार उन्हीं कर्मों को भोगना, यश-अपयश, लाभ-हानि, सुख-दुःख, पीड़ा, क्लेश आदि का हर जन्म में हिसाब रखना, वही बचपन, जवानी, बुढ़ापा, स्त्री, पुत्र, सगे सम्बन्धियों का अच्छा-बुरा अनुभव करना इसमें क्या सार है? इसलिए जो सारहीन है उसे प्रशंसनीय कैसे कहा जाये? वह तो निन्दा के योग्य है, हेय है, इसकी कोई उपयोगिता नहीं है। जिस व्यक्ति को ऐसा निश्चय हो जाता है वही आत्म-ज्ञान का अधिकारी है एवं आत्म-ज्ञानी को ही शांति प्राप्त होती है। जो संसार के विषयों में रुचि लेता है, जो इनके भोगों से आनन्दित है, जिसे यह संसार ही सारभूत दिखाई देता है, जो संसार की भौतिक उन्नति को ही उपयोगी समझता है वह उस आत्मज्ञान के सुख से वंचित रह जाता है। ऐसे व्यक्ति को सब कुछ मिल जाने पर भी शांति प्राप्त नहीं हो सकती। वह अशांत, उद्विग्न ही रहता है। आत्मज्ञान ही शांति प्राप्त करने का उपाय है।

# सूत्र ४

**कोऽसौ कालो वयः किं वा द्वन्द्वानि नो नृणाम्।**
**तान्युपेक्ष्य यथा प्राप्तवर्त्ती सिद्धिमवाप्नुयात्।।**

*अनुवाद :— ''वह कौन सा काल है व कौन सी अवस्था है जिसमें मनुष्य को द्वन्द्व (सुख दुःखादि) न हों? उनकी उपेक्षा कर यथाप्राप्य वस्तुओं में सन्तोष करने वाला मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है।''*

*व्याख्या* :— सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-हानि, संघर्ष-शांति, पुरुष-प्रकृति, जड़-चेतन आदि अनेक प्रकार के द्वन्द्व सृष्टि में दिखाई देते हैं। अष्टावक्र कहते हैं कि यह सृष्टि द्वन्द्व पर ही

आधारित है। यह विपरीत ध्रुवों के सहयोग से ही चलती है। ये द्वन्द्व किसी भी काल में (भूत, भविष्य, वर्तमान) तथा किसी भी अवस्था में कभी भी शान्त नहीं हुए हैं, ये सदा रहेंगे ही। ये द्वन्द्व एक ही सिक्के के दो पक्षों की भाँति हैं, या तो दोनों रहेंगे या दोनों हटेंगे। एक को मिटाकर दूसरे को रखना संभव नहीं है। इन द्वन्द्वों का सृष्टि में अस्तित्व नहीं है बल्कि मनुष्य की वासना, तृष्णा, स्वार्थ आदि के कारण वह सृष्टि का अच्छे-बुरे में भेद करता है। वह बुरे को हटाकर अच्छा लाना चाहता है इसीलिए संघर्ष, अशांति, लोभ, मोह आदि अनेक बुराइयों का आरंभ होता है। अच्छा बुरे के कन्धों पर ही खड़ा है। यदि बुरा न हो तो अच्छों का भी अस्तित्व मिट जायेगा। मरीजों के कारण ही डाक्टरों का अस्तित्व है, चोरों-डाकुओं के कारण ही पुलिस एवं न्यायालय हैं, पापियों के आधार पर ही संत-महात्मा टिके हुए हैं, मृत्यु पर ही जीवन टिका है। नैतिक आदमी दोनों में भेद करके चलता है, बुरे को हटा कर अच्छे को लाना चाहता है किन्तु सृष्टि में दोनों संयुक्त हैं। इनको हटाया ही नहीं जा सकता। इसलिए अध्यात्म दोनों को ईश्वरीय मान कर उन्हें स्वीकार करने की बात कहता है कि ये भेद मनुष्य के मन के कारण दिखाई देते हैं। मन के पार कोई भेद नहीं है, सभी भेद समाप्त होकर एकत्व का अनुभव होने लगता है। यही ज्ञान है। जब तक भेद दिखाई दे तब तक अज्ञान है। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि इनकी उपेक्षा कर यथाप्राप्य वस्तुओं में सन्तोष करने वाला ही आत्म-सिद्धि को प्राप्त होता है, उसी को आत्म-ज्ञान होता है। सृष्टि में भेद-दृष्टि रखने वाले ज्ञान के अधिकारी नहीं हैं। बुद्ध ने भी 'उपेक्षा' शब्द का ही प्रयोग किया है, तन्त्र कहता है सब कुछ ईश्वरीय समझकर स्वीकार कर लेना है, भक्त कहता है अच्छा-बुरा, सुख-दुःख सब उसी का है, वही देता है अतः हमें उसकी आज्ञा समझकर स्वीकार करना है। भाषाएँ भिन्न-भिन्न हैं किन्तु अर्थ एक ही है कि द्वन्द्व को स्वीकार करना ही मुक्ति का मार्ग है।

卐

# सूत्र ५

**नानामतं महर्षीणां साधूनां योगिनां तथा।**
**दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नः को न शाम्यति मानवः ।।**

*अनुवाद :— "महर्षियों के, योगियों के एवं साधुओं के अनेक मत हैं। ऐसा देखकर उपेक्षा को प्राप्त हुआ कौन मनुष्य शांति को नहीं प्राप्त होता।"*

***व्याख्या* :— दुनियाँ में विभिन्न प्रकार के मत हैं, विभिन्न मान्यताएँ हैं, विभिन्न प्रकार के सिद्धान्त हैं, विभिन्न क्रिया-पद्धतियाँ एवं साधनाएँ हैं किन्तु इनमें सत्य कहीं भी नहीं है। सत्य एक ही है एवं इसे उपलब्ध व्यक्ति भी सब एक ही मत के हो जाते हैं। बुद्धि एवं तर्क से कुछ भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। दर्शन शास्त्रों के अध्ययन से एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं मिल सकता। यदि इनमें सत्य होता तो इतने मत नहीं होते। सत्य सभी मतों, मान्यताओं, सिद्धान्तों के पार है। ये मान्यतावादी, सिद्धान्तवादी, तर्कवादी सब बुद्धि को भ्रान्त करने वाले हैं इसलिए ज्ञान के मुमुक्षु को इन सबसे बचना चाहिए। अष्टावक्र ने पूर्व के सूत्र में द्वन्द्वों की उपेक्षा की बात कही तथा इस सूत्र में वे शास्त्रों एवं विभिन्न मतों की भी उपेक्षा की बात कहते हैं कि इन महर्षियों, साधुओं तथा योगियों के विभिन्न मत हैं। इसलिए ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा रखने वालों को इन सबकी उपेक्षा करनी चाहिए तभी शांति संभव है। सत्य न शास्त्रों में है, न सिद्धान्तों में। वह स्वयं के भीतर है, जिसे पाना ही ज्ञान है। उसी से होगी शांति। विभिन्न मतों एवं मान्यताओं के आधार पर बने हुए विभिन्न सम्प्रदाय अध्यात्म के लिए विष के समान है जो घाणी के बैल की भाँति निरंतर अपने धर्म एवं सम्प्रदाय के घेरे में ही घूम रहे हैं पहुंचते कहीं नहीं हैं। ज्ञानी इन सब घेरों से ऊपर उठकर एक आत्मा का अनुभव करता है तभी उसे शांति मिलती है।**

— ० —

# सूत्र ६

**कृत्वा मूर्तिपरिज्ञानं चैतन्यस्य न किं गुरुः।**
**निर्वेदसमतायुक्त्वा यस्तारयति संसृते।।**

*अनुवाद :— "जो उपेक्षा, समता और युक्ति द्वारा चैतन्य के सच्चे स्वरूप को जानकर संसार में अपने को तारता है, क्या वह गुरु नहीं है?"*

***व्याख्या :—*** **पूर्व में कहा गया है कि ज्ञान-प्राप्ति के लिए शिष्य की पात्रता ही मुख्य है, गुरु गौण है। गुरु की केवल उपस्थिति आवश्यक है जिससे घटना घटती है। गुरु कुछ करता नहीं, वह न ज्ञान दे सकता है, न मुक्ति अपितु शिष्य की पात्रता ही इसका कारण होती है किन्तु गुरु की उपस्थिति के बिना यदि घटना घटती है तो वह उससे सँभल नहीं सकता। उस स्थिति में गुरु ही सँभालता है। किन्तु आत्म-ज्ञान हो जाने पर वह शिष्य स्वयं गुरु हो जाता है। वास्तविक गुरु तो भीतर बैठा आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं। उसी गुरु को प्रकट करने में बाहरी गुरु सहायक मात्र होता है। इसलिए यह बाह्य गुरु निमित्तमात्र होता है एवं आत्म-ज्ञान के पूर्व ही उसकी आवश्यकता होती है। बाद में स्वयं का भीतरी गुरु प्रकट हो जाने पर इस बाह्य गुरु का भी त्याग कर देना चाहिए जैसे अन्य विधि-विधान, शास्त्र, धर्म, सम्प्रदाय, जाति आदि का त्याग किया जाता है, यहां तक कि मूर्ति-पूजा, कर्मकाण्ड, साकार-उपासना आदि का एवं ईश्वर का भी त्याग कर देना चाहिए वरना वे भी बन्धन बन जाते हैं जैसे रामकृष्ण ने काली का त्याग किया था, शंकराचार्य इसीलिए ईश्वर को भी माया कह कर त्याग करने की बात कहते हैं, बुद्ध ने आत्मा के भी त्याग की बात कही है। इसी प्रकार स्वयं का गुरु प्राप्त होने पर इस बाह्य गुरु का भी त्याग आवश्यक है वरना जो गुरु मुक्त कराता है वही बाद में बन्धन बन जाता है। आत्मा ही हमारा सच्चा गुरु है। बुद्ध इसीलिए कहते हैं 'अपना प्रकाश स्वयं बनो' (अप्प दीपो भव) दूसरों के दीपक से काम नहीं चलेगा। अष्टावक्र कहते हैं कि जो किसी भी विधि से, चाहे वह उपेक्षा की**

हो अथवा समता की, चाहे इन संसारी द्वन्द्वों की उपेक्षा कर दी जाय अथवा इनको समान मान लिया जाय, कृष्ण ने समता की बात कही है 'सुखदुःखे समे कृत्वा, लाभालाभौ जयाजयौ' (सुख-दुःख, लाभ-हानि एवं जय़-पराजय को समान मानकर) अथवा किसी अन्य युक्ति से जिसने अपने चैतन्य स्वरूप को जान लिया है वही अपने को संसार से तार लेता है एवं ऐसा ज्ञानी स्वयं ही गुरु है। फिर उसे अन्य गुरु की आवश्यकता नहीं है। जैसे किनारे लगने पर नाव का त्याग किया जाता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि आत्म-ज्ञान के पहले भी गुरु नहीं होना चाहिए किन्तु वह गुरु भी आत्म-ज्ञानी ही हो सकता है, अन्य कोई न गुरु हो सकता है न दूसरे को मार्ग दिखा सकता है। अज्ञानी उपगुरु तो हो सकता है, शिक्षक भी हो सकता है किन्तु वह गुरु नहीं कहला सकता।

# सूत्र ७

**पश्य भूतविकारांस्त्वं भूतमात्रान् यथार्थतः।**
**तत्क्षणाद्बन्धनिर्मुक्तः स्वरूपस्थो भविष्यसि ।।**

*अनुवाद :— "जब भूत-विकारों को (देह, इन्द्रिय आदि) तू यथार्थतः भूतमात्र देखगा- उसी क्षण बन्ध से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जायेगा।"*

*व्याख्या :—* मनुष्य का वास्तविक स्वरूप चैतन्य आत्मा है। यह भूत-सृष्टि उसका विकारमात्र है, उसका विकृत स्वरूप है। मनुष्य की जैसी दृष्टि होती है वैसी ही यह सृष्टि दिखाई देती है। ज्ञान के अभाव में यह सत्य एवं आकर्षक प्रतीत होती है इसका कारण है हमारी इच्छाएँ, वासनाएँ, हमारे हित इससे जुड़े हैं इसलिए इसका यही स्वरूप हमें दिखाई नहीं देता। हम उसकी उपयोगिता को दृष्टि में रखकर देखते हैं। जो हमारे लिए उपयोगी है, हमारी इच्छाओं और वासनाओं को पूरा करती है जिससे हमारा हित होता है उसे हम श्रेष्ठ समझते हैं व दूसरों को व्यर्थ। इसलिए हमारी स्त्री, हमारे बच्चे, हमारा घर, हमारा खेत आदि के साथ हमारे स्वार्थ व वासनाएँ,

कामनाएँ, अपेक्षाएँ जुड़ी होने से हमें जितने अच्छे लगते हैं उतने दूसरे नहीं किन्तु यह उनका वास्तविक स्वरूप नहीं है। यह उन पर हमारे मन का ही प्रक्षेपण है अन्यथा व्यक्ति-व्यक्ति में, वस्तु-वस्तु में भेद नहीं है। अष्टावक्र कहते हैं कि संसार में यह समस्त भूत, सृष्टि, इन्द्रिय, देह आदि उस चैतन्य आत्मा का विकार है। इसे तू चैतन्य से भिन्न भूतमात्र देखेगा उसी क्षण तू बन्ध से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जायेगा। वासना के कारण यह सृष्टि भूतमात्र न दिखाई देकर अन्य प्रकार की दिखाई दे रही है। यही बन्ध है। अतः इस बन्धन-मुक्ति के लिए केवल दृष्टि-परिवर्तन करना है। वस्तु को अपने स्वरूप में देखना ही ज्ञान है।

## सूत्र ८

**वासना एव संसार इति सर्वा विमुञ्च ताः।**
**तत्यागो वासनात्यागात् स्थितिरद्य यथा तथा।।**

*अनुवाद :— "वासना ही संसार है इसलिए इन सब (वासनाओं का) का त्याग कर। वासना के त्याग से ही संसार का त्याग है। अब जहाँ चाहे वहाँ रह।"*

*व्याख्या :—* इसी को स्पष्ट करते हुए अष्टावक्र कहते हैं कि यह संसार भूत मात्र है किन्तु हमारी वासना के कारण ही यह हमें सत्य दिखाई देता है अन्यथा है मिथ्या, सारहीन। इसलिए वासना ही संसार है एवं वासनाओं के त्याग से ही संसार-त्याग हो जायेगा। संसार तो जैसा है वैसा ही रहेगा किन्तु तू इससे मुक्त हो जायेगा, वासना के कारण ही यह संसार तेरा बन्धन है। इसने तुझे बाँधा नहीं है, अपनी वासना के कारण तू खुद ही इससे बँध गया है। अपनी वासनापूर्ति हेतु तथा अनेकों प्रकार की अपेक्षाओं के कारण ही तू स्त्री, पुत्र, घर-गृहस्थी, परिवार, समाज आदि से बँधा है। जिस क्षण वासना एवं अपेक्षाओं का त्याग कर दिया उसी क्षण तू मुक्त ही है। तुझे मुक्त होने के लिए कहीं घर छोड़कर जंगल भागना नहीं पड़ेगा, पत्नी, बच्चे, परिवार, समाज आदि कुछ भी छोड़ना नहीं पड़ेगा।

**वासना यदि छूट गई तो फिर तू जहाँ चाहें वहाँ रह। वासना के रहते तू हिमालय की गुफा में जाकर रहेगा तो भी संसार में ही है। वहाँ भी मुक्त नहीं है। अष्टावक्र सभी प्रकार की वासना की बात कह रहे हैं चाहे वह लोक-वासना हो या शास्त्र-वासना अथवा शरीर-वासना। शरीर एवं शास्त्र-वासना का भी त्याग करने से आत्म-ज्ञान हो जाता है किन्तु अन्त में आत्मा, ईश्वर आदि के भी त्याग से ही मुक्ति होती है। यह शुद्ध वासना या अहंकार है जिसके मुक्त होने से ही परम मुक्ति या निर्वाण है। इसलिए बुद्ध ने आत्मा को भी असत्य कहा है। यह परम नहीं है।**

*। इति अष्टावक्रगीतायां नवमं प्रकरणं समाप्तम् ।*

— ० —
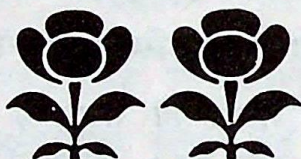
# दसवाँ प्रकरण

**(तृष्णा ही बन्ध है। प्रौढ़ वैराग्य द्वारा वीत-तृष्णा ही मुक्ति है)**

---

## सूत्र १

अष्टावक्र-उवाच

**विहाय वैरिणं काममर्थं चानर्थसंकुलम्।**
**धर्ममप्येतयोर्हेतुं सर्वत्रानादरं कुरु।।**

*अनुवाद :— अष्टावक्र जी आगे कहते हैं :—"वैरस्वरूप काम को और अनर्थ से भरे अर्थ को त्याग कर और दोनों के कारण-रूप धर्म को भी छोड़कर तू सबकी उपेक्षा कर।"*

**व्याख्या :— नवें प्रकरण में अष्टावक्र ने कहा कि यह संसार द्वन्द्वात्मक है जिसमें शांति है ही नहीं अतः इसकी उपेक्षा करने से ही शांति प्राप्त हो सकती है। वासना का त्याग ही उसके प्रति उपेक्षा है। इस प्रकरण में अष्टावक्र कहते हैं कि मोक्ष-प्राप्ति में 'काम' दुश्मन के समान है। जहाँ काम अर्थात् कामना है वहीं संसार है तथा अर्थ अथवा धन-सम्पत्ति तो अनर्थ का कारण है ही। संसार के सारे अनर्थों के मूल में कामना और अर्थ ही है। इन दोनों की उपेक्षा से ही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। यहाँ पर भी अष्टावक्र इन्हें छोड़ने की बात न कह कर उनके उपेक्षा की बात कहते हैं कि न ये प्रशंसनीय हैं न निंदनीय बल्कि उपेक्षा के योग्य हैं। आत्म-ज्ञानी को इनकी उपेक्षा करनी चाहिए क्योंकि निंदा व प्रशंसा दोनों में कामना**

**ही है जो वैरस्वरूप है। साथ ही अष्टावक्र इन दोनों के कारण रूप-धर्म की भी उपेक्षा करने की बात कहते हैं। शास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों को महत्व दिया है। संसारी व्यक्ति को प्रथम तीन का सेवन करते हुए मोक्ष-प्राप्ति की ओर ही बढ़ना चाहिए, क्योंकि वही जीव की अन्तिम स्थिति है किन्तु मोक्ष-प्राप्ति से ध्यान को हटाकर बाकी तीन का सेवन करते रहना ही भोगवादी दृष्टि है एवं मोक्ष का ध्यान रखकर इनका सेवन करना धर्मसम्मत माना गया है। अष्टावक्र आत्म-ज्ञानी जनक को मोक्ष-प्राप्ति-हेतु काम तथा अर्थ के साथ ऐसे धर्म की भी उपेक्षा करने को कहते हैं क्योंकि ऐसा धर्म भी धर्म नहीं है, यह भी बन्धन का कारण है। यह भी साधनमात्र था। सिद्धि मिलने पर, सभी साधन छोड़ देने चाहिएं। तभी होती है परम स्वतन्त्रता, परम मुक्ति।**

# सूत्र २

**स्वप्नेन्द्रजालवत्पश्य दिनानि त्रीणि पञ्च वा।**
**मित्रक्षेत्रधनागारदारदायादि सम्पदः।।**

*अनुवाद :— "मित्र, खेत, धन, मकान, स्त्री, भाई आदि सम्पदा को तू स्वप्न और इन्द्रजाल के समान देख जो तीन या पाँच दिन ही टिकते हैं।"*

***व्याख्या :***— **भारतीय धर्म संसार विरोधी कभी नहीं रहा। उसने कभी भी नहीं कहा कि संसार मिथ्या है, झूठा है, नरक है, माया है, इसमें दुःख ही दुःख हैं, सुख इसमें है ही नहीं, ये स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मित्र, सगे-सम्बन्धी आदि सभी नरक में ले जाने वाले हैं इनका त्याग कर जंगल में भाग जाओ, हिमालय की गुफा में रहो, ये सब बन्धन के कारण हैं, इनको छोड़ने से मुक्ति हो जायेगी आदि। ये सब मूढ़ मान्यताएँ हैं जो धर्म से अनभिज्ञ अज्ञानियों द्वारा व्यक्त की गई हैं। धर्म तो संसार को मोक्ष-प्राप्ति का सबसे बड़ा साधन मानता है जिसमें रह कर ही मोक्ष उपलब्ध किया जा सकता है इसीलिए देवता भी मोक्ष-प्राप्ति हेतु पुनः संसार में आने के लिए**

लालायित रहते हैं। यह संसार ही वह पाठशाला है जिसमें अनुभव प्राप्त कर मुक्ति की साधना संभव है किन्तु इसमें आकर भोगवादी दृष्टि से मनुष्य का पतन होता है। अतः निंदा संसार की नहीं इसके प्रति वासना, तृष्णा, अहंकार, कामना आदि की गई है। इसका भी कारण यह है कि यह संसार व इसके भोग एवं सभी नाते-रिश्ते क्षणिक हैं, शाश्वत नहीं है, थोड़े दिन के हैं। भारतीय अध्यात्म क्षणिक की अपेक्षा शाश्वत को महत्व देता है। भारत ने इस शाश्वत को ही सत्य कहा है जो तीनों काल में स्थिर रहे। क्षण-क्षण बदलने वाला सत्य नहीं है। इसी कारण अष्टावक्र कहते हैं कि जैसा स्वप्न में सब कुछ दिखाई देता है किन्तु उसके टूटने पर सारा विलुप्त हो जाता है, इन्द्रजाल में कई वस्तुएँ भ्रमवश दिखाई देती हैं इसी प्रकार मोक्ष की इच्छा करने वाले को इस संसार को स्वप्नवत् एवं इन्द्रजाल के समान मानना चाहिए। क्योंकि ये मित्र, खेत, धन, मकान, स्त्री, भाई आदि समस्त सम्पदाएं थोड़े समय के लिए सत्य हैं। ये शाश्वत नहीं हैं कि हर जन्म में तुम्हारे साथ रहेंगी ही। मृत्यु पर स्वप्न की भाँति सारा दृश्य बदल जायेगा। अगले जन्म में फिर सब नये सम्बन्धी होंगे, नये रिश्ते होंगे। इस प्रकार अनेक जन्मों में अनेक रिश्ते बनेंगे व मिटेंगे। इनमें तुम्हारा साथ देने वाला कोई भी नहीं है न तुम किसी का साथ दे सकोगे। ये सब तीन या पाँच दिन ही टिकेंगे यानि क्षण-भंगुर हैं। अतः ज्ञानी को मोक्ष-प्राप्ति हेतु इन सबकी उपेक्षा करनी चाहिए। अष्टावक्र भी इन्हें छोड़कर भागने की मूर्खता-पूर्ण बात नहीं कहते हैं। वे कहते हैं कि इस तथ्य का बोध हो जाना पर्याप्त है। इस बोध से ही आत्म-क्रान्ति हो जायेगी। बिना बोध के संसार छोड़ने से कुछ नहीं होगा। उनका सारा उपदेश बोध का ही है।

## सूत्र ३

यत्र यत्र भवेत्तृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै।
प्रौढ़वैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णः सुखी भवः।।

*अनुवाद :— "जहाँ-जहाँ तृष्णा हो, वहाँ-वहाँ ही संसार जान। प्रौढ़ वैराग्य को आश्रय करके वीत-तृष्णा होकर सुखी हो।"*

***व्याख्या :—*** **अष्टावक्र कहते हैं कि मनुष्य अपना संसार स्वयं बनाता है। मनुष्य की तृष्णा ही उसका संसार है। परमात्मा ने मनुष्य को बहुत कुछ दिया है, आत्मा एवं शरीर जैसी बहुमूल्य वस्तु उसे दी है किन्तु इस आत्मा के अज्ञान से वह भिखारी की तरह संसारी विषयों की चाह करता है, उनको प्राप्त करने की अन्धी दौड़ में पड़ जाता है जिससे वह निरन्तर दुःखी होता जाता है। वह प्राप्त पदार्थों से अधिक प्राप्त करने की इच्छा करता है और अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा में वह निरन्तर दौड़-धूप करता रहता है। उसकी यह तृष्णा कभी शान्त नहीं होती जिससे वह संसार में सुख-दुःखों का अनुभव करता है। अष्टावक्र कहते हैं कि जहाँ-जहाँ तृष्णा है वहाँ-वहाँ ही संसार जान। यदि मनुष्य की तृष्णा शांत हो जाये, यदि उसे जितना प्राप्त है उसी में संतुष्ट हो जाये तो वह सुखी हो सकता है। इसी को अष्टावक्र वीत-तृष्णा कहते हैं। इस वीत-तृष्णा की उपलब्धि प्रौढ़-वैराग्य को आश्रय करके स्थित होने को कहते हैं जिससे वह सुखी हो सकता है।**

# सूत्र ४

**तृष्णामात्रात्मको बन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते।**
**भवासंसक्तिमात्रेण प्राप्तितुष्टिर्मुहुर्मुहुः।।**

*अनुवाद :— "तृष्णामात्र ही आत्मा का बन्ध है और उसका नाश मोक्ष कहा जाता है। संसारमात्र से अनासक्त होने से निरंतर प्राप्ति और तुष्टि होती है।"*

***व्याख्या :—*** **अष्टावक्र कहते हैं कि यह तृष्णामात्र ही बन्धन है। अन्यथा संसार में कोई बन्धन नहीं है। यह संसार, नाते-रिश्ते, देहाभिमान, धन, सम्पत्ति आदि बन्धन इसलिए हैं कि इनसे कुछ**

पाना चाहते हैं। इनसे अपने को अधिक से अधिक भरना चाहते हैं। इन सबके मूल में तृष्णा ही है। यदि तृष्णा का नाश हो जाये तो वह मुक्ति ही है। मुक्ति के लिए और कुछ करना नहीं पड़ता। अष्टावक्र इस तृष्णा-नाश का भी उपाय बताते हुए कहते हैं कि संसारमात्र से अनासक्त होने से तृष्णा का नाश हो जाता है एवं इसके नाश से निरन्तर प्राप्ति और तुष्टि होती है। संसार से तृष्णा छोड़ने से ही भीतर का जो बहुमूल्य है वह ज्ञात होने लगता है। उसी से मनुष्य की तुष्टि होगी। सांसारिक पदार्थों से तुष्टि हो ही नहीं सकती। सब कुछ प्राप्त करके भी भीतर खालीपन का अनुभव होता रहेगा। अनासक्त का अर्थ है न आसक्ति न विरक्ति, न ग्रहण न त्याग की इच्छा करना, यथाप्राप्य में संतुष्ट होना, उपेक्षा भाव रखना, यही अनासक्ति है।

# सूत्र ५

**त्वमेकश्चेतनः शुद्धो जड़ विश्वमसत्तथा।**
**अविद्यापि न किञ्चित्सा का बुभुत्सा तथापि ते ।।**

*अनुवाद :—* *"तू एक शुद्ध चैतन्य है, संसार जड़ और असत् है। यह अविद्या भी असत् है। इस पर भी तू क्या जानने की इच्छा रखता है।"*

*व्याख्या :—* ब्रह्म अथवा आत्मा एक है, चैतन्य है, शाश्वत है इसलिए वही सत्य है। यह सृष्टि उसी की अभिव्यक्ति मात्र है, उसी एक का फैलाव मात्र है, उसी का विस्तार है। वही एक असंख्य नाम-रूपों में प्रकट हुआ है। किन्तु यह संसार जड़ है, अनित्य है, क्षण-क्षण बदलता रहता है। संसार एक प्रवाह है, धारा है, चैतन्य स्थिर है, संसार गतिशील है। इस ब्रह्म में दो प्रकार की सनातनी शक्तियाँ हैं- विद्या और अविद्या। अविद्या संसार की हेतु है एवं विद्या अमृतत्व की। अविद्या के प्रभाव से जीव उनके पास से दूर हटते हैं एवं विद्या-शक्ति के प्रभाव से समीप खिंचते हैं। इस अविद्या के प्रभाव से ही मानव का मलिन अन्तःकरण बहुमुखी

वासना द्वारा चलित होकर भोग के मार्ग पर प्रवृत्त होता है और बन्धन दशा को प्राप्त होता है किन्तु मानवमात्र के हृदय में सत्य, प्रेम, पवित्रता, साधुता, त्याग, वैराग्य, करुणा, दया आदि के जो भाव हैं वे विद्या शक्ति के कारण हैं और यही अमृतत्व है। अष्टावक्र जनक को यही कह रहे हैं कि तू शुद्ध चैतन्य है, आत्मस्वरूप है इसलिए तू नित्य एवं शाश्वत है तथा यह संसार जड़ है, और असत् है, नष्ट होने वाला है, यह अविद्या भी संसार की हेतु होने से असत् है। ऐसा जानकर भी तू इस असत् से क्या जानने की इच्छा रखता है अर्थात् अब तेरे लिए जानने को कुछ शेष नहीं बचा है, तू पूर्ण ज्ञान को प्राप्त हो चुका है।

## सूत्र ६

**राज्यं सुताः कलत्राणि शरीराणि सुखानि च।**
**संसक्तस्यापि नष्टानि तव जन्मनि जन्मनि ।।**

*अनुवाद :— "तेरे राज्य, पुत्र, पुत्रियाँ, शरीर और सुख जन्म-जन्म से नष्ट हुए हैं, यद्यपि तू उनमें आसक्त था।"*

*व्याख्या :—* मनुष्य पैदा होता है बड़ा होता है, पढ़ता है, नौकरी करता है, धन कमाता है, विवाह करता है, बच्चे पैदा करता है, घर बसाता है एवं इन सबमें उसकी आसक्ति रहती है क्योंकि इन्हें वह अपना समझता है। इनके साथ उसकी अनेक अपेक्षाएँ जुड़ी रहती हैं किन्तु इस आसक्ति के होते हुए भी मृत्यु के समय सब छूट ही जाते हैं। इन्हें बचाने का कोई उपाय मनुष्य के पास नहीं है। फिर नये जन्म में यही सब कुछ करता है किन्तु अज्ञानवश वह यह नहीं समझ पाता कि मेरी आसक्ति का त्याग ही ज्ञान है। अष्टावक्र जनक को यही उपदेश देते हैं कि तेरे अनेक जन्म हुए हैं, हर जन्म में तुझे राज्य, पुत्र, पुत्रियाँ, शरीर और सुख मिले हैं किन्तु वे सब तेरे आसक्त होते हुए भी नष्ट हुए हैं। ये तेरे कभी हुए नहीं हैं इसलिए तेरी आसक्ति मिथ्या है। इसी आसक्ति के कारण तुझे बार-बार जन्म लेना पड़ा एवं इस आसक्ति के कारण ही उनसे छूटने में दुःख होता है अन्यथा

**दुःख का कोई कारण नहीं है। इसलिए इन पूर्व जन्मों के अनुभवों से शिक्षा ग्रहण करके अब तो तू इस आसक्ति का परित्याग कर जिससे इस बार-बार जन्म लेने और दुःखों से तेरी मुक्ति हो सके।**

# सूत्र ७

**अलमर्थेन कामेन सुकृतेनापि कर्मणा।**
**एभ्यः संसारकान्तारे न विश्रान्तमभून्मनः ।।**

*अनुवाद :— "अर्थ, काम और सुकृत कर्म बहुत हो चुके। इनमें भी संसार रूपी जंगल में मन विश्रान्ति को प्राप्त नहीं हुआ।"*

***व्याख्या :—*** **अष्टावक्र जनक को फिर यही उपदेश देते हैं कि धन सम्पदा, काम और अच्छे कर्म जो तूने अनेक जन्मों में किये हैं और अब भी वही कर रहा है किन्तु इनसे भी तेरा मन इस संसार में विश्रान्ति को प्राप्त नहीं हुआ। यदि इनमें कहीं सुख होता, यदि इनमें आनन्द होता, यदि इनमें सन्तोष मिलता, यदि इनमें दुःखों का नाश होता तो इन सबको प्राप्त करके तुझे निश्चित ही शान्ति और आनन्द मिल जाना चाहिए था किन्तु इनको पाकर भी तेरा मन विश्रान्ति को प्राप्त नहीं हुआ इसका कारण यही है कि इनमें सुख नहीं है। तू भ्रान्तिवश इनमें सुख देख रहा था। अब तो इस अज्ञान एवं भ्रान्ति का त्याग कर।**

# सूत्र ८

**कृत न कति जन्मानि कायेन मनसा गिरा।**
**दुःखमायासदं कर्म तदद्याप्युपरम्यताम् ।।**

*अनुवाद :— "कितने जन्मों तक तूने क्या शरीर, मन और वाणी से दुःखपूर्ण और श्रमपूर्ण कर्म नहीं किये हैं? अब तो आराम कर (अब विश्रान्ति कर)"।*

*व्याख्या* :— अष्टावक्र फिर कहते हैं कि तूने अनेक जन्मों तक शरीर, मन और वाणी से दुःखपूर्ण और श्रमपूर्ण कर्म किये हैं किन्तु फिर भी तेरी इनमें आसक्ति बनी हुई है जिससे तेरा जन्म-मरण का चक्र चल ही रहा है। इसलिए अब तो तू इस आसक्ति का त्याग कर जिससे तुझे शान्ति प्राप्त हो।

*। इति श्री अष्टावक्रगीतायां दशमं प्रकरणं समाप्तम् ।*

— ० —
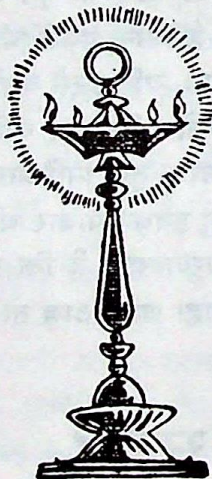
# ग्यारहवाँ प्रकरण

## (ज्ञानाष्टक)

### (स्वयं को चैतन्यमात्र जानना ही कैवल्य-प्राप्ति है)

---

## सूत्र १

अष्टावक्र-उवाच

**भावाभावविकारश्च स्वभावादिति निश्चयी ।**
**निर्विकारो गतक्लेशः सुखेनैवोपशाम्यति ।।**

*अनुवाद :— "भाव और अभाव का विकार स्वभाव से होता है ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है वह निर्विकार और क्लेशरहित पुरुष सुखपूर्वक ही शांति को उपलब्ध होता है।*

**_व्याख्या :—_ विज्ञान की सारी खोज जड़ प्रकृति से सम्बन्धित है। वह पदार्थ को ही सत्ता मानता है। पदार्थ की खोज में वह उसके अन्तिम तत्व विद्युत तक पहुँचा एवं उसी को समस्त सृष्टि का कारण मानता है किन्तु अध्यात्म इससे भी पार एक चैतन्य तत्व की बात कहता है कि आरम्भ में वह चैतन्य तत्व ही था। यह विद्युत जड़ है जो उस चैतन्य की ही शक्ति है। यह सम्पूर्ण सृष्टि इस शक्ति का ही फैलाव है, इसी का रूपान्तरण है। इसके सारे क्रियाकलाप इसी जड़ प्रकृति के स्वभाव से हो रहे हैं। वह चैतन्य आत्मा कर्त्ता नहीं है, वह निर्विकार है, शुद्ध है। किन्तु उसकी उपस्थिति आवश्यक है। उसकी उपस्थिति के बिना शिव भी शव हो जाता है, मनुष्य लाश बन जाता है। सृष्टि में जहाँ भी गति है, विकास है, प्रवाह है, निरन्तरता**

है वह उस चैतन्य आत्मा के कारण है। जिस प्रकार चन्द्रमा की उपस्थिति मात्र से ही समुद्र में ज्वार-भाटा आता है, चुम्बक लोहे को अपनी उपस्थिति मात्र से अपनी ओर आकर्षित करता है उसी प्रकार चेतनसत्ता के कारण ही प्रकृति के कार्य होते हैं किन्तु वह स्वयं कर्त्ता नहीं है। यह आत्मा नित्य है, चेतन है जबकि प्रकृति अनित्य व जड़ है। आत्मा निर्विकार है एवं प्रकृति विकारजन्य है। अष्टावक्र कहते हैं कि ये भाव और अभाव के समस्त विकार प्रकृतिजन्य हैं जो उसके स्वभाव से अपने आप हो रहे हैं जैसे अग्नि का स्वभाव जलाना है, पानी का ठंडा करना है, गुरुत्वाकर्षण का खींचना है, विद्युत का प्रकाश व चुम्बकत्व है इस प्रकार सभी पदार्थ अपने गुण-धर्म के अनुसार कार्य करते हैं। बीज से वृक्ष बनने की क्रिया भी प्रकृतिजन्य है। इस प्रकार सृष्टि के समस्त कार्यों का संचालन प्रकृतिजन्य ही है। उस चैतन्य की मात्र उपस्थिति से ही सब होता है वह स्वयं करती नहीं है। इस प्रकार जो व्यक्ति आत्म-ज्ञान को उपलब्ध हो गया वह अपने को प्रकृतिजन्य समस्त कर्मों से ऊपर चैतन्य आत्मा मान कर निर्विकार और क्लेशरहित होकर सुखपूर्वक ही शांति को उपलब्ध होता है। आत्म-ज्ञान के बाद ही उसे ऐसा निश्चय होता है इससे पूर्व ऐसा मान लेना भी भ्रान्ति है। मानने से भ्रम या अज्ञान दूर नहीं होता, जानने से होता है, सिर्फ बोध से होता है। इसके लिए कोई चेष्टा व श्रम आवश्यक नहीं है।

## सूत्र २

**ईश्वरः सर्वनिर्माता नेहान्य इति निश्चयी।**
**अन्तर्गलितसर्वाशः शान्तः क्वापि न सज्जते।।**

*अनुवाद :— "सबको बनाने वाला ईश्वर है अन्य कोई नहीं है, ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है वह पुरुष शांत है। उसकी सब आशाएँ जड़ से नष्ट हो गयीं हैं। वह कहीं भी आसक्त नहीं होता।"*

*व्याख्या :—* आसक्ति का कारण संसार नहीं है बल्कि स्वयं की

वासना है, तृष्णा है, कामना है, कुछ प्राप्त करने की इच्छा है। स्वयं का यह स्वार्थ ही आसक्ति का कारण है। आसक्ति में दो का होना आवश्यक है। यह शरीर, मकान, स्त्री, पुत्र, सम्बन्धी आदि को हम भिन्न मानते हैं जिससे आसक्ति होती है। यदि एक ही है तो कौन किससे आसक्ति रखे। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि इस सृष्टि में कहीं भिन्नता है ही नहीं। वही एक चैतन्य सत्ता विभिन्न रूपों में प्रकट हुई है अतः यह सम्पूर्ण सृष्टि ही ईश्वर है, सभी उस एक चैतन्य का ही विकास एवं फैलाव है इसलिए सबको बनाने वाला वह ईश्वर ही है, दूसरा कोई नहीं है। किन्तु जिसे आत्मा का अनुभव हो गया वही ऐसा निश्चयपूर्वक जान सकता है। अज्ञानी को भ्रम बना रहता है। अतः ऐसा निश्चयपूर्वक जानने वाला ज्ञानी ही शांत हो सकता है। जब उसे सम्पूर्ण सृष्टि में एकत्व का बोध हो गया तो उसकी सब आशाएँ, अपेक्षाएँ, तृष्णा आदि सब जड़ से नष्ट हो जाती हैं। फिर वह कहीं भी आसक्त नहीं होता। ईशावास्य उपनिषद् भी कहता है कि ''इस संसार में जो भी है सब ईश्वर का ही है इसलिए त्यागपूर्वक इसका भोग कर ...।'' जो ईश्वर को जान लेता है कि वही सब है, जो मिला है वह भी उसी का है, जो छूटता है वह भी उसी का है तो त्याग अपने आप हो जाता है, द्वन्द्व मिट जाते हैं, अशांति मिट जाती है, आशाएँ मिट जाती हैं, जो मिला है, जो हो रहा है उसमें व्यक्ति संतुष्ट हो जाता है फिर आसक्ति का कोई कारण नहीं रहता। ऐसा व्यक्ति ही परम शांति को उपलब्ध होता है।

# सूत्र ३

**आपदः सम्पदः काले दैवादेवेति निश्चयी।**
**तृप्तः स्वस्थेन्द्रियो नित्यं न वाञ्छति न शोचति ।।**

*अनुवाद :— ''विपत्ति और सम्पत्ति दैवयोग से ही समय पर आती हैं, ऐसा निश्चय वाला पुरुष सदा संतुष्ट स्वस्थेन्द्रिय हुआ न कोई कामना करता है न शोक करता है।''*

*व्याख्या* :— भारतीय धर्म की यह मान्यता बड़ी अनूठी एवं वैज्ञानिक है कि सब कुछ दैवयोग से समय पर ही होता है, समय से पहले कुछ नहीं होता, 'माली सींचे सौ घड़ा ऋतु आये फल होय'। गीता में इसलिए कहा गया है 'कर्म पर तेरा अधिकार है, फल में नहीं' फल तो ईश्वर के आधीन है, भाग्य में जैसा लिखा है वैसा ही होगा, आदि धारणाएँ भारतीय धर्म का अंग हैं। इससे जीवन में कोई तनाव नहीं है, अशांति नहीं है, भौतिक सुख-समृद्धि के अभाव में भी वह प्रसन्नचित्त है, आनंदित है, नाचता-कूदता है। पश्चिम समय से पूर्व ही प्राप्त करना चाहता है, सब कुछ अपनी इच्छानुसार ही प्राप्त करना चाहता है किन्तु ऐसा होता नहीं। मशीन के साथ यह संभव है किन्तु मनुष्य के साथ संभव नहीं है। इसलिए सब भौतिक सुविधाओं से सम्पन्न होते हुए भी पश्चिम बेचैन है तनावग्रस्त है, पागलों की संख्या बढ़ती जाती है। आत्मिक शांति नष्ट हो रही है। इसका कारण मात्र इतना है कि सृष्टि के चैतन्य के नियमों से अपरिचित है। उसका सारा ध्यान भौतिक नियमों की जानकारी पर ही केन्द्रित हो गया जिससे वह वैज्ञानिक प्रगति तो कर सका किन्तु आत्मिक-ज्ञान से वंचित रह गया जिसका दुष्परिणाम वह भुगत रहा है।

सभी समय आने पर ही होता है। पहले करने का कोई उपाय है ही नहीं। समय पर ही वृक्ष खिलते हैं, समय पर ही फल आते हैं, बच्चे का जन्म नौ महीने बाद ही होगा, काम-भावना चौदह वर्ष बाद ही आती है, समय पर ही फसल पैदा होती है, सृष्टि का हर कार्य एक निर्धारित समय पर ही होता है। मनुष्य इससे पहले उसे कर नहीं सकता। वह प्रतीक्षा मात्र कर सकता है। इसी प्रकार सभी कार्य दैवयोग से ही होते हैं। जब सभी परिस्थितियां अनुकूल होती है तभी कार्य होता है। ईश्वर न कर्त्ता है, न दयालु है। उसके सारे कार्य प्रकृति की सहायता से ही होते हैं जिसके अपने नियम हैं। वह किसी पर दया करके न अपने नियम बदलती है न रुष्ट होकर दण्ड देती है। मनुष्य के शुभ अशुभ कर्म भी ईश्वर नहीं कराता, न उनके कर्मों का हिसाब रखता है, न उनका अच्छा-बुरा फल ही देता है। ये सभी कार्य प्रकृति अपने आप करती है। प्रकृति में सभी प्रकार के पदार्थों के बीज सूक्ष्म रूप में विद्यमान हैं किन्तु अनुकूल परिस्थिति पाकर

ही वे उत्पन्न होते हैं। जिस काल में उनकी परिस्थिति निर्मित हो जाती है उसी काल में वे पनप उठते हैं। जैसे बीज में पूरा वृक्ष विद्यमान है किन्तु उचित भूमि, खाद, जलवायु, पानी को पाकर ही वह वृक्ष बनता है। केवल बीज होना ही पर्याप्त नहीं है। इसी को दैवयोग कहते हैं। मनुष्य कर्मों के फल भोगता है यही ईश्वर का न्याय है। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि विपत्ति और सम्पत्ति दैवयोग से ही समय पर आती है। जिस ज्ञानी को ऐसा निश्चय हो जाता है वह सदा संतुष्ट एवं स्वस्थेन्द्रिय रहता है तथा न किसी की कामना करता है न अप्राप्त अथवा वस्तु के नष्ट होने पर शोक ही करता है। वह हमेशा मानसिक तनावों से बचा रहता है यही स्वस्थेन्द्रिय के लक्षण हैं। इसके विपरीत अज्ञानी अपने कर्म का निश्चित फल समय से पूर्व ही प्राप्त करना चाहता है किन्तु उसकी इच्छानुसार कार्य या फल न होने पर वह तनावग्रस्त रहेगा एवं मानसिक रुग्णता पैदा होगी जिससे बचने का यही एकमात्र उपाय है।

# सूत्र ४

## सुखदुःखे जन्ममृत्यु दैवादेवेति निश्चयी।
## साध्यादर्शी निरायासः कुर्वन्नपि न लिप्यते।।

*अनुवाद :— "सुख-दुःख, जन्म, मृत्यु दैवयोग से ही होता है, ऐसा निश्चय वाला व्यक्ति साध्य कर्मों को देखता हुआ और निरायास (प्रयासरहित) कर्मों को करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता।"*

***व्याख्या*** **:—** इसी क्रम में अष्टावक्र कहते हैं कि सुख-दुःख, एवं जन्म-मृत्यु भी दैवयोग से होती है। मनुष्य के अधिकार में नहीं है। यदि मनुष्य के अधिकार में होता तो वह दुःख और मृत्यु से हमेशा के लिए मुक्त हो जाता किन्तु वह कर नहीं सका। वह केवल भोगता ही है। अतः ज्ञानी इन्हें दैवयोग से होते हैं ऐसा निश्चय करके करने योग्य कर्म हैं उन्हें ही देखता हुआ प्रयासरहित कर्मों को करता है जिससे वह उनमें लिप्त नहीं होता है। दैवयोग से होना मानने के

कारण वह कर्त्तापन से मुक्त हो जाता है, अहं भावना से मुक्त हो जाता है, उसे परम शांति मिलती है एवं वह उन कर्मों में लिप्त नहीं होता, जल कमलवत् हो जाता है, वह दृष्टा मात्र रह जाता है। ऐसे कर्म करने में श्रम नहीं होता, आनन्द मिलता है, तनावों से मुक्त रहता है, चिन्ता से मुक्त रहता है। हार-जीत, लाभ-हानि, जय-पराजय, सफलता-असफलता सब उसी का है। मैं केवल उपकरण मात्र हूँ, निमित्त मात्र हूँ ऐसा मानने वाला ज्ञानी निर्भार, चिन्तामुक्त, तनावमुक्त होकर जीता है। इसके विपरीत अज्ञानी स्वयं को कर्त्ता मान कर, फलेच्छा से काम करता है जिससे वह सदा दुःखी, अशांत, चिन्तित एवं तनावग्रस्त रहता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। साथ ही इसमें आध्यात्मिक सत्य भी है कि ऐसा कर्म करने वाला ज्ञानी कर्म फल का भोक्ता नहीं होता। ज्ञान को उपलब्ध हुआ व्यक्ति फल की कामनारहित होकर कर्म करता है, उनके कर्म मानवमात्र के कल्याण के लिए ही होते हैं, वह कर्मों की देह और इन्द्रिय का ही धर्म मानते हैं, आत्मा का नहीं तथा उसमें कर्त्तापन नहीं होता जिससे कर्मों के फल का विधान उस पर लागू नहीं होता। वह कर्म फल से मुक्त ही रहता है। भारतीय अध्यात्म इसी कारण से दैवयोग, भाग्य, ईश्वर, फलेच्छा का त्याग आदि पर विशेष जोर देता है। जिससे वह शांति से जी सके, चिन्ताओं, परेशानियों, तनावों से मुक्त रह सके।

## सूत्र ५

**चिन्तया जायते दुःखं नान्यथेहेति निश्चयी।**
**तया हीनः सुखी शान्तः सर्वत्र गलितस्पृहः ॥**

*अनुवाद :— "(इस संसार में) चिन्ता से दुःख उत्पन्न होता है अन्यथा नहीं। ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है वह सुखी और शांत है। सर्वत्र उसकी स्पृहा (इच्छा) गलित है और वह चिन्ता से मुक्त है।"*

*व्याख्या* :— इसी क्रम में अष्टावक्र कहते हैं कि जहाँ अहंकार है वहीं कर्त्ता भाव है एवं जहाँ कर्त्ता भाव है अर्थात् 'यह मैं ही कर रहा हूँ' ऐसा भाव है वहीं फलाकांक्षा होगी एवं चिन्ता होगी। जहां चिन्ता है वहीं दुःख है। ज्ञानी ही ऐसा मानता है कि मैं कर्त्ता नहीं हूँ, निमित्त मात्र हूँ, सभी कर्म ईश्वर के ही कर्म हैं, उसी के आदेश एवं प्रेरणा से मैं कर्म कर रहा हूँ, वाहनमात्र हूँ, बांसुरीमात्र हूँ, बजाने वाला वही है, स्वर उसी के हैं। ऐसा मान कर कर्म करने वाला निर्भार होकर, चिन्ता मुक्त होकर जीता है। ऐसा व्यक्ति ही सुखी और शांत है। इस भावना से उसकी इच्छाएँ सर्वत्र गलित हो जाती हैं। वह अपनी इच्छा से नहीं, परमात्मा की इच्छा मान कर कर्म करता है अतः वह चिन्ता मुक्त रहता है। जिस प्रकार छोटा बच्चा अपने पिता की ऊँगली पकड़कर निश्चिंत हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य परमात्मा का सहारा लेकर निश्चिंत जीता है जिससे वह अनेकों प्रकार की मानसिक उलझनों से मुक्त रहता है। जो ईश्वर की सत्ता में ही विश्वास नहीं रखते उनका जीवन अनके प्रकार की कुंठाओं से ग्रस्त रहता है। अतः मानसिक सन्तुलन को बनाए रखने के लिए ईश्वर की ऐसी धारणा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ईश्वर है या नहीं यह इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना उसका मानना महत्वपूर्ण है।

## सूत्र ६

**नाहं देहो न मे देहो बोधोऽहमिति निश्चयी।**
**कैवल्यमिव संप्राप्तो न स्मरत्यकृतं कृतम्।।**

*अनुवाद :— "मैं शरीर नहीं हूँ, देह मेरी नहीं है, मैं तो बोधस्वरूप (चैतन्य) हूँ, ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है वह पुरुष कैवल्य को प्राप्त होकर किये और अनकिये कर्म का स्मरण नहीं करता।"*

*व्याख्या* :— अष्टावक्र कहते हैं कि जो आत्म-ज्ञान को उपलब्ध हो गया है वह अपने को निश्चय ही बोधस्वरूप चैतन्य आत्मा ही समझता है। 'उसका शरीर से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है इसलिए

ऐसा ज्ञानी कहता है- मैं शरीर नहीं हूँ, आत्मा हूँ'। ' आत्मा का कोई शरीर नहीं होने से वह कहता है 'मेरा शरीर नहीं है'। ज्ञानी ही ऐसा निश्चयपूर्वक जानता है। जिससे वह कैवल्य को प्राप्त हो जाता है। कैवल्य को प्राप्त हुआ ज्ञानी अपने को आत्म-स्वरूप मानता है। जिससे वह किये और अनकिये कर्मों का स्मरण नहीं करता क्योंकि जो कर्म किये गये हैं वे शरीर द्वारा किये गये हैं जो अनकिये रह गये हैं, केवल विचारों तक ही सीमित रह गये हैं वे मन की सीमा में आते हैं। दोनों का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं होने से वह उनका स्मरण नहीं करता।

# सूत्र ७

**आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमहमेवेति निश्चयी।**
**निर्विकल्पः शुचिः शान्तः प्राप्ताप्राप्तविनिवृतः।।**

*अनुवाद :— "ब्रह्म से लेकर तृणपर्यन्त 'मैं ही हूँ' ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है वह निर्विकार, शुद्ध, शांत और प्राप्त-अप्राप्त से निवृत (मुक्त) होता है।"*

*व्याख्या :—* अज्ञानी शरीरों को देखता है, पदार्थों को देखता है, इसलिए उसे भिन्नताएँ दिखाई देती हैं किन्तु ज्ञानी इस सम्पूर्ण सृष्टि के मूलतत्व ब्रह्म को, आत्मा को देखता है जिससे इस सृष्टि का अस्तित्व है इसलिए उसे इस सम्पूर्ण सृष्टि में एकता दिखाई देती है, एक साम्य दिखाई देता है। जिसने आत्मा को जान लिया वह आत्म-रूप ही हो जाता है, वह सम्पूर्ण सत्ता को अपनी ही सत्ता समझने लगता है, भिन्न-भिन्न शरीरों एवं भिन्न-भिन्न आत्माओं का अज्ञान समाप्त हो जाता है। अष्टावक्र कहते हैं कि जिस ज्ञानी को ऐसा निश्चय हो जाता है कि मैं आत्मा हूँ और ब्रह्म से लेकर तृणपर्यन्त मेरा ही (आत्मा का ही) विस्तार है। मैं एक और अद्वय हूँ, यह सृष्टि मेरी नहीं बल्कि मैं ही सृष्टि हूँ, मेरे से भिन्न कुछ है ही नहीं। ऐसा व्यक्ति निर्विकल्प हो जाता है। दूसरा कोई विकल्प रहता ही नहीं। वही व्यक्ति शांत और शुद्ध हो जाता है, निखालिस स्वर्ण हो जाता है। जितनी विकृति, विजातीय अशुद्धता थी सब दूर

**हो गई। अब ऐसा व्यक्ति प्राप्त से भी मोह नहीं करता, न अप्राप्त की चिन्ता करता है। दोनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है। ऐसा व्यक्ति ही कह सकता है कि "सब कुछ मेरा है अथवा मेरा कुछ भी नहीं है।" यही ज्ञानी की स्थिति है। यही मुक्ति है।**

# सूत्र ८

**नानाश्चर्यमिदं विश्वं किञ्चिदिति निश्चयी।**
**निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किञ्चिदिव शाम्यति ।।**

*अनुवाद :— "अनेक आश्चर्यों वाला यह विश्व कुछ भी नहीं है अर्थात् मिथ्या है ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है वह वासनारहित, बोध-स्वरूप पुरुष इस प्रकार शांति को प्राप्त है मानो कुछ भी नहीं है।"*

***व्याख्या :***— **जिसने शाश्वत को जान लिया वह क्षण-भंगुर में रुचि नहीं लेता, जिसने परम को जान लिया वह क्षुद्र में मोहित नहीं हो सकता, जो अद्वैत के परमानन्द में मग्न हो गया वह द्वैत के अशांत, दुःखमय एवं क्लेशयुक्त घेरे से बाहर हो जाता है। फिर उसकी इस क्षणिक एवं नाशवान् संसार के प्रति वासना, आसक्ति, आदि सब कुछ छूट जाती है एवं वह परम शांति को उपलब्ध हो जाता है। अष्टावक्र कहते हैं कि यद्यपि यह संसार अनेक आश्चर्यों वाला है किन्तु आत्मानन्द के सामने कुछ भी नहीं है, मिथ्या है, रसहीन है। बोध-स्वरूप पुरुष आत्म-ज्ञानी ऐसा निश्चयपूर्वक जानता है इसलिए वह संसार को मिथ्या समझकर शांति को प्राप्त होता है। संसार में सत्य, आनन्द, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि का जो अनुभव होता है वह सब मनुष्य की वासना एवं अहंकार के कारण है, जिनसे वासना एवं अहंकार की तुष्टि होती है, वह सुखपूर्ण ज्ञात होता है, विपरीत होने पर दुःख होता है किन्तु सृष्टि अपने नियमों से चलती है। उसे हर मनुष्य के सुख-दुःख की चिन्ता नहीं है। मनुष्य अपने को उन नियमों के अनुकूल बनाकर सुखी हो सकता है एवं विपरीत जाने पर**

**टूटता है, कष्ट पाता है। आत्म-ज्ञानी इस रहस्य को जान लेता है जिससे वह सृष्टि के नियमों के अनुकूल व्यवहार करता हुआ सृष्टि की अवहेलना उपेक्षा करता है, उन्हें मिथ्या एवं तथ्यहीन, असत्य समझने लगता है। इसी से उसे शांति प्राप्त होती है। इसके विपरीत संसारी मनुष्य सृष्टि के नियमों के अज्ञान के कारण सांसारिक, सामाजिक आदि नियमों में उलझ कर अशांति को ही प्राप्त होता है। ज्ञानी एवं अज्ञानी की दृष्टि में यही अन्तर होता है। सृष्टि के नियमों को जान लेना ही ज्ञान है एवं इन्हें नहीं जान पाना ही अज्ञान है। इसलिए ज्ञान से ही अज्ञान मिटता है, भ्रान्ति दूर होती है, सत्य उपलब्ध होता है, शांति प्राप्त होती है। अज्ञान से लड़ना व उसे सीधा हटाने का प्रयत्न करना बिना दीपक जलाये अँधेरे को हटाने के प्रयत्न करने के समान है। यह भागने से नहीं जागने से होगा, त्याग से नहीं उपलब्धि से होगा। अष्टावक्र जैसा ऊँचा वक्तव्य कोई नहीं दे सका। सारभूत में अंतिम क्रान्तिकारी बात कह दी।**

*। इति अष्टावक्रगीतायां एकादशं प्रकरणं समाप्तम् ।*

— ० —

# बारहवाँ प्रकरण

**(अपने स्वभाव को प्राप्त हो जाना ही परम स्थिति है)**

---

## सूत्र १

जनक-उवाच

**कायकृत्यासहः पूर्वं ततो वाग्विस्तरासहः ।**
**अथ चिन्तासहस्तस्मादेवमेवाहमास्थितः ।।**

*अनुवाद :— "राजा जनक आत्म-ज्ञान के बाद हुई अनुभूतियों का वर्णन अष्टावक्र जी के सामने करते हुए कहते हैं :—"पहले मैं शारीरिक कर्मों का न सहारने वाला हुआ, फिर वाणी के विस्तृत कर्म का न सहारने वाला हुआ। इस प्रकार मैं स्थित हूँ।"*

***व्याख्या :—*** **अष्टावक्र और जनक दोनों ज्ञानियों में परस्पर बड़ा मधुर संवाद चल रहा है। दोनों को एक ही अनुभूति हुई जिससे संवाद संभव हुआ। एक ज्ञानी और एक अज्ञानी में विवाद तो हो सकता है, संवाद संभव नहीं है, दो अज्ञानियों में परस्पर विवाद भी संभव नहीं होता, झगड़ा ही होगा। अष्टावक्र के उपदेश से जनक आत्म-ज्ञान को उपलब्ध हुए। अब वे अपनी उपलब्धि के क्रम का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वासना के कारण चित्त में तरंगें उठती हैं जिससे मन में विचारों की, संकल्प-विकल्प की उथल-पुथल आरंभ होती है। ये ही विचार वाणी एवं शारीरिक क्रियाओं में प्रकट होते हैं। इन सबका निरोध करने से ही आत्म-ज्ञान होता है। पतंजलि कहते हैं 'चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है'। गीता में कहा गया है ' यह मन कठिनाई से ही वश में आता है'। पतंजलि**

कहते हैं कि 'अभ्यास और वैराग्य से चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है'। अतः अभ्यास और वैराग्य आत्म-ज्ञान के लिए परमावश्यक है। जनक कहते हैं कि पहले मैंने शारीरिक कर्मों का निरोध किया फिर वाणी के कर्मों का निरोध किया और फिर मानसिक कर्मों का भी निरोध किया। इस प्रकार मैं आत्म-ज्ञान को उपलब्ध होकर अब आत्मा में ही स्थित हूँ। शरीर और इन्द्रियों से जो कर्म किये जाते हैं उनके साथ फलाकांक्षा, आशा-निराशा, लाभ-हानि, सुख-दुःख, एवं अनेक अपेक्षाएँ जुड़ी रहती हैं जिनसे मन में विक्षेप उत्पन्न होते हैं। इनके निरोध के लिए जप, तप, यज्ञ, आसन, हठयोग आदि शारीरिक कर्मों को करते हैं जिससे और नये विक्षेप आरंभ हो जाते हैं। यदि शारीरिक कर्मों को रोक भी दिया जाये तो भी वाणी के कर्म चलते रहते हैं। भजन-कीर्तन, मन्त्रोच्चारण, प्रवचन, उपदेश, अखण्ड-पाठ आदि कुछ न कुछ चलता रहता है। इनके रोक देने पर भी मन में अनेक सकंल्प-विकल्प, विचार आदि चलते रहते हैं। ये तीनों प्रकार के कर्म जब तक शांत नहीं होते तब तक चित्त शांत नहीं होता एवं चित्त के शांत हुए बिना आत्म-ज्ञान नहीं होता। इन तीनों के निरोध का मात्र उपाय इतना है कि इनके प्रति उपेक्षा रखना। कर्म से कर्म को रोकने के प्रयत्न में नये कर्म उत्पन्न हो जाते हैं। अतः उपेक्षा, उदासीन होना, दृष्टा होना ही मार्ग है। शरीर, मन और वाणी के कर्म अपने आप होते हैं, स्वभाव से होते हैं, नींद और बेहोशी में भी शरीर का कार्य बन्द नहीं होता, स्वप्न में भी मन का कार्य चलता रहता है, शरीर भी अपने आप चलता है, सारी क्रियाएँ प्राकृतिक हैं। इसी प्रकार मन एवं वाणी की क्रियाएँ भी स्वभाव से होती हैं। रोकने के प्रयत्न से ये ज्यादा उग्र रूप से चलने लगती हैं। अतः अपने को इन सबसे अलग करके दृष्टारूप होकर साक्षी भाव से देखने से इनका निरोध हो जाता है जिससे इनसे मुक्त हो जाते हैं। अपने को कर्त्तापन से हटा लेना ही मार्ग है। इसी से चित्त स्थिर व शांत हो सकता है। यही वीतरागता है। मित्र-शत्रु, प्रशंसा-निंदा, त्याग-ग्रहण, राग-विराग, सभी उपद्रव हैं, दोनों में ही रस है, आसक्ति है। ग्रहण में आसक्ति है तो त्याग भी आसक्ति ही है, शत्रु, निंदा, विराग भी

उल्टी आसक्ति है। इसलिए जनक कहते हैं कि मैं तीनों प्रकार के कर्मों का न सहारने वाला हुआ, इस प्रकार अब मैं चैतन्य आत्मा में स्थित हूँ।

# सूत्र २

**प्रीत्यभावेन शब्दादेरदृश्यत्वेन चात्मनः।**
**विक्षेपैकाग्रहृदय एवमेवाहमास्थितः॥**

*अनुवाद :— "शब्द आदि ऐन्द्रिक विषयों के प्रति राग के अभाव से और आत्मा की अदृश्यता से प्राप्त विक्षेपों से जिसका मन मुक्त होकर एकाग्र हो गया- ऐसा ही मैं स्थित हूँ।"*

*व्याख्या :—* मन में वासनाएँ हैं उनकी पूर्ति वह शरीर के माध्यम से करता है। शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इन ज्ञानेन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि विषय हैं जिनका इन्द्रियों के माध्यम से सेवन कर मन तुष्ट होता है। इसी से राग पैदा होता है एवं बार-बार भोगने की इच्छा होती है यह मन स्वयं एक उपद्रव है। यह न भोगने से शान्त होता है न भोगों के त्याग से। शारीरिक भोग बन्द करने पर वाणी के भोग चलते रहते हैं, वाणी के बन्द करने पर मानसिक भोग चलते रहते हैं। मन भोग और त्याग दोनों से ही अशान्त बना रहता है, उसमें विक्षेप निरन्तर चलते रहते हैं क्योंकि इसका मूल वासना है जो भीतर विद्यमान है। उसके रहते भोग और त्याग दोनों व्यर्थ हो जाते हैं। मन को शान्त करने के लिए जो जप, तप, यज्ञ, कर्मकाण्ड आदि किये जाते हैं इनसे नये विक्षेप और पैदा हो जाते हैं। अतः ये दोनों ही कर्म मन को इन विक्षेपों से मुक्त नहीं कर सकते। आत्मा अदृश्य है। वह दिखाई नहीं देती। ध्यान एवं समाधि में भी आत्मा का दर्शन तथा आत्म-साक्षात्कार शब्द ही गलत है। आत्मा का केवल अनुभव होता है, ज्ञान होता है, बोध होता है। वह दृश्य विषय नहीं है, स्वयं द्रष्टा है, वही सबको देखने वाली है। इन्द्रियों के समस्त कार्य उसी से हो रहे हैं। शरीर, मन, बुद्धि आदि जड़ हैं, यन्त्र-मात्र हैं जो उस

आत्मा-रूपी चेतन-शक्ति से सक्रिय हैं। जड़ पदार्थ चेतन को कैसे देख सकता है। इसलिए जनक को आत्म-ज्ञान हो जाने से वे इस स्थिति की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि आत्मा की अदृश्यता से अर्थात् उसके ज्ञान के अभाव से ही शरीर, मन आदि के समस्त विक्षेप होते हैं, आत्म-अज्ञान ही समस्त विक्षेपों का कारण है एवं सभी राग इसी अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। अतः मुझे आत्म-ज्ञान हो जाने से अब मेरे समस्त रागों का अभाव हो गया है तथा आत्मा की अदृश्यता से जो मन में विक्षेप पैदा हुए थे उनसे अब मेरा मन मुक्त होकर एकाग्र हो गया है। अब मैं केवल आत्मा में स्थित हूँ तथा इन विक्षेपों से पार हो गया हूँ। यह आत्म-ज्ञानी की स्थिति है। शरीर और मन द्वारा किये गये कर्मों से आत्मा अस्पर्श रहती है। इसीलिए आत्म-ज्ञानी पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ आदि कर्मों से सर्वदा मुक्त रहता है। वह अच्छे-बुरे कर्मों का न कर्त्ता है न उनके फलों का भोक्ता।

## सूत्र ३

**समाध्यासादिविक्षिप्तौ व्यवहारः समाधये।**
**एवं विलोक्य नियममेवाहमास्थितः॥**

*अनुवाद :— "सम्यक् अध्यास आदि के कारण विक्षेप होने पर ही समाधि का व्यवहार होता है। ऐसे नियम को देखकर समाधिरहित मैं स्थित हूँ।"*

*व्याख्या :—* आत्मा के अज्ञान के कारण ही मनुष्य मन, शरीर, बुद्धि व इन्द्रियों का दास हो जाता है, वह भोगों में ही रुचि लेता है जिससे अनेक प्रकार के विक्षेप पैदा होते हैं। ये सारे विक्षेप अध्यासमात्र हैं, भ्रममात्र हैं, अज्ञानवश होते हैं। ये अन्धकारवत् हैं। आत्म-ज्ञान के प्रकाश में ही सत्य और मिथ्या, तथ्य एवं भ्रान्ति, विवेक और मूढ़ता का पता चलता है। इस अज्ञान को दूर करने एवं आत्म-ज्ञान प्राप्ति के लिए लोग समाधि का व्यवहार करते हैं। आत्मा का ज्ञान समाधि अवस्था में ही होताहै। किन्तु जनक

आत्म-ज्ञान को उपलब्ध हो गये इसलिए वे इन सबको साक्षी-भाव से देख रहे हैं। वे अब समाधिरहित होकर आत्मा में ही स्थित हो गये हैं। अब उन्हें समाधि की भी आवश्यकता नहीं है। साध्य प्राप्त होने पर साधन अपने आप छूट जाते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि अज्ञान के कारण ही विक्षेप होते हैं जिससे समाधि का व्यवहार किया जाता है। किन्तु मैं आत्म-स्वरूप हूँ इसलिए समाधिरहित होकर इस नियम को देख मात्र रहा हूँ। अब मुझे इस नियम के पालन की आवश्यकता नहीं है। अब मैं आत्मानन्द में स्थित हूँ। इसका सार इतना ही है कि आत्म-ज्ञान बोध से हो सकता है। जिसमें बोध नहीं है उसी को ध्यान, धारणा, समाधि आदि का व्यवहार करना पड़ता है अन्यथा यह आवश्यक नहीं है। आत्म-ज्ञान के लिए ऐसी कोई शर्त नहीं है कि यह समाधि के बिना होगा ही नहीं; अहिंसा, सत्य, दया, करुणा आदि के बिना होगा ही नहीं; यम, नियम, आसन, प्राणायाम के बिना होगा ही नहीं। आत्मा तो सदा उपलब्ध ही है। जाग कर देखना मात्र है। दृष्टि पर्याप्त है। क्रिया आवश्यक नहीं है।

# सूत्र ४

**हेयोपादेयविरहादेवं हर्षविषादयोः।**
**अभावादद्य हे ब्रह्मन्नेवमेवाहमास्थितः ।।**

*अनुवाद :— "हे ब्रह्मन्! हेय और उपादेय के वियोग से जो हर्ष और विषाद होता है उसके अभाव में अब मैं जैसा हूँ वैसा ही स्थित हूँ।"*

*व्याख्या :—* आत्मा हमारा स्वभाव है, उसे उपलब्ध हो जाना ही अपने स्वभाव को उपलब्ध होना है। वही शुद्ध है, उसमें विकृति है ही नहीं। हेय और उपादेय, अच्छा-बुरा, उपयोगी-अनुपयोगी आदि ख्याल ही मन की वासना के कारण पैदा होते हैं। वासना गिरने पर ये भेद ही समाप्त हो जाते हैं। हेय और उपादेय के कारण ही उपादेय वस्तु की प्राप्ति से हर्ष होता है एवं छूटने पर विषाद होता है, इसी प्रकार हेय के छूटने पर हर्ष एवं प्राप्ति पर विषाद होता है। जनक

**आत्म-ज्ञान को उपलब्ध हो गये, वे अपने स्वभाव में स्थित हो गये इसलिए हेय और उपादेय की धारणा ही नहीं रही और इसीलिए उनसे होने वाले हर्ष और विषाद का भी अभाव हो गया। अब वे कहते हैं मैं जैसा हूँ वैसा ही स्थित हूँ अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप (ओरिजनल फेस) में स्थित हूँ। अज्ञानवश मैंने विभिन्न प्रकार के जो मुखौटे लगा रखे थे वे सब उतर गये हैं। सुकरात ने कहा 'अपने को जानो' (नो दाईसेल्फ); वह यही स्थिति है—अपने स्वभाव को उपलब्ध हो जाना, आत्म ज्ञान, सैल्फ-रियलाइजेशन आदि कुछ भी नाम दिया जा सकता है।**

## सूत्र ५

**आश्रमानाश्रमं ध्यानं चित्तस्वीकृतवर्जनम्।**
**विकल्पं मम वीक्ष्यैतैरेवमेवाहमास्थितः ।।**

*अनुवाद :— "आश्रम है, अनाश्रम है, ध्यान है और चित्त का स्वीकार और वर्जन है। उन सबसे उत्पन्न हुए अपने विकल्प को देखकर मैं उन तीनों से मुक्त हुआ स्थित हूँ।"*

*व्याख्या :—* **मूढ़ों की कोई समस्या नहीं होती। वे न विचार करते हैं, न कोई मान्यता ही बनाते हैं, न कोई सिद्धान्त लेकर चलते हैं। ज्ञानी भी इन मान्यताओं, विचारों एवं सिद्धान्तों से पार हो जाते हैं जिससे वे सदा अपने विवेक में जीते हैं। मूढ़ के सामने समस्या है है नहीं, ज्ञानी समस्या से पार हो चुका है। मूढ़ अनुभवशून्य है, ज्ञानी अनुभव करके छोड़ चुका है। अतः दोनों में बड़ा अन्तर है किन्तु अज्ञानी की अनेक मान्यताएं होती हैं, अनेक विचार एवं सिद्धान्त होते हैं। मूढ़ के पास सोचने की बुद्धि होती ही नहीं। अज्ञानी बुद्धि में ही जीता है, तर्क, विश्लेषण, विभाजन करके सृष्टि को समझना चाहता है इसलिए एकत्व का बोध उसे नहीं हो पाता। ज्ञानी को एकत्व का बोध हो जाने से उसका सारा विभाजन, विश्लेषण, अनेकत्व, विभिन्नताएं समाप्त हो जाती हैं। वह निर्विकल्प में अवस्थित हुआ परमानन्द का अनुभव करता है। यह सारी**

वर्ण-व्यवस्था (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) आश्रम-व्यवस्था (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यस्थ) अनाश्रम व्यवस्था आदि अज्ञानियों के लिए हैं जिससे वे इस व्यवस्था में गुजर कर क्रमिक विकास कर अत्मोन्नति को उपलब्ध हो सके। इसी प्रकार कर्म एवं उसके फल का विधान भी अज्ञानियों के लिए है। अज्ञानियों के लिए विभिन्न कर्मों का विधान है। भजन, कीर्तन, भक्ति, पूजा, पाठ, जप, यज्ञ, हवन, कर्मकाण्ड, आचरण में सुधार, हठयोग क्रियाएं आदि अनेक प्रकार की साधनाएं है फिर ध्यान, धारणा, समाधि आदि क्रियाएं हैं जिनसे अन्तःकरण शुद्ध होता है तब आत्म-ज्ञान होता है। इसी प्रकार कुछ धर्म चित्त को स्वीकार करने को कहते हैं कि जैसा है वैसा स्वीकर कर लो, सब ईश्वरीय है। स्वीकार करने से तुम मुक्त हो जाओगे। तन्त्र की यही मान्यता है। हठयोगी चित्त के वर्जन की बात कहता है। मन का निरोध करो, वासना को भोगने से रोको, उसकी एक मत मानो, वही भटकता है, शरीर को भी सताओ क्योंकि उसी से तुम विषयों में फँसे हो इसको नंगा, भूखा रखो, इसको कोड़े लगाओ, इसे शीत व गर्मी में खूब सताओ, क्योंकि यही पापी है। इसी को तपश्चर्या तप कहते हैं। ये सब आखिर किसलिए। इसका विकल्प है आत्म-ज्ञान। ये सब करने से तुम्हें आत्म-ज्ञान होगा, तुम्हारी मुक्ति होगी। ये सब अज्ञानियों के लिए साधना सूत्र है किन्तु जनक आत्म-ज्ञान को उपलब्ध हो गये। उन्हें वह मिल गया जिसे प्राप्त करने के लिए ये सब करने पड़ते हैं इसलिए वे कहते हैं कि अब मेरे लिए न कोई आश्रम है, न अनाश्रम है, न ध्यान है, न चित्त का स्वीकार है, न वर्जन है। इन सब से पार आत्मारूपी विकल्प को प्राप्त कर मैं इन सबसे मुक्त हुआ केवल आत्म-स्वरूप में स्थित हूँ। जनक की यह घोषणा सिद्धावस्था की घोषणा है। साधनावस्था में अथवा अज्ञान की स्थिति में तो इनसे गुजरना ही पड़ेगा। जिसको बोध से न हो सके उसके लिए कोई न कोई विधि अपनानी ही पड़ेगी। किसी विधि का न अपनाना भी विधि है किन्तु इसे पकड़ना कठिन है। इसलिए यह कुछ ही लोगों के लिए उपयोगी हो सकती है। सामान्य व्यक्ति इससे भटक सकता है।

# सूत्र ६

**कर्मानुष्ठानमज्ञानाद्यथैवोपरमस्तथा।**
**बुद्ध्वा सम्यगिदं तत्वमेवमेवाहमास्थितः ।।**

*अनुवाद :— "जैसे कर्म का अनुष्ठान अज्ञान से है, वैसे ही उसके त्याग का अनुष्ठान भी अज्ञान से है। इस तत्व को भली भाँति जानकर मैं कर्म अकर्म से मुक्त हुआ अपने में स्थित हूँ।"*

**व्याख्या :— संसार में रहकर कर्म करना आवश्यक एवं अनिवार्य है। कर्म कई प्रकार के हैं जैसे स्वाभाविक कर्म हैं, अनिवार्य कर्म हैं, प्रतिकर्म है, निष्कर्म हैं, अकर्म हैं, आदि। फिर कर्म शारीरिक और मानसिक भी होते हैं। जीवन ही कर्म है, मृत्यु कर्म का अभाव है। कर्म का आरंभ जन्म के साथ ही हो जाता है एवं मृत्यु पर्यन्त चलता है इसलिए जीवन में कर्म रोकना असंभव है। गीता में कहा है—"क्षणमात्र भी कोई कभी कर्म न करता हुआ नहीं ठहरता क्योंकि प्रकृति के गुण प्रत्येक से कर्म कराते हैं।" (गीता ३/५) किन्तु जो कर्म अहंकारवश किये जाते हैं, वासनापूर्ति हेतु किये जाते हैं, जिनके पीछे कोई न कोई फलाकांक्षा होती है वे ही कर्म बन्धन का कारण बनते हैं। जिस कर्म में कर्त्ता हो, अहंकार हो, 'मैं कर रहा हूँ,' 'मैंने किया है' इस प्रकार 'मैं' की जहाँ उपस्थिति है वही कर्म ब्रन्धन है क्योंकि यह अहंकार व 'मैं' भाव ही अज्ञान है। इन कर्म-बन्धनों से मुक्ति के लिए भी मनुष्य अनेक कर्म करता है। ये जप, तप, योग, भजन, पूजन, यज्ञ, ध्यान, समाधि आदि भी 'मैं' भाव से ही किये जाते हैं इनमें भी फलाकांक्षा रहती है इसलिए ये भी कर्म हैं जो बन्धन स्वरूप है। अहंकारवश अथवा अज्ञानवश किये गये कर्मों का फल अवश्य होता है, शुभ कर्मों का शुभ एवं अशुभ का अशुभ फल होता है। यदि अशुभ बन्धन है तो शुभ भी बन्धन है। बेड़ी चाहे लोहे की हो या सोने की मुक्ति के लिए दोनों ही बन्धन ही है। इसी प्रकार कर्मों का त्याग भी बन्धन है क्योंकि उसमें भी अहंकार है। 'मैं' भाव उसमें भी है जो अहंकार एवं अज्ञान है। 'मैंने**

**त्याग किया' इस भाव के रहते जो त्याग होता है वह अहंकार को और बढ़ा देता है। फिर इस त्याग के पीछे फलाकांक्षा रहती है चाहे वह स्वर्ग, मोक्ष, मुक्ति किसी की भी हो। अतः कोई भी कर्म जो अहंकार, अज्ञान से किया जाता है वह मुक्ति का मार्ग नहीं है। इसलिए जनक इस सूत्र में कहते हैं कि जैसे कर्म का अनुष्ठान अज्ञान से होता है वैसे ही उसके त्याग का अनुष्ठान भी अज्ञान से ही होता है। दोनों में 'मैं' का भाव रहता है जो अज्ञान है। मैं आत्म-स्वरूप को उपलब्ध होकर ऐसा जान गया हूँ क्योंकि आत्मा का कोई कर्म नहीं है, वह कर्ता नहीं हैं। कर्म मात्र अहंकार के कारण होते हैं। 'मैं' अहंकारहित होकर कर्म एवं अकर्म, कर्म एवं उनका त्याग दोनों से ही मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हूँ। अहंकाररहित, स्वाभाविक रूप से किये गये कर्म कर्म नहीं है। ऐसा होकर मैं स्थित हूँ। कर्म की इससे श्रेष्ठ कोई देशना है ही नहीं जैसी इस सूत्र में जनक ने दी है।**

# सूत्र ७

**अचिन्त्यं चिन्त्यमानोऽपि चिन्तारूपं भजत्यसौ।**
**त्यक्त्वा तद्भावनं तस्मादेवमेवाहमास्थितः ।।**

*अनुवाद :— "अचिन्त्य (ब्रह्म) का चिन्तन करता हुआ भी वह पुरुष चिन्ता को ही भजता है। इसलिए उस भाव को त्याग कर मैं भावनामुक्त हुआ स्थित हूँ। "*

***व्याख्या :—*** **कृष्ण की गीता साधक के लिए दिया गया उपदेश है। किन्तु यह अष्टावक्र गीता सिद्ध अवस्था की अनुभूति का वर्णन है। इसमें उपदेश नहीं है बल्कि यह कसौटी है जिस पर किसी भी आत्म-ज्ञानी को कस कर परखा जा सकता है। जिसे ऐसा अनुभव हुआ है वही ज्ञानी है। इस संसार में अनेक व्यक्ति अपने को सिद्ध, महात्मा, ज्ञानी, तीर्थंकर, पैगम्बर, ईश्वर-पुत्र, भगवान, संत आदि कहते हैं उन सबको अष्टावक्र-गीता की इस कसौटी पर परखा जा सकता है। यदि उनकी इसके अनुरूप अनुभूति हुई है तभी उन्हें**

आत्म-ज्ञानी एवं मुक्त कहा जा सकता है अन्यथा नहीं। उनको आत्म-ज्ञान की भ्रान्ति मात्र हुई है अथवा वे पाखण्ड करते हैं आत्म-ज्ञानी की ऐसी परम कसौटी अन्यत्र नहीं है। यह न धारणामात्र है न सिद्धान्त। देश, काल, धर्म, सम्प्रदाय, जाति, वर्ग आदि के पार अध्यात्म पर दिया शुद्धतम वैज्ञानिक वक्तव्य है जो सम्पूर्ण आध्यात्मिक जगत् की धरोहर है। धर्म के नाम पर प्रचलित अनेक पाखंडियों एवं ढोंगियों के झूठे मुखौटों का पर्दाफास इससे किया जा सकता है। राजा जनक इस सूत्र में और भी महत्वपूर्ण बात कहते हैं कि अनेक व्यक्ति कर्मकाण्ड, उपासना, भक्ति आदि कर्मों को छोड़कर केवल उस अचिन्त्य ब्रह्म का चिन्तन मात्र करते हैं। वे समझते हैं कि परमात्मा के चिन्तन से, ब्रह्म के चिन्तन से ही उन्हें मुक्ति मिलेगी। जनक कहते हैं कि यह भी भ्रम है। पहले तो, ब्रह्म निराकार है। उसका चिन्तन हो ही नहीं सकता फिर चिन्तन की भी उसे चिन्ता होती है कि आज चिन्तन नहीं किया, आज ध्यान नहीं किया, आज समाधि नहीं लगाई। इस प्रकार इस चिन्तन में भी कर्त्ता भाव 'मैं', लगा रहता है अतः ऐसा चिन्तन करने वाला व्यक्ति ब्रह्म को नहीं, चिन्ता को ही भजता है। मैं आत्म-ज्ञान को उपलब्ध होकर इस ब्रह्म के चिन्तन की भावना को भी त्यागकर भावना मुक्त होकर अपने में स्थित हूँ। इस ब्रह्म के चिन्तन के बन्धन से भी मुक्त हो गया हूँ।

## सूत्र ८

**एवमेव कृतं येन स कृतार्थो भवेदसौ।**
**एवमेव स्वभावो यः स कृतार्थो भवेदसौ।।**

*अनुवाद :— "जिसने साधनों से क्रियारहित स्वरूप अर्जित किया है—वह पुरुष कृतकृत्य है और जो ऐसा ही (स्वभाव से ही) स्वभाव वाला है वह तो कृतकृत्य है ही, इसमें कहना ही क्या।"*

*व्याख्या :*— राजा जनक बिना कोई साधना किये, बिना जप, तप, योग, भक्ति, पूजा, उपासना, ध्यान, कर्म किये ही आत्म-ज्ञान को उपलब्ध हुए किन्तु वे नहीं कहते कि ये सब साधन व्यर्थ हैं, इन्हें करना ही नहीं चाहिए, ये बकवास मात्र हैं, इनसे ज्ञान होगा नहीं, इनसे भटकोगे आदि जैसा कि जे. कृष्णामूर्ति कहते हैं कि करना कुछ भी नहीं है। किन्तु इससे व्यक्ति भटक भी सकता है। इसीलिए जे. कृष्णामूर्ति के उपदेश से कोई पहुँचे दिखाई नहीं देते। राजा जनक कहते हैं कि यह आत्मा क्रिया-रहित है। इसके क्रिया-रहित स्वरूप को जिसने उपरोक्त साधनों से अर्जित किया है वह पुरुष कृतकृत्य है। उसे भी आत्मा की अनुभूति होगी, उसका प्रयत्न भी निष्फल नहीं जायेगा। साधना द्वारा प्राप्त करना भी मार्ग है इसका जनक तिरस्कार नहीं कर रहे हैं किन्तु जो स्वभाव से ही स्व-भाव वाला, आत्म-भाव वाला है, जिसका स्वभाव ही आत्मवत् है वह तो कृतकृत्य है ही। इसमें कहना ही क्या। ऐसा आत्म-भाव वाला व्यक्ति ही परम ज्ञानी हैं, चाहे वह स्वयं ही स्वभाव से प्राप्त हुआ हो अथवा किसी साधन से। उपलब्धि में कोई अन्तर नहीं होता। मार्ग अनेक हैं, मंजिल एक ही है।

*। इति अष्टावक्रगीतायां द्वादशं प्रकरणं समाप्तम् ।*

— ० —

# तेरहवाँ प्रकरण

**(आत्मा का बोध हो जाने से ही कर्म-बन्धन से मुक्ति होती है)**

---

## सूत्र १

जनक-उवाच

**अकिञ्चन भवं स्वास्थ्य कौपीनत्वेऽपि दुर्लभम्।**
**त्यागादाने विहायास्मादहमासे यथासुखम्॥**

*अनुवाद :— "नहीं है कुछ भी—ऐसे भाव से पैदा हुआ जो स्वास्थ्य (चित्त की स्थिरता) है वह कोपीन को धारण करने पर भी दुर्लभ है। इसीलिए त्याग और ग्रहण दोनों को छोड़कर मैं सुखपूर्वक स्थित हूँ।"*

*व्याख्या :—* राजा जनक आत्मा में स्थित हैं। अब वे शरीर, मन, अहंकार आदि से अपने को भिन्न आत्मवत् अनुभव कर रहे हैं। संसार के जो भी कर्म, भावना, विचार, त्याग, ग्रहण, अच्छा, बुरा आदि हैं, वे सभी मन, अहंकार और शरीर से हैं। आत्मा इन सबसे पार केवल चैतन्य साक्षी है। उसका इन सबसे कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सब कार्य प्रकृतिजन्य हैं। जनक आत्म-ज्ञान की इस परम स्थिति को उपलब्ध हो गये जिससे वे कहते हैं कि अब मेरे लिए यह संसार, कर्म, त्याग, ग्रहण आदि कुछ भी नहीं है क्योंकि आत्मा का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे भाव से मैं चित्त की स्थिरता, जो चित्त का स्वास्थ्य है, को उपलब्ध हो गया हूँ। समुद्र की लहरें

जिस प्रकार शांत हो जाती हैं उसी प्रकार मेरा चित्त अब समस्त विक्षेपों से शान्त हो चुका है। अब न कोई तरंग उठती है, न लहर, न ज्वार-भाटा आता है। चित्त का शान्त हो जाना ही आत्म-ज्ञान की कसौटी है। जिसके मन में हलचल होती है, उथल-पुथल होती है, विक्षेप होते हैं इसका अर्थ है अभी आत्म-ज्ञान हुआ नहीं। जनक कहते हैं कि चित्त की ऐसी स्थिरता संसार छोड़ कर भागने वाले तथा कोपीन मात्र धारण करने वाले सन्यासी के लिए भी दुर्लभ है। सब कुछ छोड़ कर कोपीन मात्र धारण कर लेने से, अथवा नग्न हो जाने से चित्त की चंचलता शान्त नहीं हो सकती एवं चित्त की चंचलता रहते उसे आत्म-ज्ञानी नहीं कहा जा सकता। बाह्य आडम्बरों से आत्म-ज्ञान नहीं होता। यह त्याग और ग्रहण भी बाह्य आडम्बर ही है। इससे भी चित्त की चंचलता शान्त नहीं हो सकेगी। मेरी चित्त की चंचलता शान्त हो गई है इसलिए अब मैं सुखपूर्वक स्थित हूँ। ग्रहण और त्याग दोनों ही चित्त की चंचलता से ही होते हैं।

## सूत्र २

**कुत्रापि खेदः कायस्य जिह्वा कुत्रापि खिद्यते।**
**मनः कुत्रापि तत्यक्त्वा पुरुषार्थे स्थितः सुखम्।।**

*अनुवाद :— "कहीं तो शरीर का दुःख है, कहीं वाणी दुःखी है, कहीं मन दुःखी होता है। इसलिए तीनों को त्यागकर मैं पुरुषार्थ में (आत्मानन्द में) सुखपूर्वक स्थित हूँ।"*

*व्याख्या :—* मनुष्य शारीरिक, मानसिक एवं वाणी के दुःखों से दुःखी है। शरीर अनेक व्याधियों का घर है। शरीर ही सबसे बड़ी व्याधि है। शरीर रहते सुख संभव ही नहीं है। शारीरिक कष्ट, रोग, थकान, अपाहिज हो जाना, भरण-पोषण के लिए शारीरिक श्रम करना आदि शारीरिक दुःख हैं। गूँगा आदि हो जाना, मन के भावों को बिना सोचे समझे प्रकट कर देना, अपशब्द, कटु भाषण, मिथ्या भाषण, अनर्गल प्रलाप करना, अधिक बोलना या आवश्यकता होने पर भी नहीं बोलना आदि वाणी के दुःख हैं। वाणी-दोष के

# तेरहवाँ प्रकरण

**(आत्मा का बोध हो जाने से ही कर्म-बन्धन से मुक्ति होती है)**

## सूत्र १

जनक-उवाच

**अकिञ्चन भवं स्वास्थ्य कौपीनत्वेऽपि दुर्लभम् ।**
**त्यागादाने विहायास्मादहमासे यथासुखम् ।।**

*अनुवाद :— "नहीं है कुछ भी—ऐसे भाव से पैदा हुआ जो स्वास्थ्य (चित्त की स्थिरता) है वह कोपीन को धारण करने पर भी दुर्लभ है।* इसीलिए *त्याग और ग्रहण दोनों को छोड़कर मैं सुखपूर्वक स्थित हूँ। "*

***व्याख्या :—*** **राजा जनक आत्मा में स्थित हैं। अब वे शरीर, मन, अहंकार आदि से अपने को भिन्न आत्मवत् अनुभव कर रहे हैं। संसार के जो भी कर्म, भावना, विचार, त्याग, ग्रहण, अच्छा, बुरा आदि हैं, वे सभी मन, अहंकार और शरीर से हैं। आत्मा इन सबसे पार केवल चैतन्य साक्षी है। उसका इन सबसे कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सब कार्य प्रकृतिजन्य हैं। जनक आत्म-ज्ञान की इस परम स्थिति को उपलब्ध हो गये जिससे वे कहते हैं कि अब मेरे लिए यह संसार, कर्म, त्याग, ग्रहण आदि कुछ भी नहीं है क्योंकि आत्मा का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे भाव से मैं चित्त की स्थिरता, जो चित्त का स्वास्थ्य है, को उपलब्ध हो गया हूँ। समुद्र की लहरें**

जिस प्रकार शांत हो जाती हैं उसी प्रकार मेरा चित्त अब समस्त विक्षेपों से शान्त हो चुका है। अब न कोई तरंग उठती है, न लहर, न ज्वार-भाटा आता है। चित्त का शान्त हो जाना ही आत्म-ज्ञान की कसौटी है। जिसके मन में हलचल होती है, उथल-पुथल होती है, विक्षेप होते हैं इसका अर्थ है अभी आत्म-ज्ञान हुआ नहीं। जनक कहते हैं कि चित्त की ऐसी स्थिरता संसार छोड़ कर भागने वाले तथा कोपीन मात्र धारण करने वाले सन्यासी के लिए भी दुर्लभ है। सब कुछ छोड़ कर कोपीन मात्र धारण कर लेने से, अथवा नग्न हो जाने से चित्त की चंचलता शान्त नहीं हो सकती एवं चित्त की चंचलता रहते उसे आत्म-ज्ञानी नहीं कहा जा सकता। बाह्य आडम्बरों से आत्म-ज्ञान नहीं होता। यह त्याग और ग्रहण भी बाह्य आडम्बर ही है। इससे भी चित्त की चंचलता शान्त नहीं हो सकेगी। मेरी चित्त की चंचलता शान्त हो गई है इसलिए अब मैं सुखपूर्वक स्थित हूँ। ग्रहण और त्याग दोनों ही चित्त की चंचलता से ही होते हैं।

## सूत्र २

**कुत्रापि खेदः कायस्य जिह्वा कुत्रापि खिद्यते।**
**मनः कुत्रापि तत्यक्त्वा पुरुषार्थे स्थितः सुखम्॥**

*अनुवाद :— "कहीं तो शरीर का दुःख है, कहीं वाणी दुःखी है, कहीं मन दुःखी होता है। इसलिए तीनों को त्यागकर मैं पुरुषार्थ में (आत्मानन्द में) सुखपूर्वक स्थित हूँ।"*

*व्याख्या :—* मनुष्य शारीरिक, मानसिक एवं वाणी के दुःखों से दुःखी है। शरीर अनेक व्याधियों का घर है। शरीर ही सबसे बड़ी व्याधि है। शरीर रहते सुख संभव ही नहीं है। शारीरिक कष्ट, रोग, थकान, अपाहिज हो जाना, भरण-पोषण के लिए शारीरिक श्रम करना आदि शारीरिक दुःख हैं। गूँगा आदि हो जाना, मन के भावों को बिना सोचे समझे प्रकट कर देना, अपशब्द, कटु भाषण, मिथ्या भाषण, अनर्गल प्रलाप करना, अधिक बोलना या आवश्यकता होने पर भी नहीं बोलना आदि वाणी के दुःख हैं। वाणी-दोष के

कारण ही अधिकतर बुद्धिमान पागल भी हो जाते हैं, गूँगे का कोई जीवन ही नहीं होता। ये सब वाणी के दुःख हैं। मन के तो अनेक दुःख हैं। अभाव, अपमान, चिन्ताएँ, आशाएँ, महत्वाकांक्षाएँ, हीन भावनाएँ, प्राप्त करने की चिन्ताएँ, खो जाने की चिन्ताएँ, रख-रखाव की चिन्ताएँ, रक्षा की चिन्ता, संकल्प-विकल्प आदि से मन सदा दुःखी रहता ही है। संसार में स्वस्थ मन वाला व्यक्ति मिलना असम्भव है। किन्तु जनक कहते हैं कि मैं इन तीनों प्रकार के दुःखों का त्याग कर आत्मानन्द में सुखपूर्वक स्थित हूँ। आत्मा में स्थित हुआ योगी केवल आत्मा के आनन्द की ही अनुभूति करता है जो शरीर, मन एवं वाणी के दुःखों से प्रभावित नहीं होता। आत्म-ज्ञान प्राप्त करना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है इसी से उस पुरुष-तत्व (आत्मा) की उपलब्धि होती है।

# सूत्र ३

**कृतं किमपि नैव स्यादिति संचिन्त्य तत्वतः।**
**यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वाऽऽसे यथासुखम् ॥**

*अनुवाद :— "किया हुआ कर्म कुछ भी वास्तव में आत्मकृत नहीं होता। ऐसा यथार्थ विचार कर मैं जब जो कुछ कर्म करने को आ पड़ता है उसे करके सुखपूर्वक स्थित हूँ।"*

*व्याख्या :—* मनुष्य के कर्म दो प्रकार से होते हैं। कुछ तो स्वाभाविक हैं, जिसे प्रकृति अपने आप करती है। इन्हें करना नहीं पड़ता, करने के लिए श्रम भी नहीं करना पड़ता, जैसे स्वाँस लेना, भोजन का पचाना, हृदय का धड़कना, रक्त प्रवाह आदि शरीर के समस्त कार्य अपने आप होते रहते हैं, नींद में भी होते रहते हैं अतः ये कर्म नहीं हैं। कुछ कर्म ऐसे हैं जिन्हें मनुष्य कर्तव्य समझ कर करता है, कुछ पाने की इच्छा से करता है, मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा के लिए करता है, भोग की वासना से करता है, सुख, शान्ति, आनन्द के लिए करता है, शरीर-पोषण के लिए करता है, अपने विकास एवं उन्नति के लिए करता है, दूसरों की भलाई के लिए करता है; राग, द्वेष, इर्ष्या से करता है आदि कर्मों का बड़ा विस्तृत

जाल है किन्तु इन सब कर्मों में कोई भी कर्म, आत्मकृत नहीं है, आत्मा द्वारा किये गए नहीं है क्योंकि आत्मा अकर्त्ता है। उसका न कर्म से सम्बन्ध है न कर्म-फलों से। इन सब कर्मों का सम्बन्ध शरीर, मन एवं अहंकार तक ही सीमित है। अहंकारवश किया गया हर कर्म अपना फल देता ही है। कर्त्तापन, सोद्देश्य एवं फलाकांक्षा से किया गया हर कार्य कर्म है यहाँ तक कि मोक्ष, मुक्ति, स्वर्ग-प्राप्ति एवं शक्ति-लाभ के लिए जो भी कुछ किया जाता है वह भी कर्म ही है। जहाँ मनुष्य कर्त्ता है, जहाँ 'मैं' की उपस्थिति है वही कर्म है तथा वही उस कर्म फल का भोक्ता होता है अन्यथा नहीं। आत्म-ज्ञानी भी कर्म तो करते ही हैं, उन्हें भी खाने-पीने, रक्षण-सम्बन्धी कर्म करने पड़ते हैं बल्कि वे भी उन सभी कर्मों को करते हैं जिन्हें अज्ञानी करते हैं। वे त्यागी व सन्यासी होकर कोपीन धारण करके नहीं रहते, न जंगल भागते हैं। कृष्ण जैसे युद्ध करके भी अलिप्त रहते हैं, सन्यासी जंगल में रह कर भी लिप्त ही है। यदि इन सभी कर्मों के पीछे अहंकार है तो ही ये बन्धनस्वरूप हैं, अन्यथा नहीं। ज्ञानी अहंकाररहित होकर स्वाभाविक रूप से कर्म करते हैं उन्हें न कर्मों के करने का आग्रह होता है न त्यागने का क्योंकि आत्मा में स्थित हो जाने से उन्हें यह बोध हो जाता है कि कोई भी कर्म आत्म-कृत नहीं है, सभी प्रकृतिजन्य हैं तथा मैं प्रकृति से भिन्न चैतन्यस्वरूप हूँ। इसीलिए जनक कहते हैं कि मुझे ऐसा बोध हो जाने से अब अनाग्रहपूर्वक जो कर्म करना आ पड़ता है उसे कर लेता हूँ। कर्म करने और उसे छोड़ने की वासना का परित्याग हो गया है। इसीलिए मैं सुखपूर्वक स्थित हूँ।

## सूत्र ४

**कर्मनैष्कर्म्यनिर्बंधभावा देहस्थ योगिनः।**
**संयोगायोगविरहादहमासे यथासुखम्॥**

*अनुवाद :— "कर्म और निष्कर्म के बन्धन से संयुक्त भाव वाले शरीर में आसक्त जो योगी है मैं इस देह के संयोग-वियोग से सर्वदा पृथक् होने के कारण सुखपूर्वक स्थित हूँ।"*

*व्याख्या* :— जहाँ शरीर में आसक्ति है वहाँ अहंकार मौजूद है तथा जहाँ अहंकार है वहाँ कर्त्ता मौजूद है। कर्त्ता के रहते जो भी किया जाएगा वह कर्म ही है। निष्कर्म का अर्थ है कर्त्ता का अभाव। कर्म को छोड़ना निष्कर्म नहीं है, कर्म का अभाव भी निष्कर्म नहीं है, निष्क्रियता भी निष्कर्म नहीं है। आलसी व मुर्दे निष्कर्म को उपलब्ध नहीं होते। जहाँ 'मैं' नहीं है, जहाँ कर्म के पीछे उद्देश्य, फलाकांक्षा नहीं है वही निष्कर्म है। सन्यासी, भिखारी को भी कर्म करना पड़ेगा। कर्म छोड़ना ईश्वरीच कार्य में बाधा पहुँचाना है। कर्म करो किन्तु उसे ईश्वरीय कार्य समझ कर करो, कर्त्तापन से मुक्त हो जाओ, निमित्त मात्र बन जाओ। कर्त्ता का बोध ही अहंकार है जो प्रारंभिक पाप है। कर्त्ता केवल परमात्मा है। सब उसके नियम से चल रहा है। कर्म न करना भी उसके कार्य में बाधा पहुंचाना है जो पाप है निष्कर्म अपेक्षारहित होता है। कुछ पाने के लिए छोड़ना भी निष्काम नहीं है। यह सौदेबाजी है, यह त्याग नहीं है। वासनापूर्ति हेतु किया गया भजन, पूजन पाठ भी निष्कर्म नहीं है। यह सकाम कर्म ही दुःखों का कारण है। दो रुपये का नारियल चढ़ाकर, एक हनुमान चालीसा का पाठ करके लम्बा चौड़ा मांग-पत्र रख देना कोई साधना नहीं है। मांगना संसार है, नहीं मांगना साधना है। कर्म से भागना भी कर्म है। इसमें भी कर्त्ताभाव है। गीता में कहा है ''इस लोक में कर्म-सिद्धि को चाहने वाले लोग देवताओं की पूजा करते हैं। (४/१२)।'' देवता सहायता देते हैं, ईश्वर स्वयं नहीं देता। शरीर के लिए आवश्यक कर्मों का करने वाला, स्वाभाविक रूप से कर्म करने वाला कर्म करते हुए भी कर्म बन्धन से मुक्त रहता है। आग्रहपूर्वक, हठपूर्वक किया गया हर कर्म बन्धन है। त्याग और ग्रहण दोनों में आग्रह होने पर बन्धन है। अपेक्षा ही असंतोष का कारण है। कर्म-त्याग का उपदेश देने वालों ने दुनियाँ को विकृत किया है। जीवन और कर्म पर्यायवाची हैं। या तो दोनों रहेंगे या दोनों छूटेंगे। योगी की साधना शरीर से आरंभ होती है जो साधना की प्रथम सीढ़ी है। वह एक-एक सीढ़ी पार करके आगे बढ़ता है। अतः वह शरीर में आसक्त रहता है। इस आसक्ति के कारण वह कर्म और निष्कर्म दोनों में संयुक्त भाव वाला होता है।

**क्योंकि शरीर में आसक्ति के कारण वह जो भी करेगा वह कर्म ही होगा, निष्कर्म की साधना भी शरीर में आसक्त होकर ही करेगा अतः वह दोनों भाव वाला होने से दोनों ही उसके लिए बन्धनस्वरूप हैं किन्तु जनक कहते हैं कि मैं इस देह के संयोग और वियोग दोनों से पृथक् चैतन्य आत्मा में स्थित हूँ, इसलिए मैं सुखपूर्वक स्थित हूँ। अब कर्म, निष्कर्म आदि मेरे बन्धन नहीं हैं। क्योंकि मेरा इनमें न कोई आग्रह है न अपेक्षा।**

# सूत्र ५

**अर्थानर्थौ न मे स्थित्या गत्या वा शयनेन वा।**
**तिष्ठन् गच्छन् स्वपंस्तस्मादहमासे यथासुखम् ।।**

*अनुवाद :— "मुझको ठहरने से, चलने से या सोने से अर्थ और अनर्थ कुछ भी नहीं है। इस कारण 'मैं' ठहरता हुआ, जाता हुआ और सोता हुआ भी सुखपूर्वक स्थित हूँ। "*

***व्याख्या :***— **अहंकार मनुष्य को जन्म से ही मिला है। संसारी यदि अहंकारी है तो आश्चर्य नहीं है क्योंकि संसार का सारा खेल अहंकार का है किन्तु यह ज्ञान-प्राप्ति में बाधक है। संसारी के वनिस्वत धार्मिक व्यक्ति का अहंकार अधिक होता है। अहंकार हमेशा दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है। हम अपना भोजन वस्त्र, मकान, जेवर, कारें आदि का उपयोग भी उपयोगिता के आधार पर न करके अहंकार तृप्ति के लिए करते हैं। हम दिखावे के लिए करते हैं। जिसकी निजता श्रेष्ठ नहीं होती वही दिखावे में रुचि लेता है। छोटे व हीन व्यक्तियों का अहंकार सर्वाधिक होता है। ज्यों-ज्यों अहंकार बढ़ता है व्यक्ति की श्रेष्ठता कम होती जाती है। मनुष्य भी प्रकृति का ही एक अंग है। प्रकृति के अन्य सभी अंग निरुद्देश्य जी रहे हैं; अपने स्वभाव में जी रहे हैं। किन्तु मनुष्य ने अपने जीवन का उद्देश्य निश्चित कर लिया, उसने अपने काम का उद्देश्य निश्चित कर लिया यहाँ तक कि खाना, पीना, उठना, बैठना, चलना, फिरना, सोना आदि के भी उद्देश्य बना**

लिये किन्तु सृष्टि का निर्माण किसी उद्देश्य से नहीं हुआ। एक ही चैतन्य ऊर्जा स्वाभाविक रूप से अपने गुण कर्म के अनुसार प्रस्फुटित हुई एवं फैलती गई। यह इसका उद्देश्य नहीं स्वभाव है। उद्देश्य निश्चित करना मनुष्य की व्याख्या है। सोद्देश्य जीने से अहंकार की तृप्ति होती है किन्तु उद्देश्य निश्चित करने से ही संघर्ष आरम्भ होता है। खेल में जीतना यदि उद्देश्य हो तो संघर्ष अनिवार्य है, धन इकट्ठा करना उद्देश्य हो तो शोषण, बेईमानी, भ्रष्टाचार आवश्यक है, परीक्षा में पास होना उद्देश्य हो तो हथकण्डे आवश्यक हैं। जो कार्यं स्वभाव से होते हैं उनमें अहंकार निर्मित नहीं होता। संत भी अहंकार को बढ़ाने के लिए शोभा यात्रा निकलवाते हैं, बैंड बाजे बजवाते हैं, नग्न रहते हैं, उपवासों का भी हिसाब रखते हैं कि किसने कितने उपवास किये। यह अहंकार विभिन्न रूपों में प्रकट होता है। जनक कहते हैं मैं आत्म-ज्ञान को उपलब्ध हो गया जो मेरा स्वभाव है। अब मैं अपने स्वभाव में जी रहा हूँ। लाभ-हानि, अर्थ-अनर्थ की दृष्टि से नहीं जी रहा हूँ। अब मुझे ठहरने से, चलने से या सोने से न कोई अर्थ है न अनर्थ। ये कार्य स्वभाव से हो रहे हैं। न दिखावे के लिए न लाभ-हानि के लिए। ऐसा करके मैं सुखपूर्वक स्थित हूँ।

# सूत्र ६

**स्वपतो नास्ति मे हानिः सिद्धिर्यत्नवतो न वा।**
**नाशोल्लासौ विहायास्मादहमासे यथासुखम्॥**

*अनुवाद :— "सोते हुए मुझे हानि नहीं है, न यत्न करते हुए मुझे सिद्धि है। इसलिए मैं हानि-लाभ दोनों को छोड़कर सुखपूर्वक स्थित हूँ।"*

*व्याख्या :—* इसी क्रम में जनक कहते हैं कि मेरे सारे कर्म अब स्वभाव से अपने आप हो रहे हैं। प्रकृति केविरुद्ध कोई कर्म नहीं हो रहा है। अब मुझे सोने में भी हानि नहीं है। नींद लगना स्वभाव है तो मैं सो जाता हूँ। स्वभाव के विरुद्ध जागता भी नहीं। ऐसा नहीं सोचता कि सोने से मुझे हानि हो जाएगी, काम बिगड़ जाएगा, घाटा

हो जाएगा आदि। न मैं ऐसा समझता हूँ कि बहुत यत्न करने से बड़ी सिद्धि मिल जाएगी। स्वभाव से जितना आवश्यक एवं अनिवार्य है उतना लाभ-हानि की चिन्ता एवं उद्देश्य-निर्धारण ही अशान्ति का कारण है। ज्ञानी इनसे पार हो जाता है जिससे उसे परम शांति मिल जाती है जबकि संसारी इनसे दुःखी, पीड़ित एवं तनावग्रस्त रहता है।

## सूत्र ७

**सुखादिरूपानियमं भावेष्वालोक्य भूरिशः।**
**शुभाशुभे विहायास्मादहमासे यथासुखम्।।**

*अनुवाद :— "इसलिए अनेक परिस्थितियों में सुखादि की अनित्यता को बारंबार देखकर और शुभ और अशुभ दोनों को छोड़ कर मैं सुखपूर्वक स्थित हूँ।"*

*व्याख्या :—* अज्ञानी संसार में दुःख ही देखता है। उसे संसार में दुःख ही दुःख दिखाई देते हैं। सुख कहीं दिखाई नहीं देते। वह दुःखों को बढ़ाकर एवं सुखों को घटाकर देखने का आदी है। इनके लिए वह सारी सृष्टि, समाज एवं भगवान तक को दोष देता है। दुःखों की निवृत्ति एवं सुख-प्राप्ति हेतु वह अनेक प्रकार के शुभ-अशुभ कर्म करता है। दूसरों को दुःख पहुंचाकर भी स्वयं सुख प्राप्त करना चाहता है। किन्तु जनक कहते हैं कि मैंने अनेक परिस्थितियों में, अनेक जन्मों में देख लिया है कि जैसे दुःख अनित्य हैं, सदा रहने वाले नहीं है, नष्ट होंगे ही, वैसे ही सुख भी अनित्य हैं। वे भी शाश्वत नहीं हैं, वे भी नष्ट होंगे। यह सृष्टि का नियम है। मैं आत्मानन्द को उपलब्ध हो गया इसलिए अब मैं इन शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों के पार केवल अपने स्वभाव में सुखपूर्वक स्थित हूँ। अज्ञानी इन द्वन्द्वों के झगड़ों में पड़कर परेशान, चिन्तित, व दुःखी रहते हैं। ज्ञानी इनसे पार हो जाने से सदा आत्मानन्द में स्थित हुआ सुखपूर्वक जीता है। यह अवस्था ही मोक्ष और निर्वाण की अवस्था है।

*। इति अष्टावक्रगीतायां त्रयोदशप्रकरणं समाप्तम् ।*

— ० —

# चौदहवाँ प्रकरण

## (साक्षी पुरुष के जान लेने पर मुक्ति की चिन्ता नहीं होती)

## सूत्र १

जनक-उवाच

**प्रकृत्या शून्यचित्तो यः प्रमादाद्भावभावनः ।**
**निद्रितो बोधित इव क्षीणसंसरणो हि सः ।।**

*अनुवाद :— राजा जनक कहते हैं :—"जो स्वभाव से ही शून्य-चित्त है पर प्रमाद से विषयों की भावना करता है और सोता हुआ भी जागने के समान है- वह पुरुष संसार से मुक्त है। "*

**व्याख्या :— बारहवें एवं तेरहवें प्रकरण में राजा जनक अनुभूति का वर्णन करते हैं कि आत्मा को जान लेने मात्र से सिद्धि नहीं है बल्कि उसे उपलब्ध कर लेना ही सिद्धि है, यही परम पुरुषार्थ है। उपलब्धि के बाद भी चित्त की चंचलता को पूर्णरूपेण शांत करने के लिए उसमें निरन्तर स्थिर रहना आवश्यक है जिससे अनेक जन्मों के संस्कार-स्वरूप वासना के बीज को पूर्णतः नष्ट किया जा सके। जब यह बीज ही नष्ट हो जाता है तभी उसे कैवल्य पद प्राप्त होता है। ऐसा व्यक्ति सर्वत्र ही उस अद्वय आत्मा को देखता है। यही आत्म-ज्ञान की स्थिति है। इस प्रकरण में जनक मुक्ति का वर्णन करते हैं जो आत्म-ज्ञान के बाद की स्थिति है। आत्म-ज्ञानी में भी**

यदि कामना एवं वासना सम्बन्धी थोड़ा सा भी बीज विद्यमान रह गया तो वह फिर समय पाकर प्रस्फुटित हो सकता है। इस बीज का नाश ही मुक्ति है। राजा जनक कहते हैं कि आत्म-स्वरूप को उपलब्ध हुआ ज्ञानी स्वभाव से शून्य चित्त वाला होता है। उसके चित्त से समस्त कामना, वासना एवं संस्कारजन्य तरंगें शांत होकर चित्त की चंचलता नष्ट हो चुकी है, अब उसमें संकल्प-विकल्प के विक्षेप नहीं है ऐसी स्थिति को उपलब्ध हुआ ज्ञानी सदैव जाग्रत रहता है। सोते समय केवल शरीर का थोड़ा सा भाग ही सोता है। शरीर की सारी क्रियाएं यथावत् चलती रहती हैं। नींद में स्वाँस, रक्त प्रवाह, स्नायु संस्थान, मन आदि अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। ये सोते ही नहीं। केवल मस्तिष्क का थोड़ा सा भाग ही सोता है, थोड़ा विश्राम लेता है किन्तु चेतना कभी नहीं सोती। वह नींद में भी जाग्रत रहती है। सोना चेतना का स्वभाव ही नहीं है। इसलिए जनक कहते हैं कि मैं आत्म-स्वरूप हूँ अतः सोता हुआ प्रतीत होते हुए भी नित्य जाग्रत हूँ। शरीर सोता है, आत्मा कभी नहीं सोती। इस प्रकार आत्मा में स्थित हुआ योगी संसार से मुक्त है। ऐसा पुरुष यदि संसारी विषयों की भावना करता है तो वह वासना एवं आसक्ति से युक्त न होकर प्रमादवश करता है। आत्म-ज्ञानी के क्रियमाण कर्म तो बन्द हो जाते हैं क्योंकि वह कर्त्ता नहीं रहता इसलिए उसके कर्म संचित नहीं होते तथा संचित कर्म भी आत्म-ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं क्योंकि कर्मों का सम्बन्ध मन से है व मन नहीं रहने पर कर्मों का भी क्षय हो जाता है किन्तु प्रारब्ध कर्म जिनसे यह शरीर एवं जीवन मिला है उसे इस जन्म में आत्म-ज्ञान के बाद भी भोगने ही पड़ते हैं। इनको भोगे बिना मुक्ति नहीं होती। इसलिए आत्म-ज्ञानी भी शेष प्रारब्ध कर्मों को भोगना भी अनिवार्य है तभी मुक्ति होती है। यदि उन्हें न भोगा गया तो अनभोगे कर्म फिर अपना प्रभाव दिखाते हैं। इसलिए जनक कहते हैं कि मैं अब विषयों की भावना वासना से न करके प्रमादवश, प्रारब्ध होकर करता हूँ। इस जन्म में जो भोग मुझे मजबूरी से भोगने हैं, ईश्वरीय विधान के अनुसार भोगने हैं इसलिए उनकी ही भावना करता हूँ किन्तु अहंकार एवं कर्त्तापन से मुक्त हूँ।

# सूत्र २

**क्व धनानि क्व मित्राणि क्व मे विषयदस्यवः ।**
**क्व शास्त्रं क्व च विज्ञानं यदा मे गलिता स्पृहा ।।**

*अनुवाद :— "जब मेरी स्पृहा (इच्छा) नष्ट हो गई तब मेरे लिए कहाँ धन, कहाँ मित्र, कहाँ विषयरूपी चोर हैं, कहाँ शास्त्र है, कहाँ ज्ञान है?"*

*व्याख्या :—* आत्म-ज्ञान के सुख के अभाव से ही मनुष्य शारीरिक एवं मानसिक सुख-प्राप्ति हेतु विषयों की ओर प्रवृत होता है। उसे यह भ्रान्ति है कि ये विषय ही उसे न आनन्द दे सकते हैं किन्तु ये विषय तथा इनसे प्राप्त सुख अनित्य है। ज्ञानी शाश्वत सुख को उपलब्ध हो जाता है फिर उसका इन अनित्य विषयों के प्रति कोई आकर्षण नहीं रहता। उसकी इन्हें प्राप्त करने की स्पृहा (इच्छा) ही नष्ट हो जाती है। परम मिलने पर कौन क्षुद्र की इच्छा करता है। धन, मित्र, विषय-भोग, शास्त्र, ज्ञान आदि मनुष्य की वासना पूर्ति के साधन मात्र हैं। जब तक वासना भीतर है तभी तक ये मूल्यवान, महत्वपूर्ण एवं उपयोगी प्रतीत होते हैं, इनमें रस मालूम होता है। यह जीवन एवं संसार वासना की दौड़ मात्र है। मनुष्य दौड़ता ही जाता है किन्तु उपलब्धि से अतृप्त ही रहता है, अतृप्त ही मर जाता है जिससे फिर नये जन्म की दौड़ की शुरूआत होती है। यह वासना अनेक जन्मों में भी शान्त नहीं होती। इसीलिए संसार को मृग-मरीचिका कहा है। यह झूठी दौड़ है जिसमें मिलने पर भी खालीपन का अनुभव होता है। यह स्पृहा संसार की ही नहीं धर्म की भी होती है। किन्तु स्पृहा न रहने पर ही शून्यचित्त होता है। यही स्थिति आत्म-ज्ञान की है, यही परमात्मा का निवास है। जनक कहते हैं कि जब मेरी स्पृहा ही नष्ट हो गई तो मैं शून्य चित्त हो गया, अब वासना की तरंग नहीं उठती, मन उद्वेलित नहीं होता, अतः अब मेरे लिए धन, मित्र, विषय, आदि तो क्या शास्त्र और ज्ञान भी अर्थहीन हो गया। अब इनका कोई मूल्य नहीं रहा। ये सब आत्मा की तृप्ति के लिए नहीं थे। केवल मन, शरीर एवं अहंकार-तृप्ति के लिए थे जिनसे ही मैं

**आत्मानन्द-प्राप्ति से वंचित रहा। इन विषयों ने ही चोर की भाँति मेरी आत्मा को चुराया। अब मैं उसे पुनः प्राप्त कर सुख में स्थित हूँ।**

# सूत्र ३

**विज्ञाते साक्षिपुरुषे परमात्मनि चेश्वरे।**
**नैराश्ये बन्धमोक्षे च न चिन्ता मुक्तये मम ।।**

*अनुवाद :— "साक्षी पुरुष, परमात्मा, ईश्वर, आशा-मुक्ति तथा बन्ध-मुक्ति के जान लेने पर मुझे मुक्ति के लिए चिन्ता नहीं है।"*

***व्याख्या :—*** **समस्त सृष्टि का कारण एवं आधार एक ही चेतन सत्ता है जिसे भारतीय अध्यात्म ने 'ब्रह्म' कहा है। इस ब्रह्म का स्वरूप है 'सत्यं ज्ञानमनंत ब्रह्म' यह ब्रह्म सत्य है, शाश्वत है, ज्ञान-स्वरूप है एवं अनंत-स्वरूप है। सृष्टि के समस्त स्वरूप इसी के स्वरूप हैं। ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं है। समस्त प्राणी-जगत् के भीतर वही चेतन तत्व ब्रह्म विद्यमान है जिसे आत्मा कहा जाता है। देह, इन्द्रियों आदि के संयोग वाला यह आत्मा ही जीव है। इस जीव और ब्रह्म का अभेद सम्बन्ध है जिसे गुरू आत्म-ज्ञानी शिष्य को उपदेशित करता है 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है), 'तत्वमसि' (वह तू ही है), वह- अर्थात् ईश्वर या ब्रह्म, तू अर्थात् जीव या आत्मा, असि- है। ये महावाक्य हैं जो जीव और ब्रह्म की अभेदता का बोध कराते हैं। शिष्य को इनका बोध हो जाने पर वह कहता है 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ)। ब्रह्म सर्वज्ञ है एवं जीव एकदेशीय एवं अल्पज्ञ है। इस अल्पज्ञ स्वरूप में जो चेतन-तत्व आत्मा है वही ईश्वर है। दोनों का अभेद सम्बन्ध केवल चेतन में होता है। इस अभेदता को जिसने जान लिया वही मुक्त है। उसे मुक्ति की न साधना करनी पड़ती है न उसकी चिन्ता ही।**

**इसलिए जनक कहते हैं कि शरीर-स्थित देह, इन्द्रियों आदि का साक्षी पुरुष यह जीव ही आत्मा है। जिसने इस साक्षी पुरुष आत्मा**

**को जान लिया उसने इस परमात्मा (परम + आत्मा) को जान लिया, उसने ईश्वर को जान लिया। आत्मा अल्पज्ञ है एवं परमात्मा सर्वज्ञ। उसी परम + आत्मा (आत्माओं में श्रेष्ठ) कहा है। ऐश्वर्य के कारण उसे 'ईश्वर' कहा जाता है। अतः इस साक्षी पुरुष आत्मा एवं परमात्मा और ईश्वर में अभेद सम्बन्ध है। जिसने इस अभेद्र सम्बन्ध को जान लिया तो उसे आशाओं से मुक्ति एवं बन्धनों से मुक्ति की भी चिन्ता नहीं रहती। जनक को ऐसा अभेद सम्बन्ध ज्ञात हो जाने से ही वे कहते हैं कि इस साक्षी पुरुष परमात्मा, ईश्वर के अभेद सम्बन्ध को जान लेने से मैं आशारहित एवं बन्धमुक्त हो गया हूँ। इसलिए अब मुझे मुक्ति की भी चिन्ता नहीं है। मुक्त तो मैं था ही। बन्धन का जो भ्रम था वह मिट गया है जिससे मैं शांत होकर स्थित हूँ। इस सूत्र का सार है आत्मा एवं परमात्मा के अभेद का ज्ञान। यही ज्ञान की परम स्थिति है। जो दोनों में भेद देखते हैं, परमात्मा को आत्मा से भिन्न समझते हैं वे द्वैतवादी धर्म है। जो आत्मा, आत्मा में भी भिन्नता देखते हैं वे आत्मा के नाम से जीव ही की व्याख्या कर रहे हैं। उन्हें चेतन आत्मा का ज्ञान नहीं हुआ है। जनक कहते हैं यह अद्वैत का अनुभव ही ज्ञान की अंतिम अनुभूति है।**

# सूत्र ४

**अन्तर्विकल्पशून्यस्य बहिः स्वच्छन्दचारिणः।**
**भ्रान्तस्येव दशास्तास्तास्तादृशा एव जानते।।**

*अनुवाद :— "जो भीतर विकल्प से शून्य है और बाहर भ्रान्त हुए पुरुष की भाँति स्वच्छन्दचारी है। ऐसे पुरुष की भिन्न-भिन्न दशाओं को वैसी ही दशा वाले पुरुष जानते हैं।"*

***व्याख्या :—*** **आत्म-ज्ञानी पुरुष स्वच्छन्दचारी होता है। उसे सद्-असद् मिथ्या-भ्रान्ति, नित्य-अनित्य, क्षणिक-शाश्वत् आदि का ज्ञान हो जाता है इसलिए वह सर्व बन्धनों से मुक्त होकर स्वच्छन्द आचरण करता है। वह किसी के प्रतिबन्ध को नहीं मानता है बल्कि स्व-विवेक में जीता है, स्वाभाविक होकर जीता है। उसके आचरण**

सदा निर्दोष होते हैं, वह बालवत् हो जाता है। करने व न करने का आग्रह ही छूट जाता है। उसकी समस्त ग्रंथियाँ खुल जाती हैं, निर्ग्रंथ हो जाता है। वह समस्त कामनाओं, वासनाओं, इच्छाओं के पार हो जाता है। उसका अन्तःकरण संकल्प-विकल्प से शून्य हो जाता है। वह विचार शून्य हो जाता है, निर्णय एवं चुनावरहित हो जाता है। केवल मात्र साक्षी रह जाता है, दृष्टा मात्र। किन्तु बाहर से अन्य व्यक्तियों की ही भांति दिखाई देता है तथा वैसा ही आचरण भी करता है। उसका खाना, पीना, कपड़े पहनना, उठना, बैठना, बात करना आदि समस्त क्रियाएं सामान्य व्यक्ति की ही भांति चलती रहती रहती हैं। वह सामाजिक एवं शासन के नियमों का भी पालन करता है, सड़क पर चलते हुए सड़क के नियमों का भी पालन करता है, व्यावहारिकता, शिष्टाचार भी निभाता है, वह समाज में नग्न होकर नहीं घूमता, अभद्र व्यवहार नहीं करता, हंसी मजाक भी कर लेता है अर्थात् उसका बाहरी व्यवहार सामान्य व्यक्ति की ही भांति चलता रहता है। उसे अपने ज्ञान का अहंकार भी नहीं होता। वह बाहरी अनुशासन की अपेक्षा स्वानुशासन से जीता है किन्तु उसके भीतर बड़ा अन्तर हो जाता है। इस भीतर को जानने का कोई उपाय नहीं है। इसे वही जान सकता है जो इस स्थिति तक पहुंचा है। अज्ञानी उसे नहीं जान पाते। वे उसे सामान्य जन ही समझते हैं। सामान्य जन मनुष्य की परीक्षा उसके शरीर की बनावट, उसके कपड़े पहनने के ढंग एवं उसके आचरण से ही करते हैं। ये तीनों मनुष्य को जानने की कसौटी नहीं हो सकते। बहुरूपिये एवं पाखंडी भी ऐसे अनेकों मुखोटे लगा कर भिन्न-भिन्न आचरण कर सकते हैं। है कुछ और किन्तु कुछ और ही दिखाई देने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के नाटक करते हैं। भीतर जहर भरा है, बाहर अमृतमय वाणी बोलते हैं, भीतर कुटिलता है, बाहर सहिष्णुता का उपेदश देते हैं, भीतर हिंसा भरी है बाहर अहिंसा की तख्ती लगाये घूमते हैं, भीतर से पूरे चार्वाकी हैं बाहर अद्वैत की बातें करते हैं। इसलिए बाह्य आचरण मनुष्य की कसौटी नहीं हो सकता। अज्ञानी ही बाह्य आचरण के अनुसार मनुष्य की परख करता है, ज्ञानी नहीं। अष्टावक्र ने इसीलिए बाह्य आचरण से मनुष्य की परीक्षा करने वाले

को चर्मकार की संज्ञा दी जो केवल चमड़ी के पारखी हैं। ज्ञानी ज्ञान को देखता है बाह्य आचरण को नहीं। इसलिए जनक कहते हैं कि ज्ञानी की आंतरिक स्थिति को दूसरा ज्ञानी ही जान सकता है जिसे वैसा ही अनुभव हुआ है। अज्ञानी उसको कभी नहीं जान सकता। ज्ञानी बाहर भ्रान्त पुरुष की भांति रहता है जैसे उसे कुछ पता नहीं है, वह स्वच्छन्दचारी होता है, वह भिन्न-भिन्न दशाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार करने वाला होता है इसलिए इन बाह्य आचरणों से उसे जानना कठिन है। कृष्ण को जानना इसलिए कठिन हो गया कि वे माखन भी चुराते हैं, रास भी रचाते हैं, बाँसुरी भी बजाते हैं, युद्ध भी करवाते हैं, छल-प्रपंच भी करते हैं व गीता का उपदेश भी देते हैं। ये सब बाह्य आचरण हैं जिनको पकड़ कर व्यक्ति का निर्णय करने वाला हमेशा चूकेगा। आचरण बदलने से ज्ञान नहीं होता, आचरण ज्ञान की छाया है। भीतर शुद्ध होने पर आचरण अपने आप ठीक हो जायेगा। करना नहीं पड़ेगा। आचरण को ठीक करना सामाजिक उपयोगिता है, सामाजिक आवश्यकता है किन्तु इससे आत्म-ज्ञान नहीं होता।

*। इति श्री अष्टावक्रगीतायां चतुर्दशप्रकरणं समाप्तम् ।*

— ० —

# पन्द्रहवाँ प्रकरण

***(यह तत्व-बोध भोग की अभिलाषा रखने वालों के लिए त्यक्त है)***

## सूत्र १

अष्टावक्र-उवाच

**यथातथोपदेशेन कृतार्थः सत्वबुद्धिमान्।**
**आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति ।।**

*अनुवाद :— अष्टावक्र को विश्वास हो गया कि राजा जनक को जो आत्म-बोध हुआ है वह वास्तविक है, भ्रान्ति नहीं हुई है। अतः अब वे उसकी पुष्टि करते हुए कहते हैं :— "सत्व बुद्धि वाला पुरुष थोड़े से उपदेश से ही कृतार्थ होता है। असत् बुद्धि वाला पुरुष आजीवन जिज्ञासा करके भी उसमें मोह को ही प्राप्त होता है।"*

***व्याख्या*** **:— राजा जनक को अष्टावक्र आत्म-ज्ञान की पुष्टि हेतु फिर उपदेश करते हुए कहते हैं कि सत्व बुद्धि वाले पुरुष का अनतःकरण शुद्ध होता है इसलिए थोड़े से उपदेश से ही उसे आत्म-ज्ञान हो जाता है किन्तु वासनायुक्त, राग-द्वेष, अहंकार, लोभ, मोह, घृणा आदि से भरे चित्त को निर्मल करने में काफी समय लगता है, अनेक जन्म भी लग जाते हैं इसलिए ऐसा असत् बुद्धि वाला पुरुष आजीवन जिज्ञासा करके भी आत्म-ज्ञान से वंचित**

रहता है। उसकी जिज्ञासा केवल बौद्धिक होती है। वह धर्म एवं अध्यात्म को भी बुद्धि के तल पर ही समझना चाहता है। समझने से, तर्क-वितर्क पैदा होता है, अन्य धर्मों एवं शास्त्रों के अध्ययन से वह कहीं समन्वय बिठाता है, कहीं विरोध देखता है। इस प्रकार अध्ययन के आधार पर वह सत्य को भी बुद्धि द्वारा ही जानना चाहता है जिससे वह पंडित तो बन सकता है किन्तु ज्ञानी नहीं बन सकता। उसे शास्त्रों से एवं अपने बौद्धिक जानकारी से मोह हो जाता है जिससे वह उपलब्धि से वंचित रह जाता है। यह ज्ञान बुद्धि से परे चेतना का अनुभव है जो ध्यान अथवा समाधि में अथवा बोध से प्राप्त होता है। अन्य भी अनेक विधियाँ हैं किन्तु उसकी एक ही शर्त है सत्व-बुद्धि का होना। मुमुक्षु ही इसका अधिकारी है, जिज्ञासु नहीं। आत्म-ज्ञान की कोई साधना नहीं है। केवल अज्ञान का जो आवरण है उसे हटाना मात्र है जिसमें लम्बा समय लगता है। इसी अज्ञान से बुद्धि भ्रमित है। इसीलिए साधना द्वारा केवल सत्व-बुद्धि प्राप्त होती है। इसके बाद गुरु के उपदेश से तत्व-बोध होता है। यही साधना एवं उपलब्धि का रहस्य है।

# सूत्र २

**मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः।**
**एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु॥**

*अनुवाद :— "विषयों में विरसता मोक्ष है, विषयों में रस बन्ध है। इतना ही विज्ञान है। तू जैसा चाहे वैसा कर।"*

*व्याख्या :—* तत्व-बोध का उपदेश अधिकारी शिष्य को ही दिया जाता है। अनधिकारी को देने से उसे लाभ के बजाय हानि ही अधिक होती है। अधिकारी कौन है इसकी व्याख्या प्रथम सूत्र में अष्टावक्र ने की है कि सत्वबुद्धि वाला ही इसका अधिकारी है, अन्य कोई नहीं। सत्व-बुद्धि वाला ही इसे समझ कर आत्मसात् कर सकता है, तभी उसे सत्व की अनुभूति होती है। वही अच्छा ग्राहक होता है। चित्त की शून्यावस्था ही ग्राहक बनती है, स्वच्छ काँच में ही

प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। अधिकारी की परीक्षा गुरु स्वयं करता है। शिष्य कभी दावा नहीं करता कि मैं अधिकारी हूँ, मैंने इतने उपवास किये हैं, मैंने संसार छोड़ दिया, नग्न रहा, इतने गायत्री पुरश्चरण किये, इतने घंटे रोज उपासना की, इतना दान दिया, इतना त्याग किया इसलिए मैं आत्म-ज्ञान का अधिकारी हूँ, मुझे उपदेश दीजिये। गुरु यदि पहचान लेता है कि यह सत्व-बुद्धि वाला है तो उसे यह अंतिम उपदेश देता है जैसा अष्टावक्र ने जनक को दिया जिसे सुनते ही जनक को आत्म-ज्ञान हो गया। यदि पूर्व में भूमि तैयार न होती तो अष्टावक्र यह उपदेश कभी नहीं देते। वे उन्हें साधना बताते, मन्त्र जप को कहते, अष्टांग-योग बताते, उपासना बताते किन्तु जनक के लिए इसकी उपयोगिता नहीं थी। उनकी पृष्ठभूमि पहले ही से तैयार थी इसलिए घटना उसी क्षण घट गई। अष्टावक्र ने फिर परीक्षा ली जिससे उनको विश्वास हो गया कि जनक को वास्तव में आत्म-ज्ञान हो चुका है भ्रान्ति नहीं हुई है। अब इस प्रकरण में गुरु दीक्षान्त रूप में, आशीर्वादात्मक प्रवचन कर रहे हैं कि तुझे आत्म-ज्ञान हुआ, तू मुक्त हुआ, अब तू सुखपूर्वक विचर। सार संक्षेप में, सूत्रबद्ध सम्पूर्ण रहस्य को खोलकर रख दिया। ऐसा अनूठा संवाद अध्यात्म जगत् में मिलना कठिन है। साँख्य का ऐसा उपदेश अन्यत्र नहीं मिलता। अष्टावक्र के ये सूत्र साधना-सूत्र नहीं हैं, आरंभ नहीं है बल्कि साधना द्वारा चित्तशुद्ध होने पर दिया गया अंतिम उपदेश है।

अष्टावक्र कहते हैं कि मोक्ष कोई वस्तु नहीं है जिसे प्राप्त किया जाये, न कोई स्थान है जहाँ पहुंचा जाये, न कोई भोग है जिसे भोगा जा सके, न कोई रस है जिससे आनन्द मिले, न इसकी कोई साधना है, न सिद्धि, न यह स्वर्ग में है न सिद्ध शिला पर। विषयों में विरसता ही मोक्ष है। विषयों में रस आता है तो संसार है। उसका कारण मन है। अतः मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण है। उपनिषद् कहते हैं "मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" (यह मन ही मनुष्यों के बन्धन और मुक्ति का कारण है) यह मन जब विषयों में आसक्त होता है तब बन्ध है, यही संसार है। जब यह विषयों से विरस हो जाता है तब मुक्ति है। संसार की उपस्थिति बन्ध नहीं है, संसार में

रहना, खाना-पीना व अन्य कर्म करना भी बन्ध नहीं है बल्कि उनमें रस लेना, उनमें आसक्ति का होना ही बन्ध है। इनमें विरक्त हो जाना, अनासक्त हो जाना, इनकी उपेक्षा करना ही मुक्ति है। अष्टावक्र कहते हैं इतना ही मोक्ष का विज्ञान है, सार है। इसलिए हे जनक! तू इस मोक्ष को प्राप्त हो गया। अब तू जैसा चाहे वैसा कर। अब तेरे लिए संसार में आसक्ति का कोई उपाय नहीं रहा। बीज ही नष्ट हो गया अब आसक्ति की संभावना ही नहीं है। शरीर पर राख लपेट लेने से, धूनी रमाने से, संसार को गालियां देने से, शरीर को सताने से, उपवास करने से, भोजन के साथ नीम की चटनी खाने से विषयों के प्रति विरसता नहीं आ सकती। इसका मोक्ष से सम्बन्ध नहीं है।

## सूत्र ३

**वाग्मिप्राज्ञमहोद्योगं जनं मूकजडालसम्।**
**करोति तत्वबोधोऽयमतस्त्यक्तो बुभुक्षुभिः।।**

*अनुवाद :— "यह तत्व-बोध वाचाल, बुद्धिमान् और महा उद्योगी पुरुष को गूंगा, जड़ और आलसी कर जाता है। इसलिए भोग की अभिलाषा रखने वालों के द्वारा तत्व-बोध त्यक्त है।"*

*व्याख्या :—* भोग और मोक्ष दो धुरियां हैं जो विपरीत दिशा की ओर जाती हैं। संसार है भोग एवं उसमें विरसता ही मोक्ष है। दोनों के बीच मन खड़ा है जो कभी भोगों की ओर आकर्षित होता है कभी मोक्ष की ओर। दोनों ओर यह कभी भी नहीं जा सकता। भोगों में रस लेना, उनमें आसक्ति होना, सकाम एवं सोद्देश्य कर्म करना, फलाकांक्षा से कर्म करना संसार है। इसलिए जिसे भोगों में रुचि है, विषयों में रस आता है, उसके लिए यह तत्व-बोध जो मुक्ति के लिए ही है, त्यक्त है क्योंकि मुक्ति में मिलता कुछ नहीं है, छूटता सब है, अनावश्यक सब छूट जाता है, संसार में फिर इसका रस नहीं रहता इसलिए उसका मन फिर विषय भोगों की ओर भागेगा जिससे उसका पतन होगा। ऐसा व्यक्ति फिर न घर का रहता है न घाट

का। वह पाखंडी, पथ भ्रष्ट हो जायेगा। भोग की इच्छा रखने वाला वाचाल होगा, बुद्धिमान् होगा, महान उद्योगी होगा, कर्मठ होगा तभी यह भोग सकता है किन्तु आत्म-ज्ञान होने पर वह गूंगा हो जाता है, बोलने का रस ही समाप्त हो जाता है, वह कर्म के प्रति उदासीन हो जाता है, जड़ एवं आलसी जैसा हो जाता है जिससे उसे और बेचैनी होती है। मन का सारा प्रवाह, उसकी सारी शक्ति चेतना की ओर हो जाने से संसार छूट जाता है। इसलिए अष्टावक्र की यह देशना है कि जिसकी संसार में रुचि है, जिसे विषयों में ही आनन्द मिलता है, जो पुरुषार्थी एवं कर्मठ तथा महा उद्योगी है, जो बुद्धिमान्, विद्वान है, पांडित्य ही जिसका आभूषण है ऐसे व्यक्ति के लिए सन्यास, मुक्ति एवं मोक्ष का उपदेश देना उसको लाभ नहीं हानि ही पहुंचायेगा। यह उपदेश ऐसे व्यक्तियों के लिए है जो भोगों से तृप्त हो गया है, संसार के समस्त कटु अनुभवों से गुजर चुका है, जिसे स्भावतः संसार से विरक्ति हो गई है वही इसका लाभ उठा सकता है, अन्यथा कोई लाभ नहीं होगा।

## सूत्र ४

**न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्त्ता न वा भवान्।**
**चिद्रूपोऽसि सदा साक्षी निरपेक्षः सुखं चर।।**

*अनुवाद :— "तू शरीर नहीं है, न तेरा शरीर है, तू भोक्ता और कर्ता भी नहीं है। तू वो चैतन्यरूप है, नित्य है, साक्षी है, निरपेक्ष है। तू सुखपूर्वक विचर।"*

*व्याख्या :—* अष्टावक्र जनक से कहते हैं कि तेरी इन विषयों में आसक्ति नहीं थी, उनमें रस नहीं था, तू मुमुक्षु था एवं शुद्ध अन्तःकरण वाला था इसलिए तुझे शीघ्र ही आत्म-बोध हो गया। अब तू उस चैतन्य आत्मा में स्थित हो गया, तू आत्म-स्वरूप ही हो गया अतः अब तू शरीर नहीं है, न तेरा शरीर है, न तू भोक्ता है न कर्त्ता है, क्योंकि तू चैतन्य आत्मा है जो नित्य है, साक्षी है तथा निरपेक्ष है। इसलिए अब तू सुखपूर्वक विचर।

# सूत्र ५

**रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन।**
**निर्विकल्पोऽसि बोधात्मा निर्विकारः सुखं चर ।।**

*अनुवाद :— "राग और द्वेष मन के धर्म हैं। तू कभी मन नहीं है। तू निर्विकल्प, निर्विकार, बोध-स्वरूप आत्मा है। तू सुखपूर्वक विचर।"*

***व्याख्या :—*** **शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार आदि प्रकृतिजन्य हैं जिनके भिन्न-भिन्न धर्म हैं। आत्मा चैतन्य-स्वरूप है जिसके गुण धर्म इनसे भिन्न हैं। अष्टावक्र जनक से कहते हैं कि तू आत्म-ज्ञानी है इसलिए आत्मा ही तेरा कर्म एवं स्वभाव है। तू इसी के अनुसार आचरण करता हुआ सुखपूर्वक विचर। ये राग और द्वेष मन के धर्म हैं, तुझ चैतन्य के धर्म नहीं हैं इसलिए तेरे धर्म नहीं हैं क्योंकि तू मन नहीं है आत्मा है जो निर्विकल्प, निर्विकार और बोध-स्वरूप है जो इन सबका साक्षी मात्र है। इसलिए शरीर और मन के दोषों से तू सर्वथा मुक्त है।**

# सूत्र ६

**सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।**
**विज्ञाय निरहंकारो निर्ममस्त्वं सुखी भव ।।**

*अनुवाद :— "सब भूतों में आत्म को तथा सब भूतों को आत्मा जानकर तू अहंकार रहित और ममता रहित है। तू सुखी हो।"*

***व्याख्या :—*** **संसार में अनेकता का आभास होता है। व्यक्ति, पशु, पक्षी, कीट-पतंग, वनस्पति, जड़-चेतन, ठोस, तरल, गैस, आदि पदार्थों में भिन्नता दिखाई देती है जो मन का ही प्रक्षेपण है। मन हमेशा भिन्नता ही देखता है क्योंकि उसकी दृष्टि सीमित है।**

किन्तु ये सारी अनेकताएं एवं भिन्नताएं आत्मा के अज्ञान से ही प्रतीत होती हैं। जिसने इस आत्म-तत्व को जान लिया उसकी इस अनेकता की भ्रान्ति मिट जाती है। वह यह जान लेता है कि यह सम्पूर्ण सृष्टि उसी एक आत्मा के विभिन्न रूप हैं। इन सबके भीतर एक ही चैतन्य आत्मा का प्रकट रूप है। जिस प्रकार दूध से सैकड़ों प्रकार की मिठाइयां एवं पदार्थ बनते हैं उसी प्रकार आत्मा ही सबका कारण है। इस एक की अनुभूति होना ही परम-ज्ञान है। अज्ञानी भिन्नता देखता है। इसी से उसमें अहंकार और ममता होती है, राग-द्वेष, ईर्ष्या, लोभ-मोह होता है। अष्टावक्र कहते हैं कि तू आत्मा को उपलब्ध हो गया इसलिए तूने यह स्पष्ट रूप से जान लिया कि सभी भूत पदार्थों से आत्मा है तथा सब भूत आत्मा ही हैं। दोनों अभिन्न हैं। इसलिए तू अहंकाररहित एवं ममतारहित है। अब तू सुखी हो। यह कथन वैसा ही वैज्ञानिक है जैसा वैज्ञानिक विद्युत और पदार्थ को अभिन्न मानते हैं। पदार्थ ही ऊर्जा है एवं ऊर्जा ही पदार्थ है। अध्यात्म की यह दृष्टि भी पूर्ण वैज्ञानिक है। ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा एवं संसार की ऐसी वैज्ञानिक व्याख्या कोई भी अन्य धर्म नहीं दे पाया।

## सूत्र ७

**विश्व स्फुरति यत्रेदं तरंगा इव सागरे।**
**तत्वमेव न संदेहश्चिन्मूर्ते विज्वरो भव।।**

*अनुवाद :— "जिसमें यह संसार तरंगों की भांति स्फुरित होता है वह तू ही है, इसमें संदेह नहीं है। हे चैतन्य स्वरूप ! तू ज्वर रहित हो (संताप रहित हो)।"*

*व्याख्या :—* अष्टावक्र जनक से कहते हैं कि जिस प्रकार समुद्र में तरंगें उठती हैं किन्तु ये तरंगें समुद्र से भिन्न नहीं हैं इसी प्रकार तू आत्मा होने से उस महासमुद्र के समान है जिससे यह संसार तरंगों की भांति स्फुरित होता है। तरंगें जिस प्रकार अनित्य हैं, उठती हैं, गिरती हैं, नष्ट होती हैं किन्तु इससे समुद्र को कोई हानि-लाभ नहीं

**होता उसी प्रकार संसार अनित्य है। वह बनता, बिगड़ता है, ध्वंस और निर्माण की प्रक्रिया सदा चलती रहती है किन्तु इससे आत्मा को कुछ भी हानि-लाभ नहीं है। क्योंकि आत्मा समुद्र की भांति नित्य है। संसार का सारा व्यवहार, सारे विषय, भोग, संयोग-वियोग, लेन-देन आदि तरंगवत् हैं किन्तु तू तरंग नहीं है महासागर है। इसमें संदेह नहीं हैं। इसलिए ऐसा जानकर तू ज्वर-रहित, सन्ताप रहित हो। सारे सन्ताप का कारण इतना ही था कि तूने अपने को महासमुद्र नहीं तरंग समझा, आत्मा नहीं शरीर व मन समझा जो तेरा अज्ञान था। अब ज्ञान-दीपक के जल जाने से अज्ञान-जनित भ्रान्ति मिट गई है जिससे तू सन्ताप-रहित है।**

# सूत्र ८

**श्रद्धत्स्व तात श्रद्धत्स्व नात्र मोहं कुरुष्व भोः।**
**ज्ञानस्वरूपो भगवानात्मा त्वं प्रकृतेः परः॥**

*अनुवाद :— "हे तात! श्रद्धा कर, श्रद्धा कर। इसमें मोह मत कर। तू ज्ञान-स्वरूप, भगवान-स्वरूप आत्मा है तथा प्रकृति से परे है।"*

***व्याख्या :—*** **अष्टावक्र फिर कहते हैं कि तू इस प्रकार की आत्मस्थिति को उपलब्ध हो गया अतः हे तात! अब इसमें श्रद्धा कर। जिसने प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया, केवल पुस्तकों से जाना है या किसी से सुना है तो वह अश्रद्धा भी कर सकता है क्योंकि यह ज्ञान बुद्धि की पकड़ से परे है, स्वानुभूति का ही विषय है किन्तु तुझे तो प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका है इसलिए तेरे लिए अश्रद्धा का कोई कारण ही नहीं है। यह संसार भौतिक है, जड़ है, प्रकृतिजन्य है। तू आत्मा है जो प्रकृति से परे ज्ञान-स्वरूप व भगवान-स्वरूप है। इसलिए इस प्रकृतिजन्य संसार में तू मोह मत कर।**

卐

# सूत्र ९

**गुणैः संवेष्टितो देहास्तिष्ठत्यायाति याति च।**
**आत्मा न गन्ता नागन्ता किमेनमनुशोचसि ।।**

*अनुवाद :— "गुणों से लिप्त यह शरीर रहता है आता है और जाता है। किन्तु यह आत्मा न जाने वाला है न आने वाला। इसके लिए क्यों सोच करता है।"*

**_व्याख्या :_— जिस प्रकार स्वर्ण से अनेक आभूषण बनते हैं और बिगड़ते हैं, मिट्टी से अनके वर्तन बनते एवं मिटते हैं, समुद्र से अनेक तरंगें उठती हैं और गिरती हैं, विद्युत से पदार्थ बनते हैं और बिगड़ते हैं किन्तु उनका मूल-तत्व सदा विद्यमान रहता है। विज्ञान भी यही कहता है कि पदार्थ अविनाशी है, शक्ति अविनाशी है, पदार्थ का रूपान्तरण होता है, शक्ति का भी रूपान्तरण होता है किन्तु वह स्वयं अविनाशी है। शक्ति व पदार्थ का एक दूसरे में रूपान्तरण होता है। पदार्थ विनाशी है एवं यही संसार है। शक्ति नित्य है, शाश्वत है, स्वयंभू है। उसका कभी विनाश नहीं होता। अध्यात्म भी यही कहता है कि यह शरीर एक आकृति है जो सत्व, रज, एवं तमगुणों से लिप्त है। यह शरीर आता है, जाता है, रहता है, मरता है, इसी का बचपन, जवानी, बुढ़ापा होता है किन्तु यह आत्मा नित्य एवं शाश्वत है। यह न कहीं जाता है न आता है, न जन्मता है न मरता है, न इसका क्षय होता है न वृद्धि। यदि शरीर चला गया तो यह फिर नया शरीर धारण कर लेगा। इसलिए अपने को शरीर न मान कर उस नित्य आत्मा को जानकर तू इस बनने और बिगड़ने वाले शरीर के लिए क्यों सोच करता है। अज्ञानी ही ऐसा सोच करते हैं जो शरीर को ही सब कुछ समझते हैं कि इसके जाने से सब कुछ नष्ट हो जायेगा, पीछे कुछ बचेगा ही नहीं किन्तु ज्ञानी इस शरीरपात का कभी सोच नहीं करते।**

—०—

# सूत्र १०

**देहस्तिष्ठतु कल्पान्तं गच्छत्यद्यैव वा पुनः।**
**क्व वृद्धिः क्व च वा हानिस्तव चिन्मात्ररूपिणः ।।**

*अनुवाद :— "देह चाहे कल्प के अन्त तक रहे, चाहे वह अभी चली जाये, तुम चैतन्य रूप वालों की कहां वृद्धि है, कहाँ नाश है।"*

**व्याख्या :— इसी क्रम में अष्टावक्र कहते हैं कि यह देह तो मरणधर्मा है। यह तो जायेगी ही, नष्ट होगी ही। इसे बचाने का कोई उपाय ही नहीं है। राम की भी नहीं बची, कृष्ण की भी नहीं बची, बुद्ध की भी नहीं बची। न ज्ञानी की बची न अज्ञानी की, न संत महात्मा की बची न चोर डाकुओं की। आना-जाना यह सृष्टि का नियम है इसमें अपवाद है ही नहीं। जब यह ध्रुव सत्य है कि देह नष्ट होगी ही फिर चाहे वह कल्पान्त तक रहे अथवा अभी नष्ट हो जाये कोई अन्तर नहीं पड़ता। अतः यह सोच का विषय ही नहीं है किन्तु चैतन्य रूप आत्मा है इसलिए यह आत्मा न नष्ट होगी न इसकी वृद्धि ही है। यह जैसा है वैसा ही सदा रहेगा। तू आत्म-रूप होने से नित्य है। अतः तू सुखी हो।**

# सूत्र ११

**त्वय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्ववीचिः स्वभावतः।**
**उदेतु वास्तमायातु न ते वृद्धिर्न वा क्षतिः ।।**

*अनुवाद :— "तुझ अनन्त महासमुद्र में विश्वरूप तरंग अपने स्वभाव से उदय और अस्त को प्राप्त होती है किन्तु न तेरी वृद्धि है न नाश है।"*

**व्याख्या :— अष्टावक्र कहते हैं कि जिस प्रकार इस अनन्त महासागर में वायु के झोंकों से अनेक प्रकार की तरंगें उठती हैं और**

नष्ट होती हैं किन्तु इससे समुद्र की न वृद्धि है न नाश। जिस प्रकार आकाश में अनेक वायु विक्षेप उठते और शांत होते हैं किन्तु आकाश सदा अस्पर्शित रहता है उसी प्रकार तू आत्मा रूपी अनन्त महासमुद्र है जिसमें चित्त की चंचलता के कारण विश्वरूपी तरंगें उठती हैं एवं नष्ट होती हैं किन्तु इनसे यह साक्षी आत्मा सदा अप्रभावित रहती है। संसार के वृद्धि एवं नाश से तुझ आत्मा की वृद्धि न नाश नहीं है।

# सूत्र १२

**तात चिन्मात्ररूपोऽसि न ते भिन्नमिदं जगत्।**
**अतः कस्य कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना।।**

*अनुवाद :— "हे तात! तू चैतन्यरूप है, तेरा यह जगत् तुझसे भिन्न नहीं है। इसलिए हेय और उपादेय की कल्पना किसकी, क्योंकर और कहाँ हो सकती है।"*

***व्याख्या :***— यह समस्त सृष्टि एक ही इकाई है, यह संयुक्त है, अखंड है, इसका विभाजन हो ही नहीं सकता। यह सृष्टि परिधि है किन्तु इसका केन्द्र एक है, धुरी एक है जिसके सहारे यह संसार-चक्र चलता है, कुएं अनेक हैं किन्तु उन सब में जल का स्रोत एक ही है, पदार्थ अनेक हैं किन्तु उन सबका मूल-तत्व ऊर्जा एक ही है जो विभिन्न तत्वों में एवं पदार्थों में विभक्त दिखाई देता है। इसी प्रकार आत्मा एक है जिसकी धुरी पर यह शरीर-चक्र चल रहा है। जो शरीरस्थ आत्मा है वही विश्वात्मा है जिससे यह सृष्टि-चक्र चलता है। अतः आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, सृष्टि, जीव, जगत्, जड़, चेतन भिन्न-भिन्न नहीं उसी एक की अभिव्यक्ति मात्र हैं। वह एक ही अनके रूपों में प्रकट हुआ है। यह भिन्नता अहंकार के कारण प्रतीत होती है। इसी भिन्नता के अज्ञान के कारण हेय और उपादेय, ग्रहण और त्याग, संसार और परमात्मा, लाभ और हानि, जीवन और मृत्यु आदि अनेक द्वन्द्वों की कल्पना होती है एवं यह द्वन्द्व ही दुःखों का कारण बन जाता है। इसी अहंकार से वासना का उदय होता है एवं

वासना ही संसार है। इसलिए अष्टावक्र जनक से कहते हैं कि तू चैतन्य रूप आत्मा है अतः यह जगत् तुझसे भिन्न नहीं है। फिर इस हेय और उपादेय की कल्पना तुझमें कैसे हो सकती है। हेय और उपादेय की कल्पना तभी होती है जब मनुष्य अपने को सृष्टि से भिन्न शरीर मात्र समझता है। आत्मा का अनुभव होने पर हेय और उपादेय की कल्पना व्यर्थ हो जाती है जैसे एक ही शरीर के विभिन्न अंगों में कौन सा हेय है और कौन सा उपादेय यह कल्पना करना ही मूढ़ता प्रतीत होती है। ऐसी ही यह सृष्टि है। इसके अंग भिन्न होने से हेय और उपादेय कहना उचित नहीं है। यह व्याख्या मन एवं अहंकार के कारण दी जाती है जो अज्ञान मात्र है।

## सूत्र १३

**एकस्मिन्नव्यये शान्ते चिदाकाशेऽमले त्वयि।**
**कुतो जन्म कुतः कर्म कुतोऽहंकार एव च।।**

*अनुवाद :— "तुझ एक निर्मल, अविनाशी, शांत और चैतन्य रूप आकाश में कहाँ जन्म है, कहाँ कर्म है और कहाँ अहंकार है?"*

*व्याख्या :—* अष्टावक्र फिर कहते हैं कि आत्मा निर्मल है, उसमें दोष है ही नहीं, यह शुद्ध है, अविनाशी है, शांत है, इसमें तरंगें उठती ही नहीं, तथा यह चैतन्य रूप आकाश की भांति सर्वत्र है, सदा विद्यमान है इसका न जन्म है, न कर्म है, न अहंकार। हे जनक ! तू आत्मा है इसलिए ये सभी गुण तेरे हैं। ये सारे विकार मन शरीर और अहंकार के हैं जिनसे तू भिन्न है। अपने को आत्मवत् जान लेने पर इसकी प्रतीति नहीं होती।

## सूत्र १४

**यत्वं पश्यसि तत्रैकस्त्वमेव प्रतिभाससे।**
**किं पृथग्भासते स्वर्णात्किटकांगदनूपुरम्।।**

*अनुवाद :— "जिसको तू देखता है उसमें एक तू ही भासता है। क्या कंगना, बाजूबन्द और नूपुर सोने से भिन्न भासते हैं।"*

**व्याख्या :—** अष्टावक्र कहते हैं कि जिस प्रकार कंगना, बाजूबन्द और नूपुर की आकृतियां भिन्न-भिन्न हैं, उपयोग भिन्न-भिन्न हैं किन्तु सबका निर्माण तो एक ही तत्व स्वर्ण से हुआ है, वही स्वर्ण सब में है, नाम एवं रूप की भिन्नता से स्वर्ण में भिन्नता नहीं होती उसी प्रकार इस सृष्टि के विभिन्न अवयवों में आत्मा ही एक मूल तत्व है, सब उसी की आकृतियां मात्र हैं अतः आत्मा में कोई भेद नहीं है। तू चूंकि आत्मा ही है अतः सृष्टि के समस्त पदार्थों में एक तू ही भासता है। यह भेद जो दिखाई देता है वह शरीरों का है, आकृतियों का है वरना फूल और कांटे, मनुष्य और पशु-पक्षी सभी में वह एक ही तत्व है। इन रूपों के भीतर जो अरूप छिपा है वही तत्व मूल है। ये अनेक उसी एक चैतन्य सागर की लहरें मात्र हैं। भीतर जो छिपा सागर है वही इन सबका आधार है। ऐसा जान लेने पर ही उपद्रव शांत होकर परम शांति उपलब्ध होती है।

## सूत्र १५

**अयं सोऽहमयं नाहं विभागमिति सन्त्यज।**
**सर्वमात्मेति निश्चित्य निःसंकल्पः सुखो भव।।**

*अनुवाद :— " 'यह मैं हूँ' ' यह मैं नहीं हूँ' ऐसे विभाग को छोड़ दे। 'सब आत्मा है' ऐसा निश्चय करके तू संकल्परहित हो, सुखी हो।"*

**व्याख्या :—** यह सम्पूर्ण सृष्टि एक है, अखंड है, उस एक ही आत्मा का विस्तार है। इसमें भिन्नता कहीं नहीं है। नाम रूपों की भिन्नता से अज्ञानी भिन्नता देखता है। वह खण्ड-खण्ड में देखता है। उसे हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई दिखाई देते हैं, उसे जड़-चेतन, मनुष्य, जीव जन्तु में भेद दिखाई देता है, वह जीव और आत्मा में भेद देखता है, आत्मा और परमात्मा में भेद देखता है, यह भेद ही दुःखों का कारण है। सृष्टि एक ही सत्ता है इसका विभाजन करना ही अज्ञान

है। द्वैत दृष्टि के कारण ही दुःखों का जन्म होता है। समग्र की अनुभूति हो जाना ही ज्ञान है, यही धर्म है। समग्र ही जीवन है, यही ब्रह्म है। इसी एकीकृत अस्तित्व को उपलब्ध होना ही धर्म है, खण्ड-खण्ड में विभाजन करना ही अधर्म है, अज्ञान है। 'अहं ब्रह्मास्मि' की घोषणा ऐसी ही धर्म की घोषणा करना है। यह अहंकार नहीं है बल्कि उस अखंड की उसी समग्र की अनुभूति है कि 'मैं' और 'ब्रह्म' एक ही हैं, भिन्न नहीं हैं, दो का कोई स्थान नहीं है। सब कुछ छोड़ देने से, भस्मी लगा लेने से, भीख मांग कर खाने से, गिड़गिड़ाने एवं याचना करने से, दण्डवत् करने से, विनम्रता दिखाने से, क्षमा याचना करने से अहंकार नहीं मिटता। अहंकार इस एक की अनुभूति हुए बिना मिटता नहीं। यह धर्म की पराकाष्ठा है कि आत्मा एक है, सब उसी का विस्तार है, वही सर्वत्र व्यापक है। भिन्नता की प्रतीति ही अज्ञान है एवं एकत्व का अनुभव हो जाना ही ज्ञान है, यही मुक्ति है। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि हे जनक ! ''मैं वही ब्रह्म हूँ'' अथवा मैं वह नहीं हूँ, उससे भिन्न जीव मात्र हूं, ''परमात्मा और मैं भिन्न हूं'' ऐसी भेद-दृष्टि को, ऐसे विभाग को छोड़ दे। क्योंकि 'सोऽहं' 'शिवोऽहं' आदि कहना भी भेद-दृष्टि ही है। जिसे उस शिव या ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता वही ऐसा कहता है। ज्ञान होने पर, जान लेने पर 'मैं' बचता ही नहीं फिर 'मैं वहीं हूँ' कहने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। इसलिए सब आत्मा ही है, भिन्नता कहीं है नहीं, ऐसा निश्चय करके तू संकल्परहित हो सुखी हो। एक की अनुभूति से ही सभी संकल्प गिर जाते हैं एवं मनुष्य सुखी व शांत हो जाता है।

## सूत्र १६

**तवैवाज्ञानतो विश्व त्वमेकः परमार्थतः।**
**त्वत्तोऽन्यो नास्ति संसारी नासंसारी च कश्चन ।।**

*अनुवाद :— ''तेरे ही अज्ञान से विश्व है। परमार्थतः तू एक है। तेरे अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है—न संसारी और न असंसारी है।''*

*व्याख्या* :— इसी क्रम में अष्टावक्र कहते हैं कि हे जनक! तुझे विश्व की अपने से भिन्न प्रतीति हो रही है। तू संसार को अपने से भिन्न समझता है इसलिए 'मैं' और 'विश्व' तुझे दिखाई देते हैं। यह दो का विभाजन ही अज्ञान है। इसी अज्ञान के कारण यह विश्व है अन्यथा परमार्थ में न तू है न यह विश्व बल्कि एक ही आत्मा है। जो तू है वही यह विश्व है। इसी प्रकार संसारी और असंसारी का भेद भी अज्ञान के कारण है। ये सभी आत्मा है अतः तू ही सब कुछ है। तेरे सिवा (तुझ आत्मा के सिवा) कोई दूसरा है ही नहीं। सब आत्मा रूप है। यही ज्ञान है, यही परम सत्य है। सत्य एक ही है। दो सत्य कभी नहीं होते। यह भेद ही अज्ञान है एवं अभेद ज्ञान है। अभेद के बीच जब अहंकार की दीवार खड़ी होती है तब भेद दिखाई देता है। इसके गिरते ही सब अभेद दिखाई देता है। सभी संयुक्त प्रतीत होता है। अतः अहंकार ही अज्ञान है। यह आत्मा संसारी भी नहीं है क्योंकि यह संसार में लिप्त नहीं है। यह असंसारी भी नहीं है क्योंकि संसार उसी की अभिव्यक्ति है।

# सूत्र १७

**भ्रान्तिमात्रमिदं विश्व न किञ्चिदिति निश्चयी।**
**निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किञ्चिदिव शाम्यति ।।**

*अनुवाद :— "यह विश्व भ्रान्ति मात्र है और कुछ नहीं है। ऐसा निश्चयपूर्वक जानने वाला वासना रहित और चैतन्य मात्र है। वह ऐसी शान्ति को प्राप्त है मानो कुछ नहीं है।"*

*व्याख्या* :— इस संसार में दो ही प्रकार के व्यक्ति हैं अज्ञानी और ज्ञानी तथा इनकी दो दृष्टियां हैं संसार के प्रति। अज्ञानी कहता है संसार ही सत्य है, संसार में अनेकता है, विभिन्नता है। प्राकृतिक, राजनैतिक, मानसिक, शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक आदि अनेक स्तरों में भी भिन्नता दिखाई देती है, यहाँ तक कि कुछ लोगों को आत्मा में भी भिन्नता दिखाई देती है कि सब आत्माएं भिन्न-भिन्न हैं। कुछ लोग परमात्मा में भी भिन्नता देखते हैं जैसे कि

हिन्दू के, मुस्लिम के, ईसाई के, जैनी के परमात्मा भिन्न-भिन्न हैं। यह सब दृष्टि अज्ञानी की है। उसे जैसा प्रत्यक्ष दिखाई देता है वैसा ही मान लेता है। परोक्ष का उसे कुछ पता नहीं है। उसका सारा ज्ञान इन्द्रियगत है। जो इन्द्रियों की पकड़ में आता है, जो बुद्धि की पकड़ में आता है, उसी को वह सत्य मानता है। इन्द्रियों के पार के अस्तित्व का उसे कुछ पता नहीं। वह ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर आदि की भी सत्ता में विश्वास नहीं करता क्योंकि वह इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है। ऐसा व्यक्ति वैज्ञानिक है, भौतिक मात्र है किन्तु वह सच्चा है, ईमानदार है। जैसा जाना वैसा ही सत्य व ईमानदारी से कह दिया। वह ब्राह्मण है, ऋषि है। कोई पाखंड नहीं किया, कुछ छिपाया नहीं, किसी को धोखा नहीं दिया। जैसा दिखाई देता है वैसा कह देना भी बड़े साहस का कार्य है, बड़ा आत्मबल चाहिए। दुनियां के सारे धर्मों की मान्यताओं को ठुकरा कर तथा सजा के भय को भी साहस के साथ स्वीकार करते हुए जब गेलीलियो ने कहा कि सूर्य नहीं, पृथ्वी घूमती है तो उसके ये वाक्य क्या किसी ऋषि वाक्य से कम थे। चार्वाक को भी इसीलिए ऋषि कहा गया कि उसने जैसा जाना प्रकट कर दिया। किन्तु कई पाखंडी ऐसे हैं जिन्होंने जाना नहीं और कहते हैं कि ब्रह्म है, आत्मा है, सृष्टि माया है, इसमें सार नहीं है, ब्रह्म सत्य है, मोक्ष है, स्वर्ग-नरक है पुनर्जन्म है आदि। अज्ञानी के लिए जगत् ही सत्य है एवं ब्रह्म, आत्मा सब मिथ्या है किन्तु न जानते हुए भी जानने का दावा करना व उन्हें सिद्ध करने का प्रयत्न करना बेईमानी है। ये सच्चे नहीं हैं धोखेबाज हैं।

दूसरी दृष्टि ज्ञानी की है। उसी ने ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर आदि को जाना है। अज्ञानी स्थूल को ही जानता है, सूक्ष्म उसकी पकड़ में नहीं आता। वह प्रकृति को ही जानता है, उसकी दृष्टि शरीर, उसके भोग एवं विषयों तक ही सीमित है जिससे इनसे परे जो सूक्ष्म है, जो चेतन है, जो शक्ति है उसे नहीं जान पाता जिससे वह कहता है ये हैं ही नहीं, झूठ है, बकवास है। इसके विपरीत ज्ञानी इनको जान लेता है जिससे वह कहता है ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर ही सत्य है। जगत् मिथ्या है, भ्रान्ति मात्र है, यह अनित्य है इसलिए इसका मूल्य नहीं है। शाश्वत एवं सनातन का ही मूल्य है। ज्ञानी बीज की बात करता है

**अज्ञानी वृक्ष व फल की बात करता है। दोनों ही अपनी दृष्टि से सही हैं। विरोध कहीं नहीं है। दृष्टि का अन्तर है, देखने के ढंग का अन्तर है।**

**अष्टावक्र एवं जनक दोनों ज्ञानी हैं। दोनों को सत्य की अनुभूति हुई है अतः दोनों का संवाद ज्ञान प्राप्त व्यक्तियों का संवाद है। एक ज्ञानी एवं दूसरा अज्ञानी होता है तो संवाद नहीं विवाद ही होता, तर्क और प्रमाण पूछे जाते, कुतर्क होता, अपने मत को सिद्ध करने का आग्रह होता किन्तु ऐसा न होकर एक ही सत्य को दोनों उसी रूप में प्रकट कर रहे हैं। अष्टावक्र कह रहे हैं कि यह विश्व भ्रान्ति मात्र है और कुछ नहीं है। जो वासना रहित हो गया, अहंकार शून्य हो गया वही अपने भीतर स्थित चैतन्य आत्मा को जान लेता है। ऐसा ज्ञान होने पर उसे यह विश्व भ्रान्ति ज्ञात होने लगता है। उसका अर्थ यह नहीं कि यह सृष्टि ही भ्रान्ति है, यह है ही नहीं बल्कि इसका अर्थ है इसके साथ जो हमारे रागात्मक सम्बन्ध हैं, जो आसक्ति है, जो लगाव है वह सब भ्रान्ति है। ज्ञानी इस आसक्ति से मुक्त हो जाता है इसलिए उसको यह भ्रान्ति ज्ञात होती है एवं आत्मा मात्र ही सत्य प्रतीत होती है। आत्म-ज्ञानी ही ऐसा निश्चयपूर्वक जानता है, अज्ञानी नहीं जान सकता। इसलिए ज्ञानी ऐसा जान कर शांति को प्राप्त होता है जबकि अज्ञानी संसार को सत्य जानने के कारण अशांत ही बना रहता है। ज्ञानी एवं अज्ञानी में यही अन्तर है। ज्ञानी की दृष्टि अज्ञानी से भिन्न हो जाती है।**

## सूत्र १८

**एक एव भवाम्भोधावासीदस्ति भविष्यति।**
**न ते बन्धोऽस्ति मोक्षो वा कृतकृत्यः सुखं चर ।।**

*अनुवाद :— "संसार रूपी समुद्र में तू एक ही था और होगा। तेरा बन्ध और मोक्ष नहीं है। तू कृत कृत्य होकर सुखपूर्वक विचर।"*

***व्याख्या :—* बन्धन में तीन का होना आवश्यक है, एक जो**

बंधता है, दूसरा जिससे बांधा जाता है, तीसरा बांधने वाला। अज्ञानी जीव ही बन्धन में है, संसार के प्रति उसकी आसक्ति, उसका मोह, उसकी वासना ही बन्धन है जिससे व्यक्ति अज्ञानवश स्वयं ही बंधता है। कोई उसे बांधने वाला नहीं है। संसार कभी किसी को नहीं बांधता। किन्तु ज्ञान प्राप्ति के बाद ज्ञानी की दृष्टि बदल जाती है। वह अपने को शरीर, मन और अहंकार से परे शुद्ध चैतन्य आत्मा जान लेता है जिससे सृष्टि और आत्मा का भेद ही समाप्त हो जाता है। अज्ञान का पर्दा हट जाता है फिर वही एक चैतन्य मात्र रह जाता है। जब एक ही है तो न बन्धन है न मोक्ष। कौन किसको बांधे एवं कौन किसे मुक्त करे। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि तू चैतन्य आत्मा होने से इस संसार रूपी समुद्र में एक ही था और आगे भी एक ही रहेगा। अज्ञानवश तूने देहाध्यास के कारण अपने को चैतन्य आत्मा से भिन्न शरीर समझा था। यही तेरा बन्धन था। अब न तेरा बन्ध है न मोक्ष। तू कृत कृत्य हो गया है। अब सुखपूर्वक विचर। आत्मा का स्वभाव ही मुक्त है। उसका बन्ध है ही नहीं। भ्रान्ति थी सो मिट गई।

# सूत्र १९

**मा संकल्पविकल्पाभ्यां चित्तं क्षोभय चिन्मय।**
**उपशाम्य सुखं तिष्ठ स्वात्मन्यानन्दविग्रहे॥**

*अनुवाद :— "हे चिन्मय! तू चित्त को संकल्प और विकल्पों से क्षोभित मत कर। शांत होकर आनन्द पूरित अपने स्वरूप में सुखपूर्वक स्थित हो।"*

*व्याख्या :—* चित्त का स्वभाव है संकल्प विकल्प। जब उसमें संकल्प विकल्प की तरंगें उठती हैं तो चित्त क्षोभित होता है, उद्वेलित होता है। इन तरंगों का नाम ही मन है। संकल्प विकल्प के कारण ही विचार पैदा होते हैं, योजनाएं बनती हैं, उनकी पूर्ति के तरीके जुटाये जाते हैं, इनकी पूर्ति हेतु शरीर एवं इन्द्रियां सक्रिय होती हैं, फिर मनुष्य कर्म करता है। अहंकार के कारण वह कर्त्ता बन जाता

है जिससे कर्मों का बन्धन होता है, नये संस्कार बनते हैं। इस प्रकार पूरा कर्म जाल तैयार हो जाता है। यह कर्म जाल ही संसार है, यही बन्धन है। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि तू चैतन्य आत्मा है। तेरा बन्ध और मोक्ष नहीं है, तू एक ही है और शांत है, इसलिए अब तू नये सिरे से अपने चित्त को संकल्प विकल्पों से क्षोभित मत कर वरना फिर कर्मजाल में उलझ जायेगा। यह आत्मा तेरा स्वरूप है जिसे तू उपलब्ध हो गया है। अतः अब तू शांत होकर आनंद पूरित होकर इस अपने स्वरूप आत्मा में सुखपूर्वक स्थित हो।

# सूत्र २०

**त्यजैव ध्यानं सर्वत्र मा किंचिद्धृदि धारय।**
**आत्मा त्वम्मुक्त एवासि किं विमृश्य करिष्यसि।।**

*अनुवाद :— "सर्वत्र ही ध्यान को त्याग कर हृदय में कुछ भी धारण मत कर। तू आत्मा मुक्त ही है। तू विमर्श करके क्या करेगा।"*

*व्याख्या :—* अष्टावक्र फिर कहते हैं कि यह ध्यान, धारणा, समाधि अज्ञानियों के लिए है जो ज्ञान-प्राप्ति के साधन हैं। तू इस आत्म ज्ञान को उपलब्ध हो गया अतः अब इस ध्यान और धारणा का त्याग कर। साध्य वस्तु उपलब्ध होने तक ही साधनों का उपयोग है उसके बाद उन्हें ढोना व्यर्थ है। नाव से नदी पार हो जाने पर कोई उस नाव को ढोता नहीं। उसे किनारे ही छोड़ देना पड़ता है। उसी प्रकार आत्म-ज्ञान प्राप्ति के लिए जितनी विधियां काम में ली जाती हैं उन्हें उपलब्धि के बाद छोड़ ही देना चाहिए वरना वे साधन भी बाद में बन्धन बन जाते हैं। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि अब हृदय में कुछ भी धारण मत कर। तू आत्म स्वरूप को उपलब्ध हो गया इसलिए मुक्त ही है। अब विचार करके क्या करेगा। जब ध्यान कहीं भी नहीं रह जाता, चित्त शून्य हो जाता है, यही निर्विकल्प समाधि है। यहीं आत्मा एवं परमात्मा की अनुभूति होती है।

*। इति अष्टावक्रगीतायां पंचदशं प्रकरणं समाप्तम् ।*

# सोलहवाँ प्रकरण

## (ज्ञान का विस्मरण ही मुक्ति है)

---

## सूत्र १

अष्टावक्र-उवाच

**आचक्ष्व श्रृणु वा तात नानाशास्त्राण्यनेकशः ।**
**तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते ।।**

*अनुवाद :— "हे तात! अनेक शास्त्रों को अनेक प्रकार से तू कह अथवा सुन लेकिन सब के विस्मरण के बिना तुझे स्वास्थ्य (शांति) नहीं मिलेगी। "*

**व्याख्या :— अष्टावक्र जनक को तत्व-ज्ञान का उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे तात! शास्त्र अनेक प्रकार के हैं जिनमें विभिन्न मत हैं। ये शास्त्र केवल मार्गदर्शक हो सकते हैं। ये नक्शे मात्र हैं जिनसे तुम पहुंचने की योजना मात्र बना सकते हो, अन्यथा इनका कोई उपयोग नहीं है। शास्त्रों में ज्ञान नहीं है, ज्ञान स्वयं के भीतर है जिसे उपलब्ध करना है। वह उपलब्ध तो है ही देखना मात्र है। चित्त के आइने पर जो अज्ञान की धूलि जम गई है जिससे आत्मा का बिम्ब दिखाई नहीं दे रहा है, उस धूलि को पोंछना मात्र है। तुम्हारा मन वासना एवं विचारों की तरंगों से इतना भर गया है कि उनसे आत्मा का बिम्ब दिखाई नहीं दे रहा है अतः चित्त को तरंगों से रहित करना है। ये विचार ही तरंगें पैदा करते हैं। अनेक शास्त्रों के अध्ययन से,**

उनके सुनने और सुनाने से मन में विचार की तरंगें और बढ़ जाती हैं। इनसे तर्क, वितर्क पैदा होता है, भ्रम पैदा होता है, पांडित्य आता है जिससे अहंकार बढ़ता है। मन के भरने से आत्म ज्ञान नहीं होता, उसके खाली करने से होता है। संग्रह अथवा परिग्रह चाहे धन का हो, यश का हो, मान-सम्मान का हो या विचारों का यह संग्रह ही बाधा हैं जिससे व्यक्ति आत्म-ज्ञान से वंचित रहता है। बाह्य पदार्थों को तो छोड़ा भी जा सकता है किन्तु शास्त्रों के अध्ययन से जो प्राप्त ज्ञान है उसका भी विस्मरण करना पड़ेगा तभी तुझे उत्तम स्वास्थ्य, (शांति) प्राप्त होगी। संसार बन्धन नहीं है बल्कि उसके प्रति वासना, आसक्ति, एवं स्मृति ही बन्धन है। स्मृति से मुक्त होकर चैतन्य आत्मा में स्थित हो जाना ही मुक्ति है, यही स्वास्थ्य है, इसी से शांति मिलती है। सत्य पुस्तकों से नहीं मिलता, इसके विश्वविद्यालय नहीं होते इसकी डिग्रियां नहीं दी जा सकतीं। बाह्य अनुभवों के विस्मरण से ही आत्म स्मरण होगा। निर्विचार चित्त की अवस्था में ही ज्ञान होता है, यह मौन में ही उपलब्ध होता है।

## सूत्र २

**भोगं कर्म समाधिं वा कुरु विज्ञ तथापि ते।**
**चित्तं निरस्तसर्वाशमत्यर्थं रोचयिष्यति।।**

*अनुवाद :— "हे विज्ञ! (ज्ञान-स्वरूप), भोग, कर्म अथवा समाधि को तू चाहे साधे, तो भी तेरा चित्त स्वभाव से सभी आशयों से रहित होने पर भी अत्यधिक लोभायमान रहेगा।"*

*व्याख्या :—* चित्त का स्वभाव ही चंचलता है। वह हमेशा विषयों की ओर लोभायमान रहेगा ही। वह विभिन्न भोगों के भोगने पर भी तृप्त नहीं होता, विभिन्न कर्मों के करने से भी वह कभी शांत नहीं होता। अधिक से अधिक प्राप्त करने की इच्छा उसकी बनी ही रहती है। इतना ही नहीं समाधि में भी उसकी चंचलता शांत नहीं होती। थोड़े समय उसका निरोध हो जाता है किन्तु बीज रूप में जो उसकी चंचलता है वह नष्ट नहीं होती इसलिए

**समाधि में वह सभी आशयों से रहित ज्ञात होता हुआ भी समय आने पर पुनः विषयों की ओर भागेगा ही। इसलिए हे जनक! तू विज्ञ है, ज्ञान स्वरूप है अतः चित्त की इस चंचलता को समझ कर इससे प्रभावित मत हो।**

# सूत्र ३

**आयासात्सकलो दुःखी नैनं जानाति कश्चन।**
**अनेनैवोपदेशेन धन्यः प्राप्नोति निर्वृतिम्॥**

*अनुवाद :— "प्रयास से सब लोग दुःखी हैं, इसको कोई, नहीं जानता है। इसी उपदेश से भाग्यवान लोग निर्वाण को प्राप्त होते हैं।"*

***व्याख्या :—*** **प्रयास से मिलता है संसार। धन, यश, पद, प्रतिष्ठा, ज्ञान, विद्वता, ऐश्वर्य, समृद्धि आदि सब कुछ प्रयास से ही मिलता है। बिना प्रयास के यहाँ कुछ भी नहीं मिलता। वैज्ञानिक उपलब्धियां, कृषि, यातायात, संचार साधन, वाणिज्य, व्यापार आदि सब कुछ जो आज हम देख रहे हैं वह पीढ़ियों से किये गये मानव प्रयास का ही परिणाम है। यदि मनुष्य ने प्रयास न किया होता तो दुनियां जितनी सुन्दर एवं उपयोगी बनी है उतनी कभी नहीं बन सकती थी। प्रकृति का विदोहन एवं तकनीक का विकास मानव प्रयासों का ही परिणाम है किन्तु मानव इन प्रयासों का इतना अभ्यस्त हो गया है कि परमात्मा को भी प्रयास से ही प्राप्त करना चाहता है। उसने जैसे अणु, परमाणु की खोज की उसी प्रकार परमात्मा को भी पदार्थों में खोज रहा है। वह उसे जप, तप, योग, साधना, हठयोग, मंत्र, भक्ति, स्मरण, पूजन आदि के प्रयासों से प्राप्त करना चाहता है। किन्तु परमात्मा प्रयास से नहीं मिलता, ढूंढने से नहीं मिलता है क्योंकि वह कहीं खोया नहीं है। वह भीतर है जिसे देखना मात्र है, वह विस्मृत है उसे पुनः स्मृति में लाना मात्र है। इसमें प्रयास करना मार्ग नहीं है। अप्रयास ही मार्ग है। चित्त की शांत एवं जाग्रत अवस्था ही इसे पाने का उपाय है। प्रयास से तनाव पैदा होता है,**

विचार पैदा होते हैं, तर्क-वितर्क होता है। इसी प्रयास से सुख-दुःख होते हैं जिससे मन में विक्षेप पैदा होते हैं जिससे भीतर की आत्मा की झलक उसे नहीं मिल पाती है। परमात्मा को पाने का मार्ग संघर्ष नहीं समर्पण है। प्रयास में कर्त्तापन है जिससे अहंकार बढ़ता है जो मुख्य बाधा है। अहंकार और परमात्मा एक साथ नहीं हो सकते। अहंकार गिरने पर, 'मैं' भाव के गिरने पर परमात्मा ही बचता है। यह 'मैं' ही बाधा है जो प्रयास से और दृढ़ हो जाता है। इसलिए प्रयास करने वाला योगी भटक जाता है, वह सिद्धियों में उलझ जाता है जबकि भक्त पहुंच जाता है। यह मार्ग संसार के मार्ग से भिन्न है। चित्त को संकल्प, विकल्पों, विचारों, मान्यताओं, सिद्धान्तों, सम्प्रदायों आदि से सर्वथा मुक्त कर देना जिससे उसमें तरंगें उठे ही नहीं, यही मार्ग है। इसलिए अष्टावक्र जी कहते हैं कि प्रयासों से सब लोग दुःखी हैं, अशांत हैं, तनाव ग्रस्त हैं, इसी से उनके मन विक्षिप्त हैं, उद्वेलित हैं एवं यही आत्म-बोध में बाधा है। उसे कोई नहीं जानता। यदि कोई इस रहस्य को जान लेता है तो वह चित्त की शांति को प्राप्त होकर आत्म ज्ञानी हो सकता है। इसी उपदेश से कुछ ही भाग्यवान लोग हैं जो निर्वाण को प्राप्त होते हैं। समर्पण ही प्रभु का द्वार है, संघर्ष संसार का। यही रहस्य है।

## सूत्र ४

**व्यापारे खिद्यते यस्तु निमेषोन्मेषयोरपि।**
**तस्यालस्याधुरीणस्य सुखं नान्यस्य कस्यचित्॥**

*अनुवाद :— "जो आँख के खोलने और ढकने के व्यापार से दुःखी होता है, वह आलसी शिरोमणि का ही सुख है। दूसरे किसी का नहीं।"*

*व्याख्या :—* अष्टावक्र इसी क्रम में कहते हैं कि सब लोग प्रयास से दुःखी हैं। प्रयास मात्र दुःखों का कारण है। प्रयास में कर्त्तापन होता है, अहंकार होता है। इस कर्त्तापन से किये गये कार्य में फलाकांक्षा होगी, इसके साथ अपेक्षाएँ जुड़ी होगीं जिनके पूरा न

होने पर दुःख होगा। कर्त्तापन अर्थात् अहंकार होने से तनाव होगा, कर्म में आनन्द नहीं आयेगा, वह बेगार की भाँति उसे ढोयेगा क्योंकि दृष्टि कर्म पर नहीं फल-प्राप्ति पर ही होगी। ऐसा व्यक्ति कर्म में कुशलता प्राप्त नहीं कर सकेगा। गीता में कहा है 'योग ही कर्म में कुशलता है' वह नहीं होगा। इसके विपरीत यदि फलाकांक्षा की चिन्ता न कर कर्म को स्वाभाविक रूप से करने वाला, आनन्द समझ कर करने वाला, ईश्वर की आज्ञा समझ कर करने वाला सदा सुखी, तनावों से मुक्त व आनन्दित रहेगा। ज्ञान की उपलब्धि के लिए भी कर्म त्याज्य नहीं हैं किन्तु प्रयास त्याज्य है, कर्त्तापन त्याज्य है, अहंकार त्याज्य है। इस प्रकार प्रयास रहित जो कर्म हैं, जो स्वाभाविक रूप से हो रहे हैं, उन्हें करते रहने में श्रम नहीं करना पड़ता, प्रयास नहीं करना पड़ता, उसमें कर्त्तापन नहीं होता, इसलिए वे बिना प्रयास के होते रहते हैं। उन्हें जबरदस्ती रोकने में भी प्रयास होगा इसलिए उन्हें रोकना भी बाधा बन जायगी। जैसे साँस लेना और छोड़ना रक्त संचालन, पाचन संस्थान, आँख का खोलना और ढकना स्वाभाविक रूप से हो रहा है। इसमें न कोई प्रयास करना पड़ता है न श्रम। इसलिए इनसे व्यक्ति दुःखी नहीं होता किन्तु अष्टावक्र कहते हैं कि इन स्वाभाविक कर्मों से भी जो दुःखी होकर आँख का खोलना और ढकना भी बन्द कर देता है तो ऐसा सुख आलसी शिरोमणि का ही सुख है। यह ज्ञानी का सुख नहीं है। इसका अर्थ मात्र इतना है कि ज्ञानी प्रयास-रहित अर्थात् स्वाभाविक रूप से कर्म करता है। वह अहंकार एवं फलाकांक्षा-रहित कर्म करता है जिनमें प्रयास नहीं होता। इससे कर्म बन्धन नहीं बनते। इसलिए जो ज्ञान को उपलब्ध हो गया है वे तो परम भाग्यशाली हैं ही किन्तु जो परमात्मा में आस्था रखते हैं, परमात्मा को मानते हैं वे कम भाग्यशाली नहीं हैं क्योंकि वे ही सभी कर्मों को परमात्मा का कार्य समझ कर फलाकांक्षा से रहित कर्मों को करते हुए समस्त प्रकार की वासनाओं, कामनाओं एवं तनावों से मुक्त रह कर कर्म में आनन्द की अनुभूति करते हैं। इसके विपरीत वे अभागे हैं जो कहते हैं परमात्मा है ही नहीं, मैं ही हूँ। ऐसे व्यक्ति कर्म के बोझ से, अच्छे बुरे फलों के बोझ से दबे जा रहे हैं जैसे सारा पृथ्वी का भार

उन पर ही आ पड़ा हो। सदा तनावों एवं चिन्ता में ही जीते हैं एवं मृत्यु के बाद भी कर्म-फलों का भार ढोते रहते हैं। अतः परमात्मा को स्वीकार करना भी परम सौभाग्य की ही बात है।

## सूत्र ५

**इदं कृतभिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तं यदा मनः।**
**धर्मार्थकामामोक्षेषु निरपेक्षं तदा भवेत्॥**

*अनुवाद :— "यह किया गया है और यह नहीं किया गया, ऐसे द्वन्द्व से जब मन मुक्त हो तब वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रति उदासीन हो जाता है।"*

*व्याख्या :—* जो कर्म किये गये हैं उनके फल की आकांक्षा से चित्त उद्वेलित रहता है। अच्छे बुरे किये गये कर्मों का फल भी अच्छा-बुरा होता है जिससे सुख-दुःख का अनुभव होता है। फिर व्यक्ति अधिक सुखों की प्राप्ति एवं दुःखों की निवृत्ति हेतु प्रयत्न करता है जिससे मन कभी शांत नहीं हो सकता। किये हुए कर्म अपना स्थाई प्रभाव भी मन पर छोड़ते हैं जिन्हें संस्कार कहते हैं। ये संस्कार अनेक जन्मों तक पीछा नहीं छोड़ते। उन्हें भोगे बिना मुक्ति नहीं होती। किन्तु जो कर्म नहीं किये गये हैं केवल विचारों में ही विद्यमान हैं उनसे भी मन उद्वेलित होता रहता है, अशांत बना रहता है, करने की इच्छाएँ बार-बार उठती हैं, मन विक्षिप्त बना रहता है। भोगने वाले कम दुःखी हैं किन्तु जिन्होंने नहीं भोगा उनकी मानसिक परेशानियाँ सबसे ज्यादा हैं। दुनियाँ में अधिकांश मानसिक रूप से पागलों की संख्या इन्हीं की है। अतः अष्टावक्र कहते हैं कि जो किया और नहीं किया इन दोनों के द्वन्द्व से जब मन मुक्त हो जाता है तो वह धर्म, अर्थ और काम तो क्या मोक्ष के प्रति भी उदासीन हो जाता है। मोक्ष की भी यदि चाह है तो चित्त शांत नहीं होगा। अतः चाह मात्र छोड़ देना ही मुक्ति है।

— × —

# सूत्र ६

**विरक्तो विषयद्वेष्टा रागी विषयलोलुपः।**
**ग्रहमोक्षविहीनस्तु न विरक्तो न रागवान्।।**

*अनुवाद :— "विषय का द्वेषी विरक्त है। विषयलोलुप रागी है। जो ग्रहण और त्याग दोनों से रहित है वह न विरक्त है न रागवान है।"*

*व्याख्या :—* जो विषयों में लोलुप है वह रागी है। उसे हर समय भोगों की ही आकांक्षाएँ बनी रहती हैं, पूरा चिन्तन अधिक से अधिक प्राप्त करने में लगा रहता है। वह दूसरों के हितों को भी छीन कर स्वयं सुखी होना चाहता है। ऐसे रागी एवं विषयलोलुप को निकृष्ट से निकृष्ट कर्म भी करने में लज्जा नहीं आती, उनके बुरे परिणामों को भोग कर भी उसकी विषयलोलुपता नहीं जाती बल्कि और बढ़ जाती है। चोरी से कमाये हुए धन को रिश्वत में दे देने से उसकी लोलुपता और बढ़ जाती है जिससे पहले से ज्यादा कमाने की इच्छा हो जाती है। इसी प्रकार जो विषयों में द्वेष करता है उसे विरक्त कहतेहैं। ऐसा विरक्त भी शांत नहीं है। उसका चिन्तन विषयों को गाली देने में ही चलता रहता है। वह संसार, घर, परिवार, धन, दौलत, स्त्री, पुत्र, काम, क्रोध, सबको गालियाँ ही देगा, बुरा कहेगा। भोगने वाले और ये तथाकथित त्यागी दोनों ही समान रूप से अशांत हैं। दोनों के ही मन अशांत हैं। मोक्ष वही है जिसमें मन पूर्णतः शांत हो जाए, निर्द्वन्द्व हो जाय, विचार एवं विकल्प शून्य हो जाय। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि जो राग और विराग, ग्रहण और त्याग, संसार और सन्यास, भोग और त्याग, आसक्ति एवं विरक्ति जैसे द्वन्द्वों से रहित है वही वीतरागी है, वही अनासक्त है, वही निर्द्वन्द्व है। उसी को शांति प्राप्त होती है एवं वही मोक्ष है। मोक्ष कोई स्थान नहीं है जहाँ जाना है बल्कि चित्त की ऐसी शांत दशा ही मोक्ष है।

— × —

# सूत्र ७

**हेयोपादेयता तावत्संसारविटपाङ्कुरः।**
**स्पृहा जीवति यावद्वै निर्विचारदशास्पदम्।।**

*अनुवाद :— "जब तक स्पृहा (तृष्णा) जीवित है- जो कि अविवेक की दशा है- तब तक हेय और उपादेय (त्याग और ग्रहण) भी जीवित है- जो कि संसार रूपी वृक्ष का अंकुर है।"*

***व्याख्या :***— जब तक मन से हेय और उपादेय, अच्छा और बुरा, शुभ और अशुभ, ग्रहण और त्याग की भावना है तब तक स्पृहा भी जीवित है, इच्छाएँ एवं तृष्णा जीवित हैं। इसी तृष्णा के कारण हेय और उपादेय की कल्पना होती है। उपादेय की भावना ही तृष्णा नहीं है हेय की भावना भी तृष्णा के कारण है। तृष्णा नहीं हो तो हेय के भाव ही उत्पन्न नहीं होते। यह विपरीत राग है, विपरीत आसक्ति है। हम किसी की निन्दा तभी करते हैं जब उसमें हमारा न्यस्त स्वार्थ होता है, उसके प्रति वासना होती है, कुछ पाने की इच्छा थी जो पूरी नहीं हुई जिससे निन्दा करते हैं। यह तृष्णा ही अविवेक की दशा है। त्याग भी यदि उच्च भोग के लिए किया जाय, स्वर्ग, मोक्ष आदि के लिए किया जाय तो यह बड़ी तृष्णा है। संसारी तो थोड़े से भोगों की ही तृष्णा करता है, घर-बार, बच्चा, धन, सुख, नौकरी आदि किन्तु तथाकथित त्यागी इन क्षुद्र भोगों को, इन थोथे से सुखों को, महत्वहीन सम्पत्ति को जो भी स्वयं की नहीं, चोरी से कमाई गई है उसकी तृष्णा त्याग कर स्वर्ग और मोक्ष के महासुख की तृष्णा करता है। दो रुपये का भगवान को नारियल चढ़ाकर स्वर्ग का दरवाजा खटखटाने की तृष्णा करता है। अष्टावक्र कहते हैं कि यह सब अविवेक की दशा है। यह तृष्णा यदि जीवित है तो संसाररूपी वृक्ष का अंकुर जीवित है। वह फिर फूट कर वृक्ष बनेगा। तृष्णा ही संसार है एवं उसका त्याग ही मुक्ति है। सांसारिक पदार्थ छोड़ने से मुक्ति नहीं होती। इसे कोई भी पागल अपने पागलपन में छोड़ कर नग्न हो सकता है एवं अनेक पागल ऐसा करते हैं। वे इसी अविवेक में छोड़ते हैं कि इनके छोड़ने से मुक्ति हो जायेगी। किन्तु तृष्णा छोड़े

बिना मुक्ति नहीं होती। तृष्णा से ही मन में तरंगें उठती हैं। जब तक तरंगें हैं तब तक शांति तथा मुक्ति नहीं है।

# सूत्र ८

**प्रवृत्तौ जायते रागो निवृत्तौ द्वेष एव हि।**
**निर्द्वन्द्वो बालवद्धीमानेवमेव व्यवस्थितः ।।**

*अनुवाद :— "प्रवृत्ति से राग, (आसक्ति) व निवृत्ति (त्याग) से द्वेष पैदा होता है। इसलिए बुद्धिमान पुरुष द्वन्द्वमुक्त बालक के समान जैसा है वैसा ही रहता है।"*

*व्याख्या :—* संसार से मुक्ति के लिए दो मार्ग बताये जाते हैं- एक है प्रवृत्ति मार्ग तथा दूसरा निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग वाले कहते हैं कि भोग से ही मुक्ति होती है। प्रारब्ध कर्मों के कारण ही यह जीवन मिला है अतः इन कर्मों के भोगे बिना मुक्ति संभव नहीं है। आत्मज्ञानी को भी प्रारब्ध कर्म तो भोगने ही पड़ते हैं। जो इन कर्मों को भोगने से मना कर संसार छोड़ कर चला जाता है, त्याग कर देता है यह उसका, अहंकार है, कर्मों के नियम का उल्लंघन कर रहा है। हठयोगी भी हठपूर्वक इन्द्रियों की क्रियाओं को तो रोक देते हैं किन्तु भीतर वासनाएँ चलती रहती हैं, आसक्ति बनी रहती है जिससे वह पाखण्डी हो जाता है। प्रवृत्ति मार्ग वाले यह भी कहते हैं कि जिससे मुक्त होना हो उसे पूरा ही भोग लो जिससे उसके प्रति घृणा व अरुचि हो जायगी व तुम उससे मुक्त हो जाओगे। विषयों में रस इसलिए आता है कि तुम उसे पूरा भोगते नहीं, आधा-आधा भोगते हो। इसके विपरीत निवृत्ति मार्ग वाले कहते हैं भोगों से विषय-वासना शान्त नहीं होती। यह आकर्षण ही ऐसा है कि जितना भोगोगे उतनी ही वासनाएँ बढ़ती जायेंगी। वासना कभी पूरी होती ही नहीं, इच्छाएँ अनेक हैं वे भोग से कभी शान्त नहीं होंगी। जिस प्रकार आग में घी डालने से आग शांत नहीं होती ऐसी ही वासनाएँ हैं जो भोगों से शांत नहीं हो सकतीं। इसलिए निवृत्ति ही मार्ग है, इन्हें छोड़ देना ही मार्ग है। यह दृढ़ संकल्प से ही हो।ता। किन्तु अष्टावक्र तीसरी ही

बात कहते हैं। वे प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को ही वासना मानते हैं। वे कहते हैं कि प्रवृत्ति से राग पैदा होता है, आसक्ति बढ़ती है तो निवृत्ति से, छोड़ भागने से, हठपूर्वक त्याग करने से, अधिक पाने की इच्छा से, क्षुद्र का त्याग कर देने से, मोक्ष के लिए संसार एवं विषयों को छोड़ देना भी वासना एवं तृष्णा ही है। ऐसी तृष्णा का होना ही बन्ध है। निवृत्ति से भी द्वेष पैदा होता है इसलिए आत्मज्ञानी बुद्धिमान पुरुष प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से मुक्त होकर बालक के समान निर्द्वंद्व होकर सरल एवं स्वाभाविक जीवन जीता है। स्वभाव से जो होता है वह कर लेता है। वासना युक्त होकर, आग्रह एवं हठपूर्वक कर्म नहीं करता, न त्याग करता है।

# सूत्र ९

**हातुमिच्छति संसारं रागी दुःखजिहासया।**
**वीतरागी हि निर्दुःखस्तस्मिन्नपि न खिद्यति ।।**

*अनुवाद :— "रागी पुरुष दुःख से बचने के लिए संसार को त्यागना चाहता है लेकिन वीतरागी दुःखमुक्त होकर संसार के बीच भी खेद को प्राप्त नहीं होता है।"*

***व्याख्या :***— अष्टावक्र कहते हैं कि वह पुरुष भी रागी ही है जो दुःखों से बचने के लिए संसार को त्यागना चाहता है। जो कहता है यह संसार दुःख ही दुःख है, जन्म दुःख है, मृत्यु दुःख है, जीना दुःख है, मरना दुःख है, संसार दुःखों की खान है इसलिए भागो इससे। छोड़ो घर-बार, पत्नी, बच्चे, धन-सम्पत्ति आदि क्योंकि ये सब दुःखों के कारण हैं, किन्तु संसार छोड़ने से दुःख समाप्त नहीं होते। दुःखों का कारण शरीर व मन है, वासना एवं तृष्णा है जिनके रहते जंगल में रहते हुए भी शान्ति नहीं मिल सकती। वहाँ और अधिक बेचैनी होगी। राग यदि दुःख है तो विराग भी दुःख है, आसक्ति यदि दुःख है तो विरक्ति भी दुःख है, संसार यदि दुःख है तो सन्यास भी दुःख है, परिग्रह यदि दुःख है तो अपरिग्रह भी दुःख है क्योंकि भीतर तृष्णा मौजूद है। संसार की तृष्णा छोड़कर मोक्ष की तृष्णा को पकड़ना भी

दुःख है इसलिए वीतरागता ही एकमात्र दुःख निवृत्ति का उपाय है। न राग न विराग। दोनों से पार अनासक्त हो जाना ही मोक्ष का उपाय है। ऐसा व्यक्ति संसार में रह कर भी खेद को प्राप्त नहीं होता है एवं विरागी जंगल में, हिमालय में रह कर भी दुःखी ही रहेंगे। अतः सुख-दुःख पदार्थों में नहीं अपनी मनःस्थिति में हैं। विषयों का रागी ही उनकी पूर्ति नहीं होने पर दुःखी होता है।

# सूत्र १०

**यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहेऽपि ममता तथा।**
**न च योगी न वा ज्ञानी केवलं दुःखभागसौ ।।**

*अनुवाद :— "जिसका मोक्ष के प्रति अहंकार है और वैसी ही शरीर के प्रति ममता है वह न तो ज्ञानी है और न योगी है। वह केवल दुःख का भागी है।"*

*व्याख्या :—* योगी क्रिया से पहुँचता है। वह अष्टांग योग साधता है, यम, नियम, आसन, प्राणायाम की क्रिया से पहुँचता है, वह विधिपूर्वक एक-एक सीढ़ी पार करता हुआ पहुँचता है इसलिए गिरने का भय नहीं रहता। गिरा भी तो एक सीढ़ी नीचे रुक जाता है, पूरा जमीन पर जहां से चला है वहाँ नहीं आता। योगभ्रष्ट में भी पूर्व जन्म के संस्कार रहते ही हैं जहाँ से आगे की यात्रा फिर आरम्भ करता है। दूसरा ज्ञानी है जो बिना क्रिया के पहुँचता है। बोध मात्र से पहुँचता है। वह सीधा ही अस्तित्व से अनस्तित्व में छलांग लगाता है। वह क्रिया एवं साधना को भी बन्धन मानता है क्योंकि समस्त क्रियाएँ अहंकार को बढ़ाती हैं। क्रिया से चलने वाले को क्रिया में भी आसक्ति हो जाती है वह अपने को ज्ञानी, योगी मानने लग जाता है जो अहंकार को ही बढ़ाता है। इसी प्रकार संसार को त्यागने वाला, भगवा वस्त्र पहनने वाला भी अपने को साधु, सन्त, महात्मा, त्यागी समझने लगता है इससे उसका अहंकार संसारी के अहंकार से भी अधिक हो जाता है। उसकी इसमें भी ममता हो जाती है इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि ज्ञान को उपलब्ध हो गया यदि उसका

**भी मोक्ष के प्रति अहंकार हो गया कि अब मैं मुक्त हो गया, कैवली हो गया, मैं सिद्धशिला पर बैठ गया, मैं ब्रह्म हो गया, अब मेरे से बड़ा कोई नहीं है तथा वैसी ही शरीर के प्रति ममता हो गई कि लोग अब इस शरीर की पूजा करें, बैंड बाजे बजा के शोभा यात्रा निकालें, मुझे गुरु, तीर्थंकर, भगवान मानें तो ऐसा व्यक्ति न ज्ञानी है न योगी। बल्कि वह दुःख का भागी ही है।**

# सूत्र ११

## हरो यद्युपदेष्टा ते हरिः कमलजोऽपि वा।
## तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते ।।

*अनुवाद :— "यदि तेरा उपदेशक शिव है, विष्णु है अथवा ब्रह्मा है तो भी सबके विस्मरण के बिना तुझे स्वास्थ्य (शांति) नहीं होगी।"*

***व्याख्या :***— **अष्टावक्र कहते हैं कि मुक्ति का अर्थ विस्मरण ही है। जो संसार एवं संस्कारों से अर्जित है उन सभी का विस्मरण कर देना ही मुक्ति है। जब तक इनकी थोड़ी सी भी स्मृति शेष है तब तक मोक्ष नहीं है क्योंकि संसार बन्धन नहीं यह स्मृति ही बन्धन है। इसी से मुक्त होना है। यह संसार ही नहीं बल्कि ईश्वर, आत्मा, परमात्मा आदि का भी स्मरण बाधा है क्योंकि मुक्ति में 'मैं' रहता ही नहीं। फिर स्मरण कौन करेगा। स्मरण का अर्थ है दो विद्यमान हैं—स्मरण करने वाला एवं जिसका स्मरण किया जाता है, अतः दो के रहते मुक्ति नहीं है। यहां तक कि जिस गुरु की कृपा से ज्ञान उपलब्ध हुआ है उसका भी विस्मरण करना है वरना वह गुरु भी बन्धन हो जाता है। ऐसा गुरु शिव, विष्णु अथवा ब्रह्मा ही क्यों न हो उनका भी विस्मरण आवश्यक है। इसके बिना शान्ति, मुक्ति नहीं मिल सकती।**

*। इति अष्टावक्रगीतायां षोडशकं प्रकरणं समाप्तम् ।*

# सत्रहवाँ प्रकरण

**( निराकांक्षी ही तत्व-ज्ञान का अधिकारी है )**

---

## सूत्र १

अष्टावक्र-उवाच

**तेन ज्ञानफलं प्राप्तं योगाभ्यासफलं तथा।**
**तृप्तः स्वच्छेन्द्रियो नित्यमेकाकी रमते तु यः ।।**

*अनुवाद :— "जो पुरुष तृप्त है, शुद्ध इन्द्रिय वाला है और सदा एकाकी रमण करता है उसी को ज्ञान और योगाभ्यास का फल प्राप्त होता है। "*

**_व्याख्या :_— सभी प्रकार की साधनाओं का फल ज्ञान है। भक्ति हो या उपासना, ध्यान हो या समाधि, योगाभ्यास हो अथवा सांख्य, तन्त्र हो या हठयोग सबकी अंतिम उपलब्धि, अंतिम फल ज्ञान ही है एवं ज्ञान का फल ही मुक्ति है। किन्तु ज्ञान-प्राप्ति के बाद यदि पुरुष तृप्त नहीं है, उसकी वासनाएँ अभी दौड़ रही हैं, वह उद्विग्न है, चिन्तित है, तो इसका अर्थ है ज्ञान प्राप्त करके भी वह उसका पूर्ण लाभ प्राप्त नहीं कर सका है, उसे इस ज्ञान का फल मिला नहीं। यदि ज्ञान प्राप्त करके भी उसकी इन्द्रियाँ शुद्ध नहीं हुई हैं, अभी भी विषयों की ओर दौड़ती हैं, यदि वह एकाकी रहने से घबराता है, वह समूह में ही रहना चाहता है, आश्रम, मठ बना कर अनेक शिष्य बना कर उनमें रह कर अपने अहंकार को तृप्त करता**

**है तो उसे आत्म-ज्ञान का लाभ हुआ नहीं। अष्टावक्र कहते हैं कि आत्म-ज्ञान एवं योगाभ्यास से जो स्व-चेतना को उपलब्ध हो गया है वह अपने आप से तृप्त हो गया है, तृप्ति के लिए उसे अन्य की अपेक्षा ही नहीं है, वह शुद्ध इन्द्रियों वाला हो गया जिससे उसकी इन्द्रियाँ विषयों की ओर नहीं भागतीं, यथा प्राप्य से गुजारा कर लेता है, वासना से नहीं। शरीर के लिए जो आवश्यक है उतना ही लेकर संतुष्ट हो जाता है तथा सदा जो एकाकी रमण करता है, समूह नहीं बनाता, दूसरे से अपेक्षा नहीं करता, नगर में रह कर भी एकाकी अनुभव करता है, संगी-साथी, मित्र-शत्रु, हितैषी-द्वेषी नहीं बनाता, न किसी से सहायता लेता है ऐसे ज्ञानी एवं योगी को ही अपने आत्म-ज्ञान का फल मिलता है। इसके विपरीत करने पर वह ज्ञान प्राप्त करके भी उसके फल (मुक्ति) से वंचित रहता है। इसलिए आत्म-ज्ञानी को अकेला रहने का निर्देश है वरना फिर वासना घेर सकती है।**

# सूत्र २

**न कदाचिज्जगत्यस्मिंस्तत्वज्ञो हन्त खिद्यति।**
**यत एकेन तेनेदं पूर्णं ब्रह्माण्डमण्डलम्॥**

*अनुवाद :— "हन्त! तत्व-ज्ञानी इस जगत् में कभी खेद को प्राप्त नहीं होता है क्योंकि उसी एक से यह ब्रह्माण्ड मण्डल पूर्ण है।"*

*व्याख्या :—* जब तक कोई व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त नहीं हो जाता तब तक वह सभी शरीरों को भिन्न-भिन्न समझता है। यह भिन्नता ही दुःखों का कारण है। भिन्न-भिन्न मन, बुद्धि एवं शरीर वाले व्यक्ति जब एकत्र होते हैं तो विचारसाम्य नहीं होने से व्यक्ति को बड़ी बेचैनी का अनुभव होता है। हर व्यक्ति के मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य के लिए एक लिविंग स्पेस चाहिए। घर में भी बड़ा परिवार होने पर उसमें मानसिक रुग्णता आती है, वह विकास नहीं कर

**सकता। स्वस्थ मन एवं मस्तिष्क एकान्त में ही रह सकता है। दूसरे की मौजूदगी से मानसिक तनाव पैदा होता है दूसरे के कारण ही अहंकार बढ़ता है। अहंकार में भीड़ आवश्यक है, अकेले में अहंकार समाप्त हो जाता है। दूसरे की उपस्थिति में मनुष्य स्वाभाविक नहीं रह सकता, उसे नैतिकता, शिष्टाचार आदि का बनावटी मुखौटा लगाना पड़ता है। इसलिए चिन्तक, ध्यानी, कलाकार, वैज्ञानिक आदि एकान्त चाहते हैं। वे दूसरे की उपस्थिति में बेचैनी का अनुभव करते हैं जिससे कई तो दूसरों को मिटाने में लग जाते हैं, कई दूसरों से परेशान होकर जंगल भाग जाते हैं किन्तु अष्टावक्र कहते हैं कि जो तत्व-ज्ञानी हैं वे इस जगत् में भीड़-भाड़ के बीच रहते हुए भी कभी खेद को प्राप्त नहीं होते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में यह समस्त ब्रह्माण्ड मण्डल उसी एक आत्मा का विस्तार है, उसी एक से परिपूर्ण है अतः समस्त ब्रह्माण्ड एक ही है, यहाँ दूसरा कोई है ही नहीं फिर दुःख किससे हो। कोई भी स्वयं को दुःख नहीं देता अतः आत्म-ज्ञानी को इस एकत्व की भावना का अनुभव हो जाने से वह सर्वदा चिन्ता मुक्त रहता है।**

## सूत्र ३

**न जातु विषयः केऽपि स्वारामं हर्षयन्त्यमी।**
**सल्लकी पल्लव प्रीत मिवेभन्निम्बपल्लवाः ।।**

*अनुवाद :— "जैसे सल्लकी के पत्तों से प्रसन्न हुए हाथी को नीम के पत्ते नहीं हर्षित करते हैं, वैसे ही ये विषय आत्मा में रमण करने वाले को कभी नहीं हर्षित करते हैं।"*

*व्याख्या :—* विषयों में आनन्द है, उनसे सुख मिलता है, यह निर्विवाद है। यदि विषयों में सुख नहीं होता तो यह संसार पागलों की तरह उनके पीछे नहीं दौड़ता। वह इस अन्धी दौड़ में पड़ता ही नहीं। दुनियाँ में सुख है, आनन्द है यह संसारी का निजी अनुभव है। इसी के लिए वह सारी दौड़धूप करता है किन्तु कुछ सिरफिरे लोगों ने दुनियाँ को दुःख कह कर उससे भागने की बात कही किन्तु दुनियाँ

छोड़ने से किसी को सुख मिला नहीं, जो था वह भी छूट गया इसलिए ऐसे लोगों की स्थिति बड़ी दयनीय हो गई, छोड़ सब दिया मिला कुछ नहीं। प्रत्यक्ष को छोड़ कर परोक्ष की आकांक्षा में दौड़ने वाला विवेकी नहीं हो सकता, मूर्ख ही हो सकता है। छोड़ना मिलने की शर्त नहीं है। यदि उच्च मिल गया तो निम्न अपने आप छूट जायगा, छोड़ना नहीं पड़ेगा। अष्टावक्र इसी तथ्य को प्रकट करते हुए कहते हैं कि ये विषयों के सुख क्षणभंगुर हैं, अस्थाई हैं, इन सुखों की प्राप्ति के लिए कई अनीतिपूर्ण कृत्य करने पड़ते हैं जिनका परिणाम भोगने में दुःख होता है। अतः संसार में कोई भी ऐसा सुख नहीं है जिसके साथ दुःख संयुक्त न हो फिर ये सभी सुख चिरस्थाई नहीं हैं। आत्मानन्द का सुख ही चिरस्थाई है वरना सुख नहीं मिल सकता। आत्मा का सुख स्वयं का है। उसमें दूसरा होना आवश्यक नहीं है। इसलिए जिसने आत्मानन्द का स्थाई सुख प्राप्त कर लिया, जो नित्य आत्मा में ही रमण करने वाला हो उसे ये संसारी सुख फीके ज्ञात होते हैं इसलिए वह इनमें कभी रुचि नहीं लेता। जिस प्रकार सल्लकी के पत्तों से प्रसन्न हुए हाथी को नीम के पत्ते हर्षित नहीं करते। किन्तु कई अज्ञानियों ने इससे उल्टा करना आरंभ किया कि पहले छोड़ो तो मिलेगा। इससे दुनियाँ विकृत हुई है। छूट भी गया व मिला कुछ नहीं। ऐसा उपदेश दुनियाँ का अभिशाप बना, वरदान नहीं।

## सूत्र ४

**यस्तु भोगेषु भुक्तेषु न भवत्यधिवासितः।**
**अभुक्तेषु निराकांक्षी तादृशो भव दुर्लभः।।**

*अनुवाद :— "जो भोगे हुए भागों में वासना नहीं रखता तथा न भोगे हुए विषयों के प्रति आकांक्षा नहीं करता, ऐसा मनुष्य संसार में दुर्लभ है।"*

***व्याख्या*** :— अष्टावक्र का सारा उपदेश साधना-सूत्र नहीं है बल्कि सिद्ध व्यक्ति, आत्म-ज्ञानी के लिए कहे गये सूत्र हैं कि

आत्म-ज्ञानी का व्यवहार किस प्रकार का हो जाता है। यह आत्म-ज्ञान की कसौटी है। इन्हें साधना के रूप में लेने पर वह चूक जायगा। जो इन्हें साधना-सूत्र मान लेता है वह भटकेगा ही। सब कुछ छोड़ देने से आत्म-ज्ञान नहीं होता। इस सूत्र में भी अष्टावक्र कहते हैं कि आत्म-ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति संसार में दुर्लभ हैं। गीता में भी कहा है "हजारों मनुष्यों में से कोई एक अन्तःकरण की शुद्धि के लिए यत्न करता है फिर उनमें से भी कोई विरला पुरुष आत्मा को यथार्थ जानता है।" ऐसे आत्म-ज्ञानी ही भोगे हुए विषयों के प्रति वासना नहीं रखते क्योंकि वह स्मृति से ही मुक्त हो जाते हैं। यदि वह भी वासना रखता है इसका अर्थ है उसे आत्मानन्द प्राप्त हुआ नहीं, उसे विषयानन्द ही भले लगते हैं। ऐसा ज्ञानी न भोगे विषयों के प्रति भी आकांक्षा नहीं करता क्योंकि ये आकांक्षाएँ, इच्छाएँ ही उसे पुनः विषयों की ओर ले जा सकती हैं। ऐसा व्यक्ति ही आत्म-ज्ञानी है जो संसार में दुर्लभ है। वह आत्मा में ही सदा तृप्त रहता है।

# सूत्र ५

**बुभुक्षेरिह संसारे मुमुक्षुरपि दृश्यते।**
**भोगमोक्षनिराकांक्षी विरलो हि महाशयः।।**

*अनुवाद :— "इस संसार में भोग की इच्छा रखने वाले और मोक्ष की इच्छा रखने वाले दोनों देखे जाते हैं लेकिन भोग और मोक्ष दोनों के प्रति निराकांक्षी (अनिच्छा वाला) विरला महाशय ही मिलेगा।"*

*व्याख्या :—* जब चित्त सभी प्रकार के विक्षेपों से शांत हो जाता है तो वही मुक्ति है। वासना के कारण ही चित्त में तरंगें उठती हैं। ये विभिन्न तरंगें ही मोक्ष में बाधक हैं। ये तरंगें सांसारिक विषय-वासना की हो चाहे मोक्षप्राप्ति की आकांक्षा की, हैं तरंगें ही। जो मोक्ष की भी चाह करता, है, उसकी चिन्ता करता है, उसके लिए प्रयत्न करता है उसका मन अशांत रहता ही है। यह अशांति

ही मोक्ष में बाधक है। संसारी हमेशा आकांक्षा में ही जीता है, वह वासना में ही जीता है। कभी वह भोग की इच्छा करता है तो कभी मोक्ष की किन्तु वह इस रहस्य को नहीं जानता कि यह इच्छा मात्र बन्धन है। सभी साधु सन्त संसार छोड़ने का उपदेश देते हैं। खाना, पीना, वस्त्र एवं घर-बार छुड़ाने का उपदेश देते हैं, दीक्षा दे-दे कर साधु बनाने में लगे हैं किन्तु कोई इस रहस्य को नहीं बताता कि संसार बन्धन नहीं तुम्हारी इच्छाएँ मात्र बन्धन हैं। इन्हें छोड़ना ही मुक्ति है। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि भोग और मोक्ष दोनों के प्रति जो निराकांक्षी है, जिसकी दोनों में इच्छा नहीं है ऐसा व्यक्ति ही मुक्त है किन्तु ऐसा विरला महाशय ही मिलेगा। केवल आत्मा-ज्ञानी की ही ऐसी स्थिति होती है। अज्ञानी तो दोनों में ही इच्छा रखने वाला होता है।

# सूत्र ६

**धर्मार्थकाममोक्षेषु जीविते मरणे तथा।**
**कस्याप्युदारचित्तस्य हेयोपादेयता न हि ।।**

*अनुवाद :— "कोई उदारचित्त ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, जीवन और मृत्यु के प्रति हेय उपादेय का भाव नहीं रखता।"*

*व्याख्या :—* आत्म-ज्ञानी ही उदार चित्त वाला होता है क्योंकि उसी को इस सम्पूर्ण सृष्टि में एक आत्मा ही दिखाई देती है। उसे भिन्नता कहीं दिखाई नहीं देती। अज्ञानी को सब भिन्नताएँ ही दिखाई देती हैं जिससे उसके हर कार्य का उद्देश्य होता है, वह फल प्राप्त करना चाहता है, इच्छाओं एवं वासनाओं से ग्रसित रहता है, उसमें हेय और उपादेय का भय बना रहता है इसलिए वह मुक्त नहीं है न उदार चित्त वाला हो सकता है। केवल आत्म-ज्ञानी ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तथा जीवन और मृत्यु के प्रति भी हेय और उपादेय का भाव नहीं रखता, न इन्हें ग्रहण योग्य समझता है न त्याग, न इन्हें निंदित समझता है अन प्रशंसनीय, न इन्हें घृमित समझता है न उपयोगी। आत्म-ज्ञानी की ही ऐसी स्थिति होती है अतः वही जीवन्मुक्त है। ऐसी स्थिति को उपलब्ध हो जाना ही मोक्ष है।

# सूत्र ७

**वाञ्छा न विश्वविलये न द्वेषस्तस्य च स्थितौ।**
**यथा जीविकया तस्माद्धन्य आस्ते यथासुखम्।।**

*अनुवाद :— "जिसमें विश्व के विलय की इच्छा नहीं है और न उसकी स्थिति के प्रति द्वेष है, वह धन्य पुरुष इसलिए यथाप्राप्य आजीविका से सुखपूर्वक जीता है।"*

***व्याख्या :***— दुनियाँ में अनेक लोग हैं जो सृष्टि की स्थिति एवं विलय से बड़े चिन्तित हैं जैसे सारी सृष्टि उन्हीं के चलाने से चल रही है, उन्हीं के विचारों, सिद्धान्तों एवं मान्यताओं से चल रही है। यदि वे न होते तो सृष्टि का प्रलय हो जाता। ऐसे व्यक्ति ही दुनियाँ को सदा भयभीत करते रहते हैं कि सृष्टि का प्रलय निकट है, बीसवीं शताब्दी के अन्त तक प्रलय हो जायगा फिर नया युग शुरू होगा, सतयुग आयगा, अत्याचार बढ़ रहे हैं अतः अवतार होगा जो दुष्टों को दण्ड देगा। कुछ लोग हैं जो दुनियाँ की वर्तमान स्थिति से बड़े चिन्तित हैं। वे कहते हैं आज की दुनियाँ सबसे निकृष्ट है। जितनी चोरियाँ, हत्याएँ, बलात्कार, डकैतियाँ, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, शोषण, अनैतिकता, झूठ, फरेब, धोखा, बेईमानी आज है इतनी पहले कभी नहीं थी। मनुष्य पतन की पराकाष्ठा को पहुँच चुका है, वह पशु से भी बदतर हो गया है। अष्टावक्र कहते हैं कि इन दोनों ही प्रकार की धारणा वाले व्यक्ति दुःखी एवं अशांत हैं। वह ज्ञानी ही धन्य है जिसमें न विश्व के विलय की इच्छा है न इसकी स्थिति के प्रति द्वेष है क्योंकि वह तो साक्षी हो गया हैं, दृष्टा मात्र है, राग-द्वेष, आसक्ति-विरक्ति से पार हो गया है इसलिए वह न तो अधिक की कामना करता है न नहीं होने पर दुःखी रहता है बल्कि यथा प्राप्य, जो कुछ मिल जाता है, या मिला हुआ है उसी आजीविका से गुजारा करता हुआ सुखपूर्वक जीता है।

# सूत्र ८

**कृतार्थोऽनेन ज्ञानेनेत्येवं गलितधीः कृती ।**
**पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम् ।।**

*अनुवाद :— "इस ज्ञान से कृतार्थ अनुभव कर गलित हो गई है बुद्धि जिसकी, ऐसा कृत कार्य पुरुष देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ खाता हुआ सुखपूर्वक रहता है ।"*

*व्याख्या :—* एक ही चैतन्य आत्मा इस सम्पूर्ण सृष्टि का आधार है। इस चेतना से सर्वप्रथम बुद्धि उत्पन्न हुई। इस बुद्धि से अहंकार उत्पन्न हुआ तथा इस अहंकार के कारण जीव ने अपने को उस चैतन्य आत्मा से भिन्न अनुभव किया। यही अज्ञान उसका पाप बन गया। बाइबल में भी ऐसी कथा है कि आदम ने बुद्धि का फल खाया जिससे उसे स्वर्ग के बगीचे ईडन से नीचे गिरा दिया गया। यही उसका मूल पाप था। यह बुद्धि उस विराट आत्मा की एक छोटी सी किरण है। आत्मा महा सागर है तो बुद्धि चम्मच जैसी। बुद्धि छोटा पैमाना है, छोटा तराजू है जो दुनियाँ के छोटे-मोटे कार्य के लिए पर्याप्त है किन्तु उससे उस विराट चेतना को नहीं नापा जा सकता। मनुष्य इस बुद्धि से परमात्मा को नापना चाहता है इसीलिए चूक जाता है। बुद्धि तर्क-वितर्क, सोच-विचार, प्रश्न-उत्तर, चिंतन-मनन, निर्णय कर सकती है। अच्छे-बुरे, अशुभ-शुभ का भेद कर सकती है वह गणित जैसा कार्य करती है किन्तु इससे विराट नहीं जाना जा सकता, इससे समग्र को नहीं जाना जा सकता। अस्तित्व अखंड है, अविभाज्य है, अनन्त है उसे बुद्धि से जानना असंभव है। चेतना बुद्धि से पार है। जो कार्य बुद्धि से नहीं होते वे चेतना से ही होते हैं। उच्च कोटि का समस्त ज्ञान बुद्धि से नहीं चेतना से सीधा उतरा है अतः उसे अपौरुषेय कहा जाता है। उच्च कोटि की वैज्ञानिक उपलब्धियाँ, गणित, आयुर्वेद, उच्च कोटि का साहित्य, अध्यात्म, वेद, पुराण आदि सीधी चेतना से ही आये हैं। यह बुद्धि का कार्य नहीं है। इसलिए सामान्य ज्ञान के लिए बुद्धि पर्याप्त है किन्तु आत्म-ज्ञान में इस क्षुद्र बुद्धि का स्थान वह विराट चेतना ले लेती है इसलिए

अष्टावक्र कहते हैं कि जो आत्म-ज्ञान से कृतार्थ अनुभव कर लेता है उसकी बुद्धि गलित हो जाती है। वह क्षुद्र से विराट बन जाता है। उसे सम्पूर्ण कार्यों का एवं विधि-विधान का ज्ञान हो जाता है जिससे वह इस क्षुद्र संसार में विमोहित न होकर स्वाभाविक रूप से अनिवार्य कर्मों को करता हुआ संसार के प्रति साक्षी भाव से रह कर सुखपूर्वक रहता है, वह चिन्ता एवं वासना से मुक्त हो जाता है। जीवन संयुक्त है, किन्तु बुद्धि के कारण ही उसे भिन्नता दिखाई देती है। बुद्धि गलित होने पर सब संयुक्त दिखाई देता है। यही सत्य है यही ज्ञान है। जहाँ बुद्धि की सीमा समाप्त होती है वहीं चेतना का अनुभव होता है।
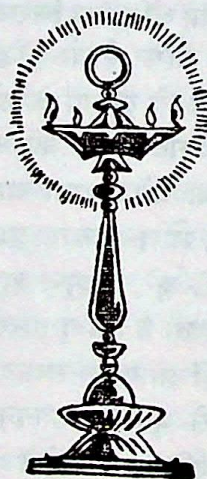
# सूत्र ९

**शून्या दृष्टिर्वृथा चेष्टा विफलानीन्द्रियाणि च।**
**न स्पृहा न विरक्तिर्वा क्षीणसंसारसागरे।।**

*अनुवाद :— "जिसका संसार-सागर क्षीण हो गया है, ऐसे पुरुष में न तृष्णा है न विरक्ति है। उसकी दृष्टि शून्य हो गई है, चेष्टा व्यर्थ हो गई है और इन्द्रियाँ विफल हो गई हैं।"*

**व्याख्या :— बुद्धि का अनुभव क्षुद्र का ही अनुभव है, उसका अनुभव संसार तक ही सीमित है किन्तु चेतना का अनुभव विराट् का अनुभव है। वह क्षुद्र से ऊपर विराट को ही देखता है, समग्र को एक साथ देखता है जिससे उसका क्षुद्र संसार जो छोटे सागर के समान है, क्षीण हो जाता है। जिसने महासागर को देख लिया वह छोटे-छोटे तालाबों से कैसे प्रभावित हो सकता है, जिसने पूरे हाथी को देख लिया वह अंधों की भाँति उसके अलग-अलग अंगों को हाथी कैसे कह सकता है। अंधा ही ऐसा कहता है। ऐसे समग्र के दृष्टा आत्मज्ञानी को संसार में न तृष्णा होती है, न विरक्ति। उसकी दृष्टि शून्य हो जाती है अथवा पूर्ण हो जाती है। शून्य दृष्टि में ही पूर्ण का आभास छिपा है। ऐसे ज्ञानी चेष्टारहित हो जाते हैं। जिसे सब कुछ मिल गया फिर चेष्टा किसकी। उसकी इन्द्रियाँ भी विफल हो जाती हैं क्योंकि अब विषयों के प्रति आकर्षण ही समाप्त हो गया। परम आनन्द मिल जाने से क्षुद्र के क्षणिक सुख अपने आप छूट जाते हैं। कसमें खा-खा कर छोड़ना नहीं पड़ता।**

# सूत्र १०

**न जागर्ति न निद्राति नोन्मीलति न मीलति।**
**अहो परंदशा क्वापि वर्तते मुक्तचेतसः।।**

*अनुवाद :— "वह न जागता है, न मरता है, न पलक खोलता है, न पलक बन्द करता है। अहो! मुक्तचेतस् की कैसी परम (उत्कृष्ट) दशा होती है।"*

*व्याख्या :—* मुक्त चेतना वाला व्यक्ति उस विराट का अनुभव कर लेता है जिससे उसके समस्त सांसारिक कर्म जो वासना, तृष्णा, इच्छा, राग-द्वेष, अहंकार तृप्ति आदि के लिए किये जाते हैं छूट जाते हैं। वह सभी कर्मों का साक्षी मात्र रह जाता है। ऐसा व्यक्ति न जागता है, न सोता है, न पलक खोलता है, न बन्द करता है। अर्थात् ये क्रियाएँ शारीरिक हैं जो स्वभाव से अपने आप होती हैं। ज्ञानी आत्मवत् होने से वह इन्हें करता नहीं। वह इन सबसे दूर खड़ा होकर देखता मात्र है। ये शरीर के गुण धर्मों से हो रहे हैं। आत्मा इन सबका दृष्टा है। ज्ञान की यही परम दशा है। चेतना की चार दशाएं हैं- जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय। जागृति में अहंकार, कर्त्ताभाव होता है, स्वप्न में यह क्षीण हो जाता है, सुषुप्ति में इनका अभाव हो जाता है। चौथी तुरीय अवस्था में व्यक्ति मिट जाता है, परमात्मा ही रह जाता है। यह सूत्र इसी परम दशा का है।

# सूत्र ११

**सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः।**
**समस्तवासनामुक्तो मुक्तः सर्वत्र राजते।।**

*अनुवाद :— "मुक्त पुरुष सर्वत्र स्वस्थ, (शांत) सर्वत्र विमल आशय वाला दिखाई देता है और सब वासनाओं से रहित सर्वत्र सुशोभित होता है।"*

*व्याख्या :—* अज्ञानी अनेक प्रकार के द्वन्द्वों में जीता है जिससे वह कभी स्वस्थ, शान्त नहीं हो सकता। किन्तु ज्ञानी, हर्ष-विशाद, सुखःदुख आदि द्वन्द्वों से पार हो जाने से सदा स्वस्थ, शांत एवं विमल आशय वाला हो जाता है। वह सभी वासनाओं से रहित हो जाता है। वासनाग्रस्त व्यक्ति संकीर्ण घेरे में ही सोचता है, उसकी दृष्टि, वृत्तियाँ, कार्य आदि उसी संकीर्ण घेरे में ही होते हैं, वह दूसरों के हितों की परवाह न कर अपने ही हितों के इर्द-गिर्द सोचता व कार्य करता है जिससे वह क्षुद्राशय वाला ही होता है। ज्ञानी वासनाओं से रहित हो जाने से ही विमलाशय वाला होता है। वही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना वाला होता है। ऐसा व्यक्ति ही सर्वत्र सुशोभित होता है।

# सूत्र १२

**पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गृह्णन्वदन्व्रजन् ।**
**ईहितानीहितैर्मुक्तो मुक्त एव महाशयः ।।**

*अनुवाद :— "देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, ग्रहण करता हुआ, बोलता हुआ, चलता हुआ, हित और अहित से मुक्त महाशय निश्चय ही जीवन्मुक्त है।"*

***व्याख्या :***— **इस सूत्र में अष्टावक्र जीवन्मुक्त के लक्षण बताते हुए कहते हैं कि जो आत्मज्ञान को उपलब्ध हो गया वह जीवन्मुक्त है। ऐसा व्यक्ति वासनाओं, कामनाओं से ऊपर उठ गया है, सभी द्वन्द्वों के पार हो गया है अतः वह हित और अहित से मुक्त है, ऐसा व्यक्ति सभी स्वाभाविक कार्यों को करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता क्योंकि वह कर्त्तापन से मुक्त हो गया है।**

# सूत्र १३

**न निन्दति न च स्तौति न हृष्यति न कुप्यति ।**
**न ददातिगृह्णाति मुक्तः सर्वत्र नीरसः ।।**

*अनुवाद :— "मुक्त पुरुष सर्वत्र रसरहित है। वह न निन्दा करता है, न स्तुति करता है, न हर्षित होता है, न क्रुद्ध होता है, न देता है, न लेता है।"*

***व्याख्या :***— **परमात्मा सभी रसों कर रस है, पूर्णानन्द है। जिसे वह आनन्द मिल गया उसे संसार के सभी रस फीके ज्ञात होते हैं, अतः आत्मज्ञानी रसरहित हो जाता है। परमात्मा से जो तृप्त हो गया उसे संसार में तृप्ति की आकांक्षा नहीं रहती। यदि संसार में सुख होता, यदि इसमें तृप्ति मिल जाती, यदि इसमें आनन्द होता तो मनुष्य परमात्मा को खोजता ही नहीं, फिर धर्म का कोई अर्थ ही नहीं रह**

जाता, व्यर्थ की बकवास मात्र रह जाती। इस परम तृप्ति की खोज ही धर्म है। धर्म उस चेतना को उपलब्ध होने का विज्ञान है। संन्यास एवं वैराग्य उसका आरंभ हैं तथा जीवन्मुक्ति उसका अंत है। इस स्थिति में पहुँचा हुआ ज्ञानी दृष्टा हो जाता है। भक्त डूब जाता है। दोनों की एक ही स्थिति हो जाती है। अष्टावक्र का मार्ग दृष्टा का है। सूफियों ने भी साधना को चार चरणों में विभक्त किया है। पहला 'शरीयत' है जिसमें विधि-विधान, तौर-तरीका, नियम, संयम, उपाय हैं। दूसरा है 'तरीफत' जिसमें अहंकार विसर्जित हो जाता है, साधना समाप्त हो जाती है, 'मैं' खो जाता है। तीसरे चरण 'मारिफत' में परमात्मा की झलक मिलती है किन्तु द्वैत बना रहता है, चौथे चरण 'हकीकत' में अद्वैत की अनुभूति होती है, केवल ब्रह्म, सत्य ही रह जाता है। यही मंजिल है। यही जीवन्मुक्ति की दशा है। ऐसा व्यक्ति सर्वत्र उस एक की ही अनुभूति करता है जिससे वह न निन्दा करता है, न स्तुति, न हर्षित होता है न क्रुद्ध होता है, न ग्रहण करता है न त्याग करता है। स्वभाव से, अपने आप जो होता है वही कर लेता है। आग्रह किसी में नहीं होता। मिल जाय तो ले लेता है न मिलने पर इच्छा नहीं करता। वासना एवं अहंकारवश कोई कार्य नहीं करता। वासना एवं अहंकाररहित व्यक्ति ही जीवन्मुक्त है।

# सूत्र १४

**सानुरागां स्तिरयं दृष्ट्वा मृत्युं वा समुपस्थितम्।**
**अविह्वलमनाः स्वस्थो मुक्त एव महाशयः॥**

*अनुवाद :— "प्रीतियुक्त स्त्री और समीप में उपस्थित मृत्यु को देखकर जो महाशय अविचलमना और स्वस्थ रहता है वह निश्चय ही मुक्त है।"*

***व्याख्या :—*** यह मन ही बन्धन का कारण है। मन में दो ही वृत्तियाँ मुख्य हैं जिससे वह कभी शान्त नहीं होता। ये हैं राग और भय। जीवन में राग है, उसमें आकर्षण है। विषयों में राग है जिनमें काम सबसे शक्तिशाली है। काम से जीवन मिला है। वासना,

कामना, सृजन की ऊर्जा ही काम है। यह सृष्टि काम का ही विस्तार है इसलिए मनुष्य इसकी ओर आकर्षित होता है। दूसरा है मृत्यु का भय। मनुष्य की जीवेषणा प्रबल है। वह सब कुछ सहन करके भी जीना चाहता है। वह मृत्यु से सर्वाधिक भयभीत रहता है। मृत्यु का भय भी राग एवं वासना के कारण है। जिसने संसार को पूरा भोगा नहीं, अतृप्त है उसी को मृत्यु का भय सर्वाधिक होता है। यदि राग एवं वासना छूट गई तो वह मृत्यु से भयभीत नहीं होता। अतः आसक्ति और भय एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। शरीर में जीने वाले के लिए काम वासना ही मुख्य आकर्षण है किन्तु यह काम वासना शरीर की नहीं मन की वृत्ति है। शरीर यन्त्र मात्र है जो मन के आदेशानुसार सक्रिय एवं निष्क्रिय होता है अतः केवल शरीर को रोक देने से वासनामुक्त नहीं हो सकता। वासना का त्याग मन से होने पर ही वह इससे मुक्त हो सकता है। इसी प्रकार भय से मुक्ति भी मन से ही लेनी है तभी मुक्ति है। अष्टावक्र यही कहते हैं कि प्रीतियुक्त स्त्री और समीप में उपस्थित मृत्यु को देखकर भी जिस महाशय ज्ञानी का मन अविचल और स्वस्थ रहता है, उसका शरीर तो क्या मन भी अविचल रहता है तथा उसमें भी विकार उत्पन्न नहीं होते उसी को मुक्त कहना चाहिए। केवल शरीर से अविचल रह कर भी मन में जिसके दुर्विचार आ गये, जो मृत्यु से भयभीत हो गया वह मुक्त नहीं है, वासनाग्रस्त है। अतः मन का सम्पूर्ण विकारों से रहित होना ही मुक्ति है।

# सूत्र १५

**सुखे दुःखे नरे नार्यां संपत्सु च विपत्सु च।।**
**विशेषो नैव धीरस्य सर्वत्र समदर्शिनः।।**

*अनुवाद :— "समदर्शी धीर के लिए सुख और दुःख में, नर और नारी में, सम्पत्ति और विपत्ति में कहीं भेद नहीं है।"*

*व्याख्या :—* सुख-दुःख का भेद चाह के कारण है, वासना के कारण है। यदि चाह बदल गई तो दुःख सुख में एवं सुख दुःख में

परिणत हो जाता है। सृष्टि में सुख दुःख का विभाजन नहीं है, यह मन की वासना के कारण प्रतीत होता है। इसी प्रकार स्त्री पुरुष की भिन्नता शरीरगत् है, आत्मागत् भिन्नता नहीं है। आत्मा न स्त्री है न पुरुष। मन में वासना से ही स्त्री-पुरुष का भेद दिखाई देता है। जब वासना नहीं, चाह नहीं तो भेद भी समाप्त हो जाता है। दोनों बाहर से भिन्न प्रतीत होते हुए भी भीतर संयुक्त हैं, आत्मा एक ही है। आत्मज्ञानी शरीर को नहीं देखता, सर्वत्र आत्मा को ही देखता है। इसी प्रकार वह सम्पत्ति और विपत्ति को भी मन का ही प्रक्षेपण मानता है। आत्मज्ञानी समदर्शी होता है, वह इनसे प्रभावित नहीं होता इसलिए वह अभेद-दृष्टि से एक ही आत्मा का अनुभव करता है। ऐसा व्यक्ति ही मुक्त है।

# सूत्र १६

**न हिंसा नैव कारुण्यं नौद्धत्यं न च दीनता।**
**नाश्चर्यं नैव च क्षोभः क्षीणसंसरणे नरे।।**

*अनुवाद :— "क्षीण हो गया है संसार जिसका ऐसे मनुष्य में न हिंसा है, न करुणा है, न उद्दंडता है न दीनता, न आश्चर्य है न क्षोभ।"*

*व्याख्या :—* जिसको आत्म-ज्ञान हो गया, जिसने उस परम तत्व को जान लिया उसका संसार खो गया, उसके प्रति कोई आकर्षण न रहा। उसने अपने भीतर वासना, मोह, ममता, स्वार्थ आदि के कारण संसार के प्रति जो अच्छे-बुरे, हेय-उपादेय की दृष्टि बना रखी थी वह दृष्टि ही बदल गई। वह हिंसा, करुणा, उद्दंडता, विनम्रता, दीनता आदि तभी तक दिखाता है जब तक दो मौजूद हैं, मनुष्य मनुष्य में भिन्नता दिखाई देती है। जब सम्पूर्ण सृष्टि में उसे एक ही आत्मा दिखाई देती है तो कौन किसकी हिंसा करे, कौन किसके प्रति करुणा दिखावे। अपने आप ही लुप्त हो जाते हैं। प्रयासपूर्वक दया, करुणा, अहिंसा करनी नहीं पड़ती। फिर कोई अणुव्रत नहीं लेना पड़ता। ऐसे ज्ञानी को न आश्चर्य होता है न क्षोभ होता है।

वह सर्वत्र उपेक्षा भाव से अपने स्वभाव में, अपने विवेक में, स्वानुशासन से स्वच्छन्द जीता है। वह न दूसरों के अनुसार चलता है न विपरीत, वह अपने ही अनुकूल चलता है। ईश्वर भी ऐसा ही है। न दयावान है न करुणावान, न हिंसक है न अहिंसक, न दण्ड देता है न पुरस्कार देता है। न उसने सृष्टि बनाई न वह चला रहा है। वह अपने विशिष्ट नियमों से चल रही है इसलिए परमात्मा न कर्त्ता है न भोक्ता। ज्ञानी भी ऐसा ही ईश्वरतुल्य हो जाता है।

# सूत्र १७

**न मुक्तो विषयद्वेष्टा न वा विषयलोलुपः।**
**असंसक्तमनाः नित्यं प्राप्ताप्राप्तमुपाश्नुते।।**

*अनुवाद :— "मुक्त पुरुष न विषयों से द्वेष करने वाला है न विषयलोलुप है। वह सदा आसक्तिरहित मन वाला होकर प्राप्त और अप्राप्त वस्तु का उपभोग करता है।"*

*व्याख्या :—* अष्टावक्र कहते हैं कि जीवन्मुक्त व्यक्ति परम भोगी है। वह संसार के क्षणभंगुर भोगों का त्याग करके आत्मानन्द का शाश्वत भोग कर रहा है। वह न विषयों से द्वेष करने वाला है न विषयलोलुप है। तथाकथित साधु विषयों से द्वेष करने के कारण दुःखी रहते हैं एवं संसारी उनमें लोलुप रहने के कारण दुःखी हैं। जो उन्हें मिला है उससे भी दुःखी हैं और नहीं मिला है उसकी चिन्ता में दुःखी हैं। अज्ञानी की दृष्टि ही ऐसी है कि वह हमेशा रोता ही है। हँसने की, आनंदित होने की कला वह जानता ही नहीं। ज्ञानी ही इसे जानता है। ज्ञानी की किसी में आसक्ति नहीं होती। आसक्ति वाला ही दुःखी, चिन्तित, तनावग्रस्त रहता है इसलिए ज्ञानी जो प्राप्त है उसका भी भोग करता है और अप्राप्त की भी चिन्ता नहीं करता। उसमें भी आनन्दित होता है। रामकृष्ण ने कहा "हमने संसार छोड़ा, परमात्मा पाया। इसलिए हम क्षणभंगुर को छोड़कर परम शाश्वत का भोग कर रहे हैं अतः हम महान् भोगी हैं। और तुमने परमात्मा छोड़ा और संसार पाया इसलिए तुम क्षणभंगुर में मरे जा रहे हो, भोग

**कहाँ रहे हो। तुमने क्षुद्र के लिए विराट् छोड़ दिया, तुम महान त्यागी हो, हम महान् भोगी हैं।"**

# सूत्र १८

## समाधानासमाधानहिताहितविकल्पनाः ।
## शून्यचित्तो न जानाति कैवल्यमिव संस्थितः ।।

*अनुवाद :— "शून्यचित्त पुरुष समाधान और असमाधान के, हित और अहित के विकल्प को नहीं जानता है। वह तो कैवल्य जैसा स्थित है।"*

***व्याख्या :—*** **चित्त जब तक उद्वेलित है तभी तक संकल्प विकल्प उठते हैं, तभी तक समाधान और असमाधान के विचार उत्पन्न होते हैं, तभी तक हित और अहित का ध्यान बना रहता है। ये सब अहंकार के ही कारण है। तरंगित मन ही इन विक्षेपों का जन्मदाता है। जब चित्त शांत हो गया, शून्य हो गया, उसमें विचार, वासना, कामना की तरंगें ही उठना बन्द हो गईं तो वही कैवल्य की स्थिति है। ऐसा व्यक्ति केवल आत्मा में ही स्थित है। आत्मा के सिवाय अन्य को वह जानता ही नहीं। ऐसा व्यक्ति ही जीवन्मुक्त है।**

# सूत्र १९

## निर्ममो निरहंकारो न किञ्चिदिति निश्चितः ।
## अन्तर्गलितसर्वाशः कुर्वन्नपि न लिप्यते ।।

*अनुवाद :— "भीतर से गलित हो गई हैं सब आशाएँ जिसकी, और जो निश्चयपूर्वक जानता है कि कुछ भी नहीं है—ऐसा ममतारहित, अहंकारशून्य पुरुष कर्म करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता।"*

***व्याख्या :—*** **जो इस प्रकार की चित्त की शून्यता को प्राप्त होकर आत्मा में स्थित हो जाता है उसकी सब आशाएँ गलित हो जाती हैं**

क्योंकि वह आत्मा के अलावा कुछ भी नहीं जानता फिर किसकी आशा की जाय। ऐसा व्यक्ति ज्ञान को उपलब्ध होकर किसी में ममता नहीं करता, न उसमें अहंकार ही रहता है, 'मैंपन' का भी अभाव हो जाता है जिससे उसका कर्त्ताभाव मिट जाता है। वह करता हुआ भी नहीं करता है क्योंकि वह उपकरण मात्र हो जाता है। परमात्मा जो करवाता है वह कर लेता है। ऐसा व्यक्ति अलिप्त रहता है।

# सूत्र २०

**मनःप्रकाशसंमोहस्वप्नजाड्यविवर्जितः।**
**दशां कामपि संप्राप्तो भवेद्गलितमानसः।।**

*अनुवाद :— "जिसका मन गलित हो गया है और जिसके मन में कर्म, मोह, स्वप्न और जड़ता सब समाप्त हो गये हैं, वह पुरुष कैसी अनिर्वचनीय अवस्था को प्राप्त होता है।"*

***व्याख्या :—*** **आत्म-ज्ञान में मुख्य बाधा मन ही है। कर्म, मोह, स्वप्न एवं जड़ता का आभास मन से ही होता है। अतः जिसका मन गलित हो गया है उसके कर्म, मोह, स्वप्न एवं जड़ता सब समाप्त हो जाते हैं। ऐसा व्यक्ति पूर्ण चैतन्य एवं जाग्रत अवस्था में नित्य स्थित रहता है। यह अनिर्वचनीय अवस्था है जिसको कैवल्य अवस्था कहते हैं। इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। सभी ज्ञानियों ने ऐसा ही कहा है कि यह स्थिति वर्णनातीत है। कबीर ने इसे अमनी दशा, वेदों ने ऋत, बुद्ध ने धम्म (धर्म), कहा है। यही है परमात्मा, भगवान्, ईश्वर, ब्रह्म, सत्य। यही स्वभाव है, यही परम नियम है। यही बुद्धत्व है, यही ज्ञान है।**

*। इति श्री अष्टावक्रगीतायां सप्तदशकं प्रकरणं समाप्तम् ।*

— ० —

# अठारहवाँ प्रकरण

**(बोधोदय ही परम शान्ति का मार्ग है।)**

---

## आत्म ज्ञान-शतक (शान्ति शतक)

## सूत्र १

अष्टावक्र-उवाच

**यस्य बोधोदये तावत्स्वप्नवद्भवति भ्रमः ।**
**तस्मै सुखैकरूपाय नमः शान्ताय तेजसे ।।**

*अनुवाद :— "जिसके बोध के उदय होने पर समस्त भ्रान्ति स्वप्न के समान तिरोहित हो जाती है उस एकमात्र आनन्दरूप, शान्त और तेजोमय को नमस्कार है।"*

**व्याख्या :— यह प्रकरण आत्म-ज्ञान-शतक के नाम से प्रसिद्ध है। इसके आरम्भ में अष्टावक्र सर्वप्रथम उस आत्मा अथवा ब्रह्म को नमस्कार करते हैं जो एकमात्र है, सृष्टि में उससे भिन्न कुछ भी नहीं है, वह आनन्द-स्वरूप है, शान्त है और तेजोमय है। जीव अपने को आत्मा से भ्रान्ति तथा अज्ञानवश भिन्न समझता है किन्तु जब उसके बोध का उदय होता है, जब उसे आत्म ज्ञान हो जाता है, जब वह आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभव कर लेता है तब उसकी यह भ्रान्ति मिटती है कि मैं उस आत्मा से भिन्न जीवमात्र हूँ। यह अज्ञान ही उसका बन्धन है, यही उसका संसार है जो ज्ञान-प्राप्ति के बाद मिट जाता है। वह मायावत्, स्वप्नवत्, मिथ्या, क्षणभंगुर, असत्य एवं**

अनित्य ज्ञात होने लगता है। यह सब केवल दृष्टि-परिवर्तन से होता है। अज्ञानी की दृष्टि भिन्न होती है। उसे आत्मा का अनुभव न होने से वह संसार को ही सत्य, नित्य एवं शाश्वत समझता है तथा विषयभोगों में ही परम सुख मानता है। उसे आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, ईश्वर आदि भ्रान्तिपूर्ण ज्ञात होते हैं, माया दिखाई देते हैं। वह कहता है जो दिखाई नहीं देता वह सत्य कैसे हो सकता है। यह केवल दूकानदारी है, पण्डे, पुजारियों, मुल्ला, मौलवियों, धर्मगुरुओं की दूकानदारी मात्र है। ये दृष्य को असत्य माया कह कर अदृश्य को प्रतिष्ठित करने का षड़यन्त्र कर रहे हैं जिससे अन्धविश्वास, अज्ञान बढ़ा है। दोनों की अपनी-अपनी दृष्टि, अपने-अपने तर्क हैं। दोनों ही अपनी दृष्टि से सही हैं। ज्ञानी एवं अज्ञानी की दृष्टि में अन्तर होगा ही। यह अन्तर तर्क से नहीं मिटेगा, ज्ञान से, बोध से ही मिटेगा। बोध होने पर ही अज्ञान का अन्धकार मिटेगा जैसे सूर्य उदय होने पर समस्त अन्धकार विलीन हो जाता है। अन्धकार को हटाने का सीधा प्रयास पागलपन ही होगा। जो कहता है अन्धकार हटा देंगे तो सूर्य उदय हो जाएगा यह भ्रान्त धारणा है। अतः मुमुक्षु सदैव आत्मज्ञान का ही प्रयत्न करते हैं। आत्म-ज्ञान से ही समस्त भ्रान्तियाँ मिट कर व्यक्ति शांति का अनुभव करता है। अष्टावक्र उसी आत्मा को नमस्कार करके इस प्रकरण का आरम्भ करते हैं। अज्ञानी यदि संसार को मिथ्या समझता है तो भी वह पाखण्ड ही है, बेईमानी है। अज्ञान को स्वीकार कर लेना अधिक ईमानदारी है वनिस्वत इसके कि उस पर ज्ञान का झूठा आवरण चढ़ाना। इससे व्यक्ति बहुरूपिया बन जाता है।

## सूत्र २

**अर्जयित्वाऽखिलानर्थान् भोगानाप्नोति पुष्कलान्।**
**न हि सर्वपरित्यागमन्तरेण सुखी भवेत॥**

*अनुवाद :— "सारे धन कमाकर मनुष्य अतिशय भोगों को पाता है। लेकिन सबके त्याग के बिना सुखी नहीं होता।"*

*व्याख्या :—* अष्टावक्र कहते हैं कि केवल रुपया पैसा ही धन नहीं है। धन अनेक प्रकार के हैं। मकान, जमीन, जायदाद, हाथी, घोड़े, वाहन, मवेशी, जेवर, हीरे-जवाहरात, बाग-बगीचे आदि सभी धन हैं यहाँ तक कि ज्ञान, विद्या, विद्वत्ता, पांडित्य, कलाएँ आदि भी धन ही हैं। मनुष्य इन धनों का उपयोग भोग के लिए करता है, अथवा इन्हें देकर अन्य सुख-सुविधाएँ जुटाता है। धनिकों का यह विश्वास है कि धन से सब कुछ खरीदा जा सकता है। आज की परिस्थिति में देश की राजनीति, अर्थ-व्यवस्था, उद्योग, संचार-साधन, वैज्ञानिक उपलब्धियाँ सब धन का ही परिणाम हैं। धन रहित समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती। धन के साथ अपेक्षाएँ जुड़ी रहती हैं कि दुःख के समय काम आएगा। कुछ लोग इन्हीं अपेक्षाओं के कारण स्त्री, बाल-बच्चों एवं परिवार को भी धन समझते हैं कि वे भी मुसीबत के समय काम आयेंगे। किन्तु अष्टावक्र कहते हैं कि धन से मनुष्य अतिशय भोगों को तो पा सकता है किन्तु वह सुखी नहीं हो सकता। सुख और आनन्द कभी धन से खरीदे ही नहीं जा सकते क्योंकि ये बाजार में नहीं मिलते। भीतरी अनुभव से प्राप्त होते हैं। धनवान सुखी हो ही नहीं सकता। धनवान अक्सर रोगी मिलेंगे। किसी का हाजमा खराब है तो किसी को मधुमेह है। किसी को अनिद्रा रोग है तो कोई चिन्ता से ग्रस्त है, कोई निःसन्तान है। उसे धन-संग्रह में भी अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं तो उसकी रक्षा का भी प्रयत्न करना पड़ता है। यह धन ही चोरी, हत्याएँ, गुण्डागर्दी फैलाता है। अनेक अनाचार व दुराचार करवाता है। इसलिए धन से सुख, शांति, आनन्द कभी नहीं मिल सकता। धन कमाना बुरा नहीं है किन्तु इसकी दौड़ में पागल हो जाना बुरा है। यही अशांति का कारण है। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि धन से सुख नहीं मिल सकता। सुख तो उसके त्याग से ही मिल सकता है त्याग का अर्थ धन कमाना बन्द करके आलसी, निकम्मे एवं भिखारी हो जाना नहीं है, उसे छोड़कर जंगल चले जाना अथवा उसको नष्ट करना भी नहीं है बल्कि उसके प्रति आसक्ति का त्याग है। धन की गुलामी छोड़ने से है, धन के पीछे जो पागलपन है उसे छोड़ने से है। ऐसा धन निश्चित ही सुख दे सकता है किन्तु ऐसा सुख

अस्थाई है। धन का कोई भरोसा नहीं कि कब आता है और कब जाता है, यह विश्वसनीय नहीं है। इसलिए ज्ञानियों ने सन्तोष को ही परम सुख कहा है। कहा भी है :—

*गौ धन गज धन वाजि धन, और रतन धन खान।*
*जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूरि समान।।*

धन को असत्, मिथ्या जान लेना ही उसका त्याग है। इसी से सन्तोष, शान्ति एवं सुख मिलता है। सुख संग्रह में नहीं है, त्याग में है। देने में जो सुख है वह लेने में नहीं है। जो समाज से कम से कम लेता है और अधिक से अधिक देता है वह परम सुखी जीता है। जो लेता ही लेता है, देता नहीं वही दुःखी, अशान्त रहता है।

# सूत्र ३

**कर्तव्यदुःखमार्तण्डज्वालादग्धान्तरात्मनः।**
**कुतः प्रशमपीयूषधारासारमृते सुखम्।।**

*अनुवाद :— "कर्तव्य से पैदा हुए दुःखरूप सूर्य के ताप से जला है अन्तर्मन जिसका, ऐसे पुरुष को शांतिरूपी अमृतधारा की वर्षा के बिना सुख कहां है?"*

*व्याख्या :—* ज्ञानी की बात को अज्ञानी नहीं समझ सकता क्योंकि अज्ञानी का मन सदा अपेक्षाओं, आकांक्षाओं, इच्छाओं, स्वार्थों आदि से भरा रहता है। विष में अमृत मिला देने से वह अमृत भी विष बन जाता है। इसलिए अज्ञानी जब तक संकीर्णताओं के घेरों से ऊपर नहीं उठता, वह ज्ञान को नहीं समझ पाता इसीलिए एक ही कथन की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ मिलती हैं। इस सूत्र में अष्टावक्र कहते हैं कि कर्तव्य से दुःख पैदा होता है एवं उस दुःखरूपी सूर्य के ताप से अन्तर्मन जलता है, दुःखी होता है। इस दुःख-निवृत्ति का उपाय शांतिरूपी अमृत-धारा की वर्षा है जिसके बिना मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। यहाँ कर्तव्य का अर्थ कर्त्तापन से है। जो कर्म कर्त्तापन से, अहंकारवश किये जाते हैं वे ही दुःख देने वाले होते हैं, वे ही बन्धन के कारण होते हैं। अहंकाररहित किये गये, अपने

को निमित्त मान कर किये गये कर्म, स्वभावगत् कर्म दुःखों का कारण नहीं बनते बल्कि उनसे आनन्द मिलता है, सुख मिलता है, शांति का अनुभव होता है। जो कर्मों को अहंकाररहित होकर करता है, शांति उसी को उपलब्ध होती है। अकर्त्ता हो जाने से ही शांति मिलती है।

## सूत्र ४

**भवोऽयं भावनामात्रो न किञ्चित्परमार्थतः।**
**नास्त्यभावः स्वभावानां भावाभावविभाविनाम्॥**

*अनुवाद :— "यह संसार भावनामात्र है, परमार्थतः कुछ भी नहीं है। भावरूप और अभावरूप पदार्थों में स्थित स्वभाव का अभाव नहीं है।"*

*व्याख्या :—* अष्टावक्र कहते हैं कि यह संसार भावनामात्र है संसार वास्तव में कैसा है यह कोई नहीं जान सकता। हर व्यक्ति अपनी भावना के अनुसार ही संसार को देखता है इसलिए सबको संसार भिन्न-भिन्न प्रकार का दिखाई देता है। मनुष्य को संसार वैसा ही दिखाई देता है जैसा वह देखना चाहता है। मनुष्य वासना, कामना, मोह, आसक्ति, भय, राग, द्वेष आदि अनेक भावनाओं से भरा है इसलिए उसे संसार वैसा ही दिखाई देता है। संसार इन्हीं भावनाओं का प्रक्षेपणमात्र है। जिस प्रकार स्वप्न भी मन का ही प्रक्षेपण है किन्तु सत्य प्रतीत होता है। स्वप्न टूटने पर ही ज्ञात होता है कि स्वप्न था, भ्रान्ति थी। इसी प्रकार यह संसार भी स्वप्न के ही समान भावनाओं का प्रक्षेपणमात्र है किन्तु अज्ञानी इसे सत्य समझ लेता है। आत्म-ज्ञान से ही यह भ्रान्ति मिटती है व उसी को यह माया, मिथ्या, असत्य प्रतीत होता है। वही इसका वास्तविक स्वरूप पहचान सकता है। इसलिए ज्ञानी कहता है कि यह संसार भावनामात्र है, परमार्थतः यह कुछ भी नहीं है। परमार्थ (परम + अर्थ) में आत्मा ही सत्य है, जगत् भ्रांतिमात्र है। ज्ञानी अहंकार एवं वासनाशून्य होने से इस संसार का उसके लिए कोई प्रयोजन ही नहीं

है, अर्थहीन है। यही इसका वास्तविक स्वरूप है जिसे ज्ञानी देखता है। मनुष्य को भय के कारण ही रस्सी भी साँप दिखाई देती है, बच्चे में भय नहीं होने से वह साँप को भी रस्सी समझकर पकड़ लेता है। अपना बेटा, पत्नी आदि अच्छे इसलिए दिखाई देते हैं कि उनके साथ स्वार्थ एवं अपेक्षाएँ जुड़ी हैं वरना न वे पूर्व जन्म में कभी साथी रहे थे न मृत्यु के बाद साथ देंगे। यदि स्वार्थों में कमी आ जाय, अपेक्षाएँ पूरी न हों तो इसी जन्म में छोड़ भागेंगे। केवल ज्योतिषी के कुंडली मिला देने से पति-पत्नी नहीं हो जाते। यह झूठी पत्नी और ये झूठे पति दोनों अज्ञानी, दोनों अंधे मिल गये इसलिए थोड़े समय पटरी बैठ गई वरना बैठती नहीं। फिर सारा जीवन क्लेश में ही बीतता है। पूछो ज्योतिषी से कि अट्ठाइस गुण मिले थे फिर झगड़ा क्यों? इसका कोई उत्तर नहीं। तुम्हारे मित्र, शत्रु तुम्हारे ही मन एवं स्वार्थों का प्रक्षेपण हैं। यदि स्वार्थ न हो तो कौन मित्र है, कौन शत्रु है कहना कठिन हो जाएगा। अतः संसार भरोसे योग्य नहीं है जो स्वभावरूप में सबमें स्थित है। आत्मा भावरूप है वही सत्य है एवं संसार अभावरूप है किन्तु दोनों में जो स्वभावरूप आत्मा है वही सत्य है। उसका कहीं भी अभाव नहीं है। अन्य सभी अभावस्वरूप हैं।

## सूत्र ५

**न दूरं न च संकोचाल्लब्धमेवात्मनः पदम्।**
**निर्विकल्पं निरायासं निर्विकारं निरञ्जनम्।।**

*अनुवाद :— "यह आत्म पद न तो दूर है न संकोच से ही प्राप्त होता है। यह निर्विकल्प, निरायास,. निर्विकार और निरंजन है।"*
*(विकल्परहित, प्रयासरहित, विकाररहित और निर्दोष है।)*

*व्याख्या :—* इस सूत्र में अष्टावक्र आत्मा की स्थिति एवं उसकी विशेषताओं को बताते हुए कहते हैं कि आत्मा कहीं सातवें आसमान में नहीं है, न वह किसी अदृश्य लोक में अथवा स्वर्ग में है, न कहीं हिमालय में न मठों-मंदिरों में है जहाँ उसे ढूंढना पड़े। वह स्वयं के

भीतर ही है तथा संकोच से, कठिनाई से प्राप्त होती हो ऐसा भी नहीं है। वह तो सदा उपलब्ध ही है। केवल आंख खोल कर देखना मात्र है। स्वयं की पूर्ण जाग्रत अवस्था ही उसे प्राप्त करना है, विकारों की धूलि को पोंछना मात्र है, गंदे दर्पण को साफ करना मात्र है जिससे उसका आभास हो सके। विचारों के घने बादलों के आवरण से वह सूर्य दिखाई नहीं दे रहा है। विचारशून्य होने पर ही उसका ज्ञान होता है। सभी विधियाँ विचारों को बन्द करने की प्रक्रियाएँ ही हैं। यह आत्मा निर्विकल्प है। निर्विकल्प होकर ही इसे जान सकते हो। वह निरायास है। उसे जानने के लिए कोई प्रयास भी नहीं करना पड़ता। वह निर्विकार है। उसमें कोई विकार नहीं है, शुद्ध है, वैज्ञानिकों के तत्व जैसा। वह यौगिक भी नहीं है। उसमें पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा, हित-अहित जैसा कुछ है ही नहीं। वह निर्दोष है। उसमें दोष है ही नहीं, वह अलिप्त है, उसे विकृत किया ही नहीं जा सकता न वह छीना जा सकता है, न चोर चुरा सकते हैं, न अप्रकट है, न किसी कमरे में बन्द है कि तुम्हें उसका द्वार खटखटाना पड़े। वह सदा उपलब्ध है। वह विस्मृत है, उसे पुनः स्मृति में लाना मात्र है।

# सूत्र ६

**व्यामोहमात्रविरतौ स्वरूपादानमात्रतः।**
**वीतशोका विराजन्ते निरावरणदृष्टयः ।।**

*अनुवाद :— "मोहमात्र से निवृत्त होने पर और अपने स्वरूप के ग्रहणमात्र से वीतशोक और निरावरण दृष्टि वाले पुरुष शोभायमान होते हैं।"*

*व्याख्या :—* आत्म-स्वरूप को उपलब्ध व्यक्ति के विषय में अष्टावक्र कहते हैं कि सांसारिक विषयों के प्रति मोह निवृत्त होने से ही आत्म-स्वरूप का ग्रहण हो सकता है। आत्म-ज्ञान प्राप्त करना नहीं है केवल उसकी बाधाओं को हटाना मात्र है। दृष्टि एक ही है। उसे मोह के कारण संसार में लगाओ तो केवल संसार ही दिखाई देगा। मोह हटने पर संसार लुप्त हो जायगा फिर जो भी दिखाई देगा

वह आत्मा ही है। फिर प्राणी, पशु-पक्षी यहाँ तक कि पत्थर में भी वही परमात्मा दिखाई देगा। ऐसे आत्म-स्वरूप के ग्रहणमात्र से व्यक्ति द्वन्द्वों से पार होकर वीत-शोक वाला एवं निरावरण दृष्टि वाला हो जाता है। फिर सभी को सीधा देखता है, मोह, ममता, राग, द्वेष, प्रेम, घृणा की दृष्टि से नहीं देखता। उसकी सत्य दृष्टि हो जाती है, स्वयं सत्य हो जाता है। ऐसा पुरुष ही शोभायमान होता है।

## सूत्र ७

**समस्तं कल्पनामात्रमात्मा मुक्तः सनातनः।**
**इति विज्ञाय धीरो हि किमभ्यस्यति बालवत्॥**

*अनुवाद :— "समस्त जगत् कल्पनामात्र है और आत्मा मुक्त और सनातन है। ऐसा जान कर धीर पुरुष बालक के समान क्या चेष्टा करता है।"*

*व्याख्या :—* अष्टावक्र कहते हैं कि यह समस्त संसार कल्पना मात्र है। तुमने जैसी अच्छी-बुरी कल्पना की वैसा ही तुम्हें संसार दिखाई देता है। तुम्हारी कल्पना का नाम ही मन है जिससे तुम संसार को भिन्न दृष्टि से देख रहे हो, उसका वास्तविक स्वरूप दिखाई नहीं दे रहा है। यदि मन का पर्दा हट जाय तो संसार भिन्न प्रकार का दिखाई देने लगेगा। अतः यह अज्ञान दृष्टि ही तुम्हारा बन्धन है। इसे छोड़कर जिस दिन चेतना द्वार सीधा ही देखोगे उसी दिन उसी क्षण तुम मुक्त हो, उसी क्षण तुम आत्म-ज्ञानी हो। यह आत्मा मुक्त और सनातन है। यह स्वयं बन्धनग्रस्त नहीं है, न ऐसी है कि आज है कल नहीं रहेगी। मरने के बाद ही मिलेगी, स्वर्ग में मिलेगी, ज्ञानी के पास ही है अज्ञानी में आत्मा होती ही नहीं, पशु-पक्षियों में आत्मा होती ही नहीं, ऐसा भी नहीं है। वह सर्वत्र है, सनातन है। सत्य एक ही है। जिसने संसार को सत्य समझा उसे आत्मा असत्य दिखाई देती है, किन्तु आत्म-ज्ञानी को आत्मा सत्य और संसार असत्य दिखाई देता है। यह मात्र दृष्टि है। संसार को सत्य मानना ही आत्मा में बन्धन है। ये वास्तविक नहीं है। झूठी मान्यता ने ही झूठे बन्धनों का

निर्माण किया है। ज्ञानी की यह भ्रान्ति मिट जाती है जिससे वह मुक्त है। इसके लिए बालक अथवा अज्ञानी की भाँति चेष्टा नहीं करनी पड़ती। अज्ञानी ही चेष्टा करता है, अभ्यास करता है, साधना करता है। आत्म-ज्ञान चेष्टा, प्रयास, श्रम से प्राप्य नहीं है, वह प्राप्त है केवल निर्विकार दृष्टि से देखने मात्र से। साक्षी मात्र हो जाना ही पर्याप्त है। चेष्टा ही संसार है, साक्षित्व परमात्मा है। तुम्हारी चेष्टा से ही कर्मों का संचय हुआ है, तुमने हजारों जन्मों में प्रयत्न करके ही कर्मों का संचय किया है, नरक जाने के लिए तुमने बहुत परिश्रम किया है किन्तु जो मुक्ति एक क्षण में प्राप्त हो सकती है बिना प्रयत्न के, उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। संग्रह में प्रयत्न करना पड़ता है त्याग एक क्षण में बैठे-बैठे हो जाता है बिना श्रम के। यह आसक्ति-त्याग ही मुक्ति है। घटना उसी क्षण घट जायेगी जैसे कोई स्वप्न में जागा हो। सभी संचित कर्म जागते ही लुप्त हो जायेंगे जैसे स्वप्न में किये गये पाप-पुण्य का दण्ड जागने पर नहीं मिलता। मुक्त तुम थे ही। बन्धन ही भ्रान्ति थी सो मिट गई। बैठे-बैठे ही मुक्त हो गये, सुन कर ही मुक्त हो गये, 'न कहूँ गया न आया'। न उपवास में मुक्ति है, न शीर्षासन लगाने में, न कुण्डलिनी जगाना पड़ता है, न बन्ध व मुद्राएँ आवश्यक हैं, न शास्त्र आवश्यक हैं, न गुरु। अज्ञान की स्वीकृति ही ज्ञान का द्वार है, अहंकार गिराकर सहज हो जाना ही मार्ग है।

## सूत्र ८

**आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ।**
**निष्कामः किं विजानाति किं ब्रूते च करोति किम्॥**

*अनुवाद :— "आत्मा ब्रह्म है और भाव और अभाव कल्पित हैं। यह निश्चयपूर्वक जान कर निष्काम पुरुष क्या जानता है, क्या कहता है और क्या करता है।"*

*व्याख्या :—* अष्टावक्र इस सूत्र में आत्मा एवं ब्रह्म की अभेदता बताते हुए कहते हैं कि यह आत्मा ही ब्रह्म है। व्यक्ति में उपस्थित

चेतना का नाम आत्मा है तथा समष्टिगत् चेतना ही ब्रह्म है। यह ब्रह्म एक ही है जो भिन्न-भिन्न पदार्थों के कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। ये भाव और अभाव दोनों मन की कल्पना मात्र है। वही एक ब्रह्म है जो न भावस्वरूप है न अभावस्वरूप। यह धारणा ही मिथ्या है कि परमात्मा है अथवा नहीं है क्योंकि वही सब कुछ है। वह सृष्टि से भिन्न नहीं है। सृष्टि में परमात्मा है अथवा नहीं है ऐसी धारणा ही कल्पनामात्र है। सृष्टि ही परमात्माहै। ऐसा निश्चयपूर्वक वही जानता है जिसे इसका अनुभव हो गया। शास्त्रों से, पंडितों से यह नहीं जाना जा सकता। यह जाना जाता है स्वयं के भीतर प्रवेश करने से, निःशब्द, शान्ति, मौन में। यह विज्ञान की प्रयोगशाला में नहीं स्वयं के भीतर की प्रयोगशाला में ही जाना जा सकता है, यह तर्क से नहीं शून्य होने से ही जाना जा सकता है। जब तुम मिटोगे तभी परमात्मा है। स्वयं का मिटाना ही मार्ग है, अहंकार, कर्त्तापन ही बाधा है। स्व का ज्ञान ही धर्म है, पर का ज्ञान है विज्ञान। जब मन वासना, आसक्ति, अहंकार से मुक्त होता है तो जो शेष रहता है वह ब्रह्म ही है। ऐसी स्थिति को उपलब्ध हुआ ज्ञानी ही निष्काम है। निष्काम साधना भी है और सिद्धि भी। इस परम ज्ञान की स्थिति में कर्त्ता खो जाता है, इसलिए कर्म भी खो जाते हैं। फिर वह जो भी करता है, वह कर्म नहीं है, जो कहता है, जो जानता है उसमें अहंकार नहीं वही सत्य है। सब कुछ अस्तित्व से होता है, स्वभाव से होता है।

# सूत्र ९

**अयं सोऽहमयं नाहमिति क्षीणा विकल्पनाः।**
**सर्वमात्मेति निश्चित्य तूष्णीभूतस्य योगिनः।।**

*अनुवाद :— "सब आत्मा है। ऐसा निश्चयपूर्वक जानकर शांत हुए योगी की ऐसी कल्पनाएँ कि 'वह मैं हूँ' और 'वह मैं नहीं हूँ' क्षीण हो जाती हैं।"*

*व्याख्या :—* बन्ध और मुक्ति न शरीर में है, न मन में, न कर्म में। न कोई परमात्मा बन्धन में डालता है न मुक्त करता है। मनुष्य

की अज्ञानजनित भेद-बुद्धि ही इसका कारण है। जीवात्मा और परमात्मा में भेद मानने के कारण ही अज्ञानवश मनुष्य ने समस्त सृष्टि को द्वन्द्वों में विभाजित कर दिया। सृष्टि में एक ही अस्तित्व था, अविभाज्य था। विभाजन के कारण भेद प्रतीत होने लगा एवं यही भेद संघर्षों का कारण बन गया। यह भेद अज्ञानजनित है, आत्म-ज्ञान के अभाव से प्रतीत हुआ यह द्वैत भाव उस योगी का समाप्त हो जाता है जिसने यह जान लिया है कि सब आत्मा ही है। आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है। यह भिन्नता अहंकार एवं मन, वासना, तृष्णा, कामना आदि अज्ञान के कारण ज्ञात हो रही थी। इस भ्रांति के मिट जाने पर उसे अभिन्नता का निश्चयपूर्वक बोध हो जाता है जिससे वह शांत हो जाता है एवं उसकी 'यह मैं हूँ' और 'यह मैं नहीं हूँ' की समस्त कल्पनाएँ क्षीण हो जाती हैं जो अज्ञानजनित थीं जैसे दीपक जलने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है।

## सूत्र १०

**न विक्षेपो न चैकाग्र्यं नातिबोधो न मूढ़ता।**
**न सुखं न च वा दुःखमुपशान्तस्य योगिनः।।**

*अनुवाद :— "उपशान्त हुए योगी के लिए न विक्षेप है और न एकाग्रता है, न अतिबोध है और न मूढ़ता है, न सुख है, न दुःख है।"*

*व्याख्या :—* चित्त में संकल्प-विकल्प निरन्तर उठते रहते हैं। इन्हीं संकल्प-विकल्पों के कारण संसार है किन्तु आत्म-ज्ञानी योगी का चित्त इन संकल्प-विकल्पों से रहित होकर पूर्णतः शांत हो जाता है जिससे चित्त के समस्त विक्षेप समाप्त हो जाते हैं। विक्षेप होने पर ही एकाग्रता की, धारणा, ध्यान, समाधि को साधने की आवश्यकता पड़ती है, अतिबोध और मूढ़ता, सुख और दुःख की अनुभूति भी चित्त के विक्षेपों के कारण ही प्रतीत होती है। अतः आत्म-ज्ञानी योगी के समस्त विक्षेप ही शांत हो जाते हैं एवं वह सदा हक़ ही आत्मा का सर्वत्र अवुभव करता हुआ नित्य आत्मानन्द में ही मग्न रहता है इसलिए इनका उसे कोई अनुभव नहीं होता।

# सूत्र ११

**स्वराज्ये भैक्ष्यवृत्तौ च लाभालाभे जने वने।**
**निर्विकल्पस्वभावस्य न विशेषोऽस्ति योगिनः ।।**

*अनुवाद :— "निर्विकल्प स्वभाव वाले योगी के लिए राज्य और भिक्षावृत्ति में, लाभ और हानि में, समाज और वन में फर्क नहीं है।"*

**_व्याख्या :—_ आत्म-ज्ञानी के चित्त के समस्त संकल्प-विकल्प समाप्त हो जाते हैं। वह सदा निर्विकल्प अवस्था में एक ही आत्मानन्द में रमण करता है जिससे उसके लिए चाहे साम्राज्य सुख हो चाहे भिक्षावृत्ति, लाभ हो या हानि वह समाज में रहे चाहे वन में कोई अन्तर नहीं पड़ता। उसका सारा आग्रह ही समाप्त हो जाता है। साम्राज्य चाहने वाले एवं उसे छोड़ कर भागने वाले दोनों आग्रहपूर्ण हैं, दोनों में संकल्प है। इसी प्रकार संकल्प लेकर भिक्षा-वृत्ति करने वाले, लाभ-हानि को चाहने वाले, समाज एवं वन में रहने का आग्रहपूर्वक निश्चय करने वाले कि मैं ऐसा ही करूँगा यह अहंकारजनित अज्ञान का परिणाम है। अहंकार एवं संकल्प-विकल्प से रहित होने पर वह हर स्थिति में अनाग्रहपूर्वक रहकर स्वाभाविक जीवन जीता है। उसका कोई चुनाव नहीं होता, उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, कोई शिकायत नहीं है। जो है, सब स्वीकार है। बुद्ध ने इसी स्थिति को 'तथाता' कहा है।**

# सूत्र १२

**क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकता।**
**इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तस्य योगिनः ।।**

*अनुवाद :— "यह किया है और यह अनकिया है इस प्रकार के द्वन्द्व से मुक्त योगी के लिए कहाँ धर्म है, कहाँ काम है, कहाँ अर्थ है, कहाँ विवेक?"*

*व्याख्या* :— अष्टावक्र इन सूत्रों में जीवन्मुक्त योगी के लक्षणों को बताते हुए कह रहे हैं कि जो इन लक्षणों वाला है वही परम योगी है एवं वही जीवन्मुक्त है ये लक्षण ही जीवन्मुक्त की कसौटी है। जिनमें ये लक्षण न दिखाई दें, समझ लो उसे आत्म-ज्ञान हुआ नहीं, उसे अद्वैत का ज्ञान हुआ नहीं। फिर भी यदि कोई आत्म-ज्ञानी होने का दावा करता है तो या तो वह भ्रमित है, या पागल है, या पाखंडी है। इसी क्रम में अष्टावक्र कहते हैं कि योगी चित्त की संकल्प-विकल्प अवस्था से पूर्णतः निर्विकल्प हो जाने से उसके समस्त विक्षेप शांत हो जाते हैं जिससे वह किये और अनकिये सभी प्रकार के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है। ऐसे मुक्त योगी के लिए धर्म, अर्थ, काम तथा विवेक का बन्धन समाप्त हो जाता है जिसका अज्ञानी पर आरोपण किया जाता है। ज्ञानी अपनी आत्मा के स्वभाव के अनुसार इनका पालन करता है जबकि अज्ञानी बाध्य होकर मजबूरी में, अस्वाभाविक रूप से इनका पालन करता है। अज्ञानी धर्म, अर्थ, काम, विवेक का झूठा मुखौटा लगाता है जो उसका स्वभाव नहीं है। ज्ञानी का यह स्वभाव हो जाता है। यही उसका सही स्वरूप है- औरिजनल फेस। आत्म-ज्ञान में दृष्टि बदल जाती है।

## सूत्र १३

**कृत्यं किमपि न एव न कापि हृदि रञ्जना।**
**यथा जीवनमेवेह जीवन्मुक्तस्य योगिनः ।।**

*अनुवाद :— "जीवन्मुक्त योगी के लिए कर्तव्य कर्म कुछ भी नहीं हैं और न हृदय में कोई अनुराग है। वह संसार में यथाप्राप्त जीवन जीता है।"*

*व्याख्या* :— इसी क्रम में अष्टावक्र कहते हैं कि जीवन्मुक्त योगी के लिए कर्तव्य कर्म कुछ भी नहीं है। कर्मों का सांसारिक उद्देश्य होता है धन, सुख, मान-सम्मान, शांति, ऐश्वर्य, पद-प्रतिष्ठा

आदि की प्राप्ति। वह कर्म करके कुछ प्राप्त करना चाहता है जिससे वह संसार में सुखपूर्वक एवं सम्मान के साथ जी सके। इसलिए फलाकांक्षा उसमें निहित रहती है। धार्मिक व्यक्ति कर्मों द्वारा स्वर्ग, मोक्ष, सद्गति प्राप्त करना चाहता है जिससे वह बुरे कर्मों को छोड़कर अच्छे कर्म करता है, दूसरों की भलाई करता है, सेवा करता है, गरीबों की सहायता करता है, दान देता है, धर्मशाला बनाता है, मंदिर, गिरजा बनाता है। ये सब कर्म वह धार्मिक दृष्टि से करता है ताकि उसका आगे अच्छा फल मिले। इसमें भी फलाकांक्षा रहती ही है किन्तु जो योगी जीवन्मुक्त हो गया है, जिसने वह सब पा लिया है जिसे पाने के लिए ये सब कर्म किये जाते हैं इसलिए अब उसके लिए कर्तव्य कर्म कुछ भी नहीं हैं, अब कुछ करना शेष नहीं रहा। कर्म का उद्देश्य ही फल-प्राप्ति है अतः फल-प्राप्ति हेतु किये जाने वाले समस्त कर्म ज्ञान-प्राप्ति पर छूट जाते हैं। उसके बाद वे ही कर्म रह जाते हैं जो बिना फलाकांक्षा के स्वाभाविक रूप से होते हैं। ऐसे कर्म कर्तव्य कर्म नहीं होते, खेल रूप से, स्वाभाविक रूप से, लीलावत्, नाटकवत् होते रहते हैं। ऐसे कर्मों के प्रति हृदय में कोई अनुराग भी नहीं होता। ऐसा योगी यथा-प्राप्य से अपना जीवन जीता है। उसमें न विशेष पाने का, न छोड़ने का ही आग्रह होता है। यहाँ 'कर्तव्य कर्म कुछ भी नहीं है,' इसका अर्थ यह नहीं है कि ज्ञानी समस्त कर्मों को छोड़कर आलसी हो जायगा कि अब सब कुछ मिल गया, कर्म क्यों करें। इसका अर्थ है कर्म सभी होंगे किन्तु वे स्वाभाविक रूप से, फलाकांक्षा की विक्षिप्तता से रहित होंगे। दूसरा अर्थ यह भी कदापि नहीं है कि समस्त कर्मों का त्याग कर, आलसी होकर जीवन जीने वाला जीवन्मुक्त हो जायेगा। ऐसा करने वाला भी अहंकार से ग्रसित है जिससे वह पाखंडी ही है ज्ञानी नहीं। इस भेद को समझना आवश्यक है। इसीलिए अष्टावक्र पन्द्रहवें प्रकरण के तीसरे सूत्र में आगाह करते हैं कि भोग की अभिलाषा करने वालों के लिए यह तत्व-बोध त्यक्त है। जिनमें फलाकांक्षा है वे सब भोग के अभिलाषी हैं। उनको दिया गया यह तत्व-बोध अमृत के बजाय उल्टा विष का काम करेगा। वह कर्तव्यभ्रष्ट हो

सकता है। यह तत्व-बोध अधिकारी, मुमुक्षु को ही देने का है। यह ज्ञान ऐसी बाजारू वस्तु नहीं है कि एनासिन की भाँति हर पान वाले की दूकान पर मिल जाय। ऐसा ज्ञान मंदिरों, मठों, आश्रमों, गिरजा, मस्जिद आदि में भी प्राप्त नहीं होता कि वहाँ माथा टेका, फूल चढ़ाये, नारियल चढ़ा दिया और समझते हैं हम धार्मिक हो गये, स्वर्ग की चाबी हमें मिल गई, मुक्त हो गये, सिद्धशिला पर बैठ गये, अब करने को कुछ नहीं रहा। जीसस ने सूली के समय कहा 'तेरी इच्छा पूरी हो' यहाँ भी उनका 'मैं' और 'तू' का द्वैतभाव बना ही रहा। अद्वैत की अनुभूति उन्हें न हो सकी इसीलिए उन्होंने ईश्वर और आत्मा का पिता-पुत्र का सम्बन्ध माना। ब्रह्मा कुमारी वाले भी ऐसा ही मानते हैं, महावीर को तो आत्मा-आत्मा में भी भेद ज्ञात हुआ इसलिए वे अनेक आत्माएँ मानते रहे। यह सब ज्ञान की अपूर्ण अवस्था है। मुस्लिम धर्म भी पूर्णतः द्वैतवादी है। अद्वैतवादियों में भी अष्टावक्र शिरोमणि हैं जिसकी कोई तुलना नहीं है इसलिए यही ज्ञान अध्यात्म-जगत् का परम-ज्ञान है। कई मूढ हैं जो समझते हैं चाय छोड़ दो, धूम्रपान छोड़ दो, काँटों पर लेट जाओ, नग्न हो जाओ, राख लपेट लो मोक्ष हो जायेगा। किन्तु पीने और छोड़ने का मोक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है। मोक्ष का सम्बन्ध पदार्थों के त्याग से नहीं वृत्तियों के शांत होने से है। छोड़ने की बातें करने वाले विकृत मस्तिष्क वाले ही हैं। मन की अच्छी-बुरी सभी वृत्तियों का शांत हो जाना ही मोक्ष है। सभी भेद समाप्त होकर उस एक परम-तत्व में स्थित हो जाना ही मुक्ति है।

# सूत्र १४

**क्व मोहः क्व च वा विश्व क्व तद्ध्यानं क्व मुक्तता।**
**सर्वसंकल्पसीमायां विश्रान्तस्य महात्मनः॥**

*अनुवाद :— "सम्पूर्ण संकल्पों के अन्त होने पर विश्रान्त हुए महात्मा के लिए कहाँ मोह है और कहाँ संसार है, कहाँ वह ध्यान है, कहाँ मुक्ति है।"*

*व्याख्या* :— भारतीय धर्म में महात्मा, संत, ज्ञानी, गुरु आदि शब्द उच्चबोध के सूचक हैं। महात्मा वह है जिसके चित्त की समस्त वृत्तियां शांत हो गई हैं एवं सभी प्रकार के संकल्पों का जिसके चित्त से अन्त हो गया है तथा केवल उस चैतन्य आत्मा में विश्राम कर स्थित है। जिसके संकल्प शेष हैं, कुछ करने की वासना है, जिसमें अहंकार है, जिस का मन सदा उद्वेलित एवं चिंतित है, जिसमें स्वर्ग और मोक्ष की भी कामना है, जो अच्छे-बुरे में भेद करता है, जिसे जीव, ब्रह्म और सृष्टि में भिन्नता दिखाई देती है वह न ज्ञानी है न महात्मा। राख लपेटने से, नग्न हो जाने से, भगवा पहन लेने से, चिमटा लेकर बम-बम बोलने से, कोई महात्मा नहीं हो जाता। जो संकल्पों से रहित होकर आत्म-ज्ञान को उपलब्ध हो गया है वही महात्मा है। उसके लिए मोह, संसार, ध्यान एवं मुक्ति को भी कोई स्थान नहीं है। ये सब व्यर्थ हो गये हैं। ये सब मन की वृत्तियाँ ही हैं। जब मन नहीं रहा तो इनका अस्तित्व भी नहीं रहता।

## सूत्र १५

**येन विश्वमिदं दृष्टं स नास्तीति करोतु वै।**
**निर्वासनः किं कुरुते पश्यन्नपि न पश्यति ।।**

*अनुवाद :— "जिसने जगत् को देखा है वह भला उसे इन्कार भी करे, लेकिन वासनारहित पुरुष को क्या करना है। वह देखता हुआ भी नहीं देखता है।"*

*व्याख्या* :— जगत् को स्वीकार करने वाला, उसी को सत्य समझने वाला तो वासनाग्रस्त है ही क्योंकि जिस प्रकार की उसकी रुचि संसार में है, जिस दृष्टि से वह संसार को देखता है वह सब वासना ही के कारण देखता है। कभी-कभी शास्त्रों के वचनों को सुनकर उसकी मोक्ष प्राप्ति की वासना जाग उठती है जिससे वह भी ज्ञानियों की भाँति कहने लगता है संसार माया है, भ्रम है, असत्य है, संसार है ही नहीं, यह रस्सी में साँप की भ्रान्ति के समान है। किन्तु उसने ऐसा जाना नहीं जैसा ज्ञानी ने जाना है। इसलिए उसका संसार

को इन्कार करना भी झूठ है, पाखंड है, वासनामात्र ही है क्योंकि मोक्ष की वासनापूर्ति हेतु वह इसे इन्कार कर रहा है, संसार से भाग रहा है, हिमालय जा रहा है। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि ज्ञानी इससे भिन्न स्थिति वाला है क्योंकि वह वासनारहित हो चुका है वह इस संसार को देखता हुआ भी नहीं देखता है क्योंकि उसे वह निर्मूल्य ज्ञात नहीं होने लगा है। वह नित्य आत्मा को ही सर्वत्र देखता है, संसार को नहीं।

## सूत्र १६

**येन दृष्टं परं ब्रह्म सोऽहं ब्रह्मेति चिन्तयेत्।**
**किं चिन्तयेत् निश्चिन्तो द्वितीयं यो न पश्यति ।।**

*अनुवाद :— "जिसने पर-ब्रह्म को देखा है वह भला 'मैं ब्रह्म हूँ' का चिन्तन भी करे, लेकिन जो निश्चिन्त होकर दूसरा कोई नहीं देखता वह क्या चिन्तन करे। "*

*व्याख्या :—* चिन्तन दो के बिना नहीं होता, एक चिन्तन करने वाला तथा दूसरा जिसका चिन्तन किया जाता है, अर्थात् उसमें जीवन और ब्रह्म दोनों भिन्न-भिन्न होने पर ही चिन्तन संभव है। अज्ञानी ही अपने को उस पर-ब्रह्म से भिन्न जीव-मात्र समझता है इसलिए वह उस ब्रह्म का चिन्तन करता है क्योंकि उसने ब्रह्म को देखा है तो देखने वाला उस ब्रह्म से भिन्न है तभी वह देखता है। यह स्थिति पूर्ण ज्ञान से पूर्व की है जिसमें मन को उस ब्रह्म का आभास मात्र होता है। इसमें द्वैत बना रहता है। इस स्थिति में वह 'मैं ब्रह्म हूँ' का चिन्तन भी करता है किन्तु उसमें 'मैं' और 'ब्रह्म' दोनों की उपस्थिति रहती है। पूर्ण ज्ञान की अवस्था में यह 'मैं' जो अहंकारमात्र है मिट जाता है तब केवल ब्रह्म ही शेष रह जाता है। अष्टावक्र कहते हैं कि पूर्ण ज्ञान की स्थिति में जीव और ब्रह्म का भेद ही मिट जाता है, दोनों एक हो जाते हैं, अहंकार के कारण ही 'मैं' का 'ब्रह्म' से भिन्न अस्तित्व ज्ञात हो रहा था वह मिट जाता है तो सर्वत्र एक ही ब्रह्म की अनुभूति होती है फिर कौन किसका चिन्तन करे। ज्ञान की

**यही चरम स्थिति अद्वैत की है जिसका अनुभव कुछ ही उच्च कोटि के ज्ञानियों को हुआ है। जिन्होंने अहंकार बचा लिया उन्हें 'मैं' से भिन्न 'ब्रह्म' की अनुभूति हुई।**

## सूत्र १७

**दृष्टो येनात्मविक्षेपो निरोधं कुरुते त्वसौ।**
**उदारस्तु न विक्षिप्तः साध्याभावात्करोति किम्॥**

*अनुवाद :— "जो आत्मा में विक्षेप देखता है वह भला चित्त का निरोध करे, लेकिन विक्षेपमुक्त उदार पुरुष साध्य के अभाव में क्या करे।"*

***व्याख्या :***— **हर प्राणी के भीतर जो चेतना है वही उसकी आत्मा है। इस चेतना-शक्ति के कारण ही मन, शरीर, इन्द्रियाँ आदि सक्रिय होती हैं। अपने-अपने गुण-धर्म के अनुसार कार्य करती हैं। यही चेतना-शक्ति आत्मा है, यही ब्रह्म है, यही ईश्वर व परमात्मा है। किन्तु यह आत्मा सूक्ष्म है, एवं शक्ति-स्वरूपा है इसलिए इसका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता। चित्त में वासनाएँ हैं जिनसे विभिन्न प्रकार के विचारों की तरंगें उठती हैं। इन तरंगों के कारण आत्मा का अनुभव प्रत्यक्ष रूप से सभी को नहीं होता। चित्त में विभिन्न प्रकार की वृत्तियाँ हैं जिनसे आत्मा का बिंब स्पष्ट नहीं दिखाई देता। योग का सिद्धान्त है कि यदि इन चित्त की वृत्तियों का निरोध कर दिया जाय तो आत्मा का अनुभव हो सकता है इसलिए योगी आत्म-ज्ञान के लिए इनका निरोध करते हैं। यह निरोध साधना की अवस्था है। अष्टावक्र कहते हैं कि चित्त का निरोध तभी किया जाता है जब कि आत्मा में विक्षेप दिखाई दे किन्तु जिस पुरुष को आत्म-ज्ञान हो चुका है, जिसका चित्त शान्त एवं विक्षेपरहित हो गया है, जिसमें साध्य अर्थात् चित्त का ही अभाव हो गया है वह भला क्या करे। तात्पर्य है कि आत्म-ज्ञान की स्थिति में केवल आत्मा ही शेष रहती है, चित्त, मन, शरीर, संसार आदि के विक्षेप ही समाप्त हो जाते हैं। फिर किसका निरोध किया जाय। चित्त आत्मा का विक्षेप ही है। जब**

तक चित्त है तब तक उसका निरोध करने को कहा जाता है। उसमें साधन, साध्य और साधक तीन रहते हैं। ज्ञान उपलब्ध होने पर चित्त न रहने पर साधना व्यर्थ हो जाती है।

## सूत्र १८

**धीरो लोकविपर्यस्मो वर्तमानोऽपि लोकवत्।**
**न समाधिं न विक्षेपं न लेपं स्वस्य पश्यति ।।**

*अनुवाद :— "जो संसार की तरह बरतता हुआ भी संसार से भिन्न है। वह धीर पुरुष न अपनी समाधि को, न विक्षेप को और न बन्धन को ही देखता है।"*

*व्याख्या :—* ज्ञानी और अज्ञानी में बाहर कोई अन्तर नहीं दिखाई देता किन्तु भीतर के तल पर बड़ा अन्तर हो जाता है। अज्ञानी के कार्य मन, बुद्धि, अहंकार एवं वासना-तृप्ति के लिए ही होते हैं। वह शरीर-पोषण में ही केन्द्रित रहता है। वह केवल आत्मा का ही भोग करता है। ज्ञानी भी खाता-पीता है तथा अज्ञानी की भांति ही सभी बाह्य कर्म करता है किन्तु भीतर जगा हुआ रहता है। अज्ञानी भी कर्म करता है किन्तु भीतर से सोता रहता है। आत्म-ज्ञान को प्राप्त होकर कबीर कपड़ा बुनता रहा, रैदास जूते सीता रहा, सेन नाई बाल काटता रहा, बाह्य कर्मों में कोई अन्तर नहीं आया। अष्टावक्र कहते हैं कि आत्म-ज्ञानी संसार की तरह बरतता हुआ भी संसार से भिन्न है। यह भिन्नता भीतरी है, बोध की है। ऐसा ज्ञानी धीर पुरुष मुक्त है। वह समाधि, विक्षेप और बन्धनों को भी नहीं देखता है क्योंकि वह इन सबसे मुक्त है।

## सूत्र १९

**भावाभावविहीनो यस्तृप्तो निर्वासनो बुधः।**
**नैव किञ्चित् कृतं तेन लोकदृष्ट्या विकुर्वता ।।**

*अनुवाद :—* *"जो ज्ञानी पुरुष तृप्त है, भाव-अभाव से रहित है, वासना-रहित है वह लोक-दृष्टि से कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता है।"*

***व्याख्या :—*** **अहंकारवश कर्म करने वाला ही कर्त्ता है। जिसका कोई अहंकार नहीं, जिसकी कोई वासना नहीं, जिसकी कोई फलाकाँक्षा नहीं, कर्म करके भी कोई अपेक्षा नहीं रखता, जो भाव और अभाव की चिन्ता से रहित है, ऐसा व्यक्ति कर्त्ता नहीं है। वह संसार में कर्म करता हुआ भी उनसे सदा अलिप्त रहता है क्योंकि उन कर्मों से प्राप्त फलों को वह क्षणिक एवं असत्य समझता है। उसे जब शाश्वत सुख व आनन्द की प्राप्ति हो गई है, वह अपनी आत्मानन्द में तृप्त है इसलिए वह इन अनित्य भोगों के प्रति उदासीन हो जाता है किन्तु संसार की भाँति वह भी कर्म करता रहता है किन्तु भीतर अछूता रहता है इसलिए वह कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता है।**

## सूत्र २०

**प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा नैव धीरस्य दुर्ग्रहः।**
**यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वा तिष्ठतः सुखम्।।**

*अनुवाद :—* *"धीर पुरुष प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति में दुराग्रह नहीं रखता। वह जब कभी भी कुछ करने को आ पड़ता है उसको करके सुखपूर्वक रहता है।"*

***व्याख्या :—*** **ज्ञानी पुरुष कर्त्तव्यादि अभिमान से रहित हो जाता है इसलिए उसका न प्रवृत्ति में आग्रह होता है कि यह मैं अवश्य करूंगा, न निवृत्ति में कि यह नहीं करूंगा। शपथें खा-खा कर किसी को छोड़ता भी नहीं। उसके सभी आग्रह एवं संकल्प समाप्त हो जाते हैं। वह अनाग्रहपूर्वक जो स्वाभाविक है, कर लेता है। यदि कार्य उस पर आ पड़ता है तो वह उसे करके सुखपूर्वक रहता है। आग्रह और संकल्प, प्रवृत्ति तथा निवृत्ति, ग्रहण और त्याग भी यदि**

अहंकारवश किये जाते हैं तो बन्धन है। स्वाभाविक रूप से करना ज्ञानी के लिए भी अपेक्षित है। ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मों में यही भीतरी अन्तर है। बाह्य अन्तर नहीं होता। कोई व्यक्ति पानी में डूब रहा है तो ज्ञानी भी उसे बचायगा व अज्ञानी भी। दोनों के कार्य में कोई भिन्नता नहीं होगी किन्तु अज्ञानी भागेगा पुरस्कार पाने, कि कहीं राष्ट्रपति-पदक मिल जाय कि अपनी जान जोखिम में डाल कर उसने किसी के प्राण बचाये, अखबारों में खबर छप जाये, फोटो छप जाय, किन्तु ज्ञानी अपना कर्तव्य निभा कर चुपचाप विदा हो जाता है, धन्यवाद लेने की भी अपेक्षा नहीं रखता, वह नहीं कहता कि मैंने तुम्हारे साथ इतना उपकार किया, तुमने धन्यवाद भी नहीं दिया, बड़े दुष्ट हो, मैं नहीं बचाता तो तुम मर जाते। यही भीतरी अन्तर है दोनों में। एक ओर ऐसे मूढ़ भी हैं जो चुपचाप देखते रहते हैं व कहते हैं कौन किसे बचाता है, वह अपने कर्मों का फल भोग रहा है, भोग लेने दो। तुमने बचाया तो वह कर्मों का फल नहीं भोग सकेगा जिसका पाप तुमको लगेगा। यदि बच कर उसने किसी की हत्या कर दी तो उसका पाप तुम्हें ही लगेगा। इसी प्रकार कुछ मूढ़ दान देने में भी ऐसा हिसाब लगाते हैं कि क्या पता इससे वह शराब पीयेगा या जुआ खेलेगा तो पाप तुम्हें भी लगेगा। ऐसी मूढ़ मान्यताएँ कई अज्ञानी बना लेते हैं। अहंकाररहित एवं स्वाभाविक रूप से फलाकांक्षारहित होकर किया गया कर्म ही मुक्त करता है जो स्वभाव से होता है।

## सूत्र २१

**निर्वासनो निरालम्बः स्वच्छन्दो मुक्तबन्धनः।**
**क्षिप्तः संसारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत्॥**

*अनुवाद :— "ज्ञानी पुरुष वासनारहित, आलम्बन-रहित, स्वच्छन्द और बन्धन-रहित संसार रूपी वायु से प्रेरित होकर शुष्क पत्ते की भाँति व्यवहार करता है।"*

*व्याख्या :—* जो ज्ञान को उपलब्ध हो गया, जिसने वास्तविक

स्वरूप को पहचान लिया, जिसे सम्पूर्ण सृष्टि आत्मवत् ज्ञात होने लग गई वह वासनारहित हो जाता है, संसार एवं मोक्ष-प्राप्ति की वासना भी नहीं रहती इसलिए वह किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता, वह आलम्बन-रहित हो जाता है। सहारा असहाय को ही चाहिए, ज्ञानी असहाय नहीं रहता। वह स्वच्छन्द होता है, किसी के दबाव में आकर कोई कार्य नहीं करता बल्कि अपने विवेक से करता है। अपेक्षा-रहित व्यक्ति ही स्वच्छन्द हो सकता है जिसकी जिससे अपेक्षा है वह उसी से बँध जाता है। घर, गृहस्थी, धन, पद-प्रतिष्ठा से अपेक्षाएँ हैं जिससे व्यक्ति इनसे अपने आप बँधता है। ये बाँधते नहीं। यदि सभी अपेक्षाएँ छोड़ दी जायें तो वह स्वच्छन्द हो सकता है, बन्धन-रहित हो सकता है। अष्टावक्र कहते हैं कि ऐसा ज्ञानी संसाररूपी वायु से प्रेरित होकर शुष्क पत्ते की भाँति व्यवहार करता है। जैसे सूखे पत्ते की कोई इच्छा, वासना, मर्जी नहीं होती, जिधर हवा ले जाय उधर ही चला जाता है उसी प्रकार ज्ञानी भी अपने आग्रह का त्याग करके प्रकृति रूपी वायु से प्रेरित होकर कार्य करता है।

## सूत्र २२

**असंसारस्य तु क्वापि न हर्षो न विषादता।**
**स शीतलमना नित्यं विदेह इव राजते।।**

*अनुवाद :— "संसार मुक्त पुरुष को न तो कभी हर्ष होता है न विषाद। वह शांतमना सदा विदेह (मुक्त) की भाँति शोभता है।"*

***व्याख्या :***— मनुष्य का संसार बाहर नहीं है। उसकी भीतरी वासनाएँ, कामनाएँ, इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, अपेक्षाएँ ही उसका संसार हैं। इन्हीं से वह बाहरी संसार को देखता है तथा इन्हीं के कारण उसे हर्ष-विषाद का अनुभव होता है। यदि यह भीतर का संसार खो जाये तो वह शांतमना होकर विदेह की भाँति शोभायमान होता है। ऐसा ज्ञानी ही संसारमुक्त कहलाता है।

# सूत्र २३

**कुत्रापि न जिहासाऽस्ति आशा वाऽपि न कुत्रचित् ।**
**आत्मारामस्य धीरस्य शीतलाच्छतरात्मनः ।।**

*अनुवाद :— "आत्मा में रमण करने वाले और शीतल तथा निर्मल चित्त वाले धीर पुरुष की न कहीं त्याग की इच्छा है न कहीं ग्रहण की आशा है।"*

***व्याख्या :*— अज्ञानी धन, पद, स्त्री, पुत्रादि, यश, मान-सम्मान, पद, प्रतिष्ठा आदि में रमण करता है। इन्हीं में वह सुख, आनन्द की अनुभूति करता है। किन्तु यह सुख दूसरों से मिलने वाला सुख है जिसे दूसरे जब चाहें छीन भी सकते हैं क्योंकि दूसरों का कोई भरोसा नहीं। जिस प्रकार व्यक्ति दूसरों से सुख पाना चाहता है वैसे ही दूसरे उससे सुख पाना चाहते हैं किन्तु देना कोई नहीं चाहता इसीलिए संघर्ष शुरू होता है, छीना-झपटी आरंभ होती है जिससे दुःख व क्लेश ही होता है। दूसरों के द्वारा दिये गये सुख पर आधारित होना ही गुलामी है। व्यक्ति सुख की चाह में उससे बँध जाता है। इसलिए ज्ञानी ऐसे सुख को असत्य एवं बन्धन कहते हैं जो छीना जा सकता है। थोड़े से सुखों के कारण मनुष्य अपने को दूसरों के हाथों बेच दे इससे अधिक मानवता का क्या अपमान हो सकता है। इसलिए ज्ञानी पुरुष इच्छा मात्र का ही त्याग कर देता है, न त्याग की इच्छा करता है न ग्रहण की। वह केवल अपनी आत्मा में रमण करता हुआ निर्मल चित्त वाला होकर शाश्वत सुख का उपभोग करता है।**

# सूत्र २४

**प्रकृत्या शून्यचित्तस्य कुर्वतोऽस्य यदृच्छया ।**
**प्राकृतस्येव धीरस्य न मानो नावमानता ।।**

*अनुवाद :— "स्वाभाविक रूप से जो शून्यचित्त है और सहज रूप से जो कर्म करता है, उस धीर पुरुष को सामान्य जन की तरह न मान है और न अपमान है।"*

**_व्याख्या :—_ मान और अपमान की भावना अहंकार के कारण होती है। जिसका अहंकार जितना अधिक होगा मान-अपमान की भावना उसमें उतनी ही तीव्र होगी। छोटे व्यक्तियों में अहंकार तीव्र होता है इसलिए उनके सामने हर समय मान-अपमान का प्रश्न बना रहता है किन्तु ज्ञानी शून्यचित्त वाला होता है इसलिए वह सभी कर्म सहज स्वभाव से करता है। उसके कोई भी कार्य मान-अपमान की दृष्टि से नहीं होते क्योंकि वह न प्रशंसा व पुरस्कार का आकांक्षी होता है न अपमान से प्रभावित होता है। उसके कर्म बच्चों की भाँति निर्दोष होते हैं।**

# सूत्र २५

**कृतं देहेन कर्मेदं न मया शुद्धरूपिणा।**
**इति चिन्तानुरोधी यः कुर्वन्नपि करोति न।।**

*अनुवाद :— "यह कर्म शरीर से किया गया है, मुझ शुद्ध स्वरूप द्वारा नहीं। ऐसी चिन्तना का जो अनुगमन करता है वह कर्म करता हुआ भी नहीं करता है।"*

**_व्याख्या :—_ आत्म-ज्ञानी भी सभी प्रकार के कर्म करता है जो अज्ञानी करता है किन्तु अज्ञानी अहंकारी होने के कारण सभी अच्छे-बुरे कर्मों का भार अपने ऊपर ले लेता है कि यह मैंने किया है, वह स्वयं को कर्त्ता मानता है जिससे कर्म के फल का भोक्ता भी बन जाता है। वह फलाकांक्षा के बिना कोई कर्म करना जानता ही नहीं किन्तु ज्ञानी अपने को शरीर एवं मन से पार आत्मा जान लेता है। आत्मा न कर्त्ता है न भोक्ता। समस्त कर्म शरीर व मन से किये जाते हैं किन्तु वह आत्म-स्वरूप होने से सभी कर्मों का साक्षी मात्र रह जाता है कि ये कर्म शरीर द्वारा किये गये हैं मुझ आत्मा द्वारा**

**नहीं। ऐसा व्यक्ति कर्म करता हुआ भी उनसे अलिप्त रहता है। उनका फल उसे नहीं भोगना पड़ता। यदि अज्ञानी बुरे कर्म करके यह कहे कि ये शरीर ने किये हैं, मुझ आत्मा ने नहीं किये हैं तो भी वह फल का भोक्ता होगा ही क्योंकि उसमें वासना, अहंकार विद्यमान है इसके विपरीत ज्ञानी से अहंकार एवं वासना के कारण कोई कर्म नहीं होता है इसलिए वह फल का भोक्ता नहीं होता। उसके सारे कर्म स्वभाव से ही होते हैं।**

# सूत्र २६

**अतद्वादीव कुरुते न भवेदपि वालिशः।**
**जीवन्मुक्तः सुखी श्रीमान् संसरन्नपि शोभते।।**

*अनुवाद :— "जीवन्मुक्त, उस सामान्य जन की तरह कर्म करता है, जो कहता कुछ और है और करता कुछ और है तो वह मूढ़ नहीं होता है और वह सुखी श्रीमान् संसार में रहकर भी शोभायमान होता है।"*

***व्याख्या :—*** **ज्ञानी की पहचान ज्ञान से होती है, कर्म से नहीं, मुक्ति भी ज्ञान से ही होती है, कर्म करके कोई मुक्त नहीं हो सकता। सभी कर्मों का आधार शरीर, मन एवं अहंकार है जिनके रहते समस्त कर्म बन्धन ही हैं किन्तु ज्ञानी आत्मा में जीता है जिससे उसके समस्त कर्म नाटकवत् तथा स्वभाव से होते हैं। वह उनमें लिप्त नहीं होता। इसलिए ज्ञानी की पहचान उसके वचनों से होती है कि वह क्या कहता है। उसके वचन ही सत्य होते हैं किन्तु उसके कर्म उनसे भिन्न भी हो सकते हैं। ज्ञानी सामान्य जन की ही भाँति खाता-पीता है, व्यवहार करता है किन्तु वह असामान्य है। इसके विपरीत अज्ञानी असामान्य कार्य करता है हुआ भी सामान्य ही है। गिद्ध बहुत ऊँचा उड़ता है किन्तु उसकी निगाह मुर्दे पर ही होती है, बगुला भी एक टाँग पर खड़ा होकर बड़ी तपस्या करता है किन्तु निगाह उसकी मछली पर ही होती है। इसी प्रकार अज्ञानी के कर्म उच्च होते हुए भी दृष्टि क्षुद्र वासनाओं पर ही रहती है। इसलिए**

अष्टावक्र कहते हैं कि ज्ञानी और अज्ञानी के कहने और करने में अन्तर होता है। ज्ञानी विवेक में जीता है, सत्य में जीता है, सृष्टि के एकात्मक भाव में जीता है एवं सामान्य जन अहंकार एवं वासना में, क्षुद्र स्वार्थों में जीता है। यही भीतरी अन्तर होता है। अज्ञानी के कर्म मूढ़तापूर्ण होते हैं, ज्ञानी मूढ़ नहीं होता इसलिए वह संसार में रहकर भी सुखपूर्वक जीता है, शोभायमान होता है। अज्ञानी भी संसार में रहता है किन्तु दुःखी रहता है। ज्ञानी की पहचान ज्ञान से होती है, कर्म से नहीं। अज्ञानी को कर्म से पहचाना जाता है क्योंकि वह कर्म में जीता है ज्ञान में नहीं। ज्ञानी ज्ञान में जीता है, कर्म में नहीं।

# सूत्र २७

**नानाविचारसुश्रान्तो धीरो विश्रान्तिमागतः।**
**न कल्पते न जानाति न श्रृणोति न पश्यति ।।**

*अनुवाद :— "जो धीर पुरुष अनेक प्रकार के विचारों से थककर शांति को उपलब्ध होता है वह न कल्पना करता है, न जानता है, न सुनता है, न देखता है।"*

*व्याख्या :—* अज्ञानी संसार के भोगों को भोगता है। जब वह शरीर और इन्द्रियों के भोगों से तृप्त हो जाता है, जब उसे उसमें सार नहीं दिखाई देता, जब उसे उनमें रस नहीं आता तब सन्यास का जन्म होता है। सन्यास संसार के अनुभवों का सार, निचोड़ है, उनकी निष्पत्ति है। ऐसा सन्यास ही वास्तविक है। संसार के अनुभवों को प्राप्त किये बिना जो सन्यास लेता है वह थोपा हुआ है, कच्चा है, कभी डगमगा सकता है, सन्यास लिया नहीं जाता, होता है। यह कार्य नहीं है, अनुभूति है, उत्कृष्ट जीवन की ओर बढ़ा हुआ एक कदम है। ऐसा सन्यासी ही आत्म-ज्ञान का अधिकारी है एवं वही शान्ति को प्राप्त होता है। इसी प्रकार बुद्धिजीवी अनेक प्रकार के विचारों में उलझा रहता है। वह संसार, कर्म, भोग, अध्यात्म, ईश्वर, परमात्मा, आत्मा आदि अनेक विषयों का अध्ययन, चिन्तन एवं मनन करता है, अनेक शास्त्र पढ़ता है, सत्संग करता है ज्ञान

गोष्ठियाँ करता है, सिद्ध महात्माओं के पास जाकर विचार-विमर्श करता है किन्तु इनसे उसे शांति नहीं मिलती। वह इन विचारों में अधिक से अधिक उलझता जाता है। इनसे उसे सत्य प्राप्त नहीं होता क्योंकि सत्य तो एक ही है, असत्य अनेक हैं। हर व्यक्ति के अपने-अपने असत्य हैं, असत्य सब निजी हैं, व्यक्तिगत हैं। सत्य सबका एक ही है। यह किसी की बपौती नहीं है न इसका कोई दावेदार है। इसलिए सत्य के सम्प्रदाय नहीं बनते, सभी सम्प्रदाय असत्य के ही हैं। सम्प्रदायों का आधार ही असत्य, दावेदारी, अहंकार, संकीर्णता, स्वार्थ है। जहाँ सम्प्रदाय हैं वहाँ सत्य नहीं है, सम्प्रदायों में सत्य नहीं होता, जहाँ सत्य है वहाँ सम्प्रदाय नहीं होते। इसलिए अष्टावक्र का सम्प्रदाय नहीं बन सका। सत्य चौबीस केरट का स्वर्ण है तो सम्प्रदायों में यह स्वर्ण अठारह केरट ही रह जाता है। आजकल के सम्प्रदाय तो चौदह केरट वाले ही हैं। इतनी मिलावट हो गई है। सत्य में हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, सिख, स्त्री, पुरुष, वेद, कुरान, धम्मपद, गीता का भेद होता ही नहीं। भेद मात्र असत्य है। अभेद ही सत्य है। सभी विचारक, चिन्तक इस सम्पूर्ण रहस्य को विचारों से समझना चाहते हैं किन्तु इनसे उसे ज्ञान उपलब्ध नहीं होता, एवं आत्म-ज्ञान के बिना शांति नहीं मिलती। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं जो इन विचारों से थक कर जो शांति को उपलब्ध होता है वही विचारों से मुक्त हो सकता है एवं उसी को आत्म-ज्ञान का फल मिलता है। यह मूढ़ को भी उपलब्ध नहीं होता जिसने कभी कोई विचार किया ही नहीं। इसलिए जिसने संसार को भोगा है तथा जो चिन्तन की पराकाष्ठा पर पहुँचा है उसी को आत्म-ज्ञान का फल मिलता है। जिसने संसार को ही नहीं जाना वह परमात्मा को क्या जान सकेगा, जो संसार को दुःख समझकर सदा रोता रहा है वह परमात्मा को पाकर कैसे आनन्दित हो सकेगा। उसकी आदत तो रोने की ही है। इसलिए वहाँ भी रोयेगा ही। ज्ञानी पुरुष पूर्ण शांति का अनुभव करते हैं। वे एक आत्मा में स्थित हो जाने से अन्य की न कल्पना करते हैं, न जानते हैं, न सुनते हैं, न देखते हैं। सर्वत्र उसी आत्मा को ही जानते हैं।

— x —

# सूत्र २८

**असमाधेरविक्षेपान्न मुमुक्षुर्न चेतरः ।**
**निश्चित्य कल्पितं पश्यन् ब्रह्मैवास्ते महाशयः ।।**

*अनुवाद :— "महाशय पुरुष विक्षेप-रहित और समाधि-रहित होने के कारण न मुमुक्षु है, न गैर-मुमुक्षु होता है। वह निश्चियपूर्वक संसार को कल्पित देख ब्रह्मवत् रहता है। "*

***व्याख्या :—*** **चित्त की वृत्तियों से ही विक्षेप उत्पन्न होते हैं। ये ही विक्षेप अशांति का कारण होते हैं। चित्त की इन वृत्तियों को शांत करने के लिए समाधि का अनुष्ठान किया जाता है। ज्ञान-प्राप्ति का मुमुक्षु ही चित्त की वृत्तियों के निरोध हेतु समाधि का सहारा लेता है किन्तु ज्ञानी की समस्त चित्त वृत्तियाँ शान्त हो जाने से वह विक्षेप-रहित है, उसे समाधि की आवश्यकता ही नहीं है। ऐसा ज्ञानी मुमुक्षु भी नहीं है न गैर-मुमुक्षु ही है क्योंकि उसने वह सब पा लिया है जिसे पाने के लिए ये साधन किये जाते हैं। वह संसार को कल्पित देखता हुआ सदा ब्रह्मवत् रहता है।**

# सूत्र २९

**यस्यान्तः स्यादहंकारो न करोति करोति सः ।**
**निरहंकारधीरेण न किञ्चिचदकृतं कृतम् ।।**

*अनुवाद :— "जिसके अन्तःकरण में अहंकार है वह कर्म नहीं करते हुए भी कर्म करता है और अहंकार-रहित धीर पुरुष कर्म करते हुए भी नहीं करता है। "*

***व्याख्या :—*** **अहंकार ही मूल पाप है। इसी से मनुष्य अपने को परमात्मा से भिन्न मानता है। इसी से उसमें कर्त्तापन का भाव होता है। इसी कर्त्तापन के कारण वह कर्म-फलों का भोक्ता होता है। यदि अहंकार मिट जाये तो वह कर्त्तापन से मुक्त हो जाता है, फिर**

वह सभी कर्मों को ईश्वरीय समझकर करेगा, अपने को निमित्त मात्र समझेगा। आत्म-ज्ञानी ही ऐसा समझता है कि ये कर्म शरीर द्वारा किये जा रहे हैं, मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं हूँ इसलिए ये कर्म मुझसे नहीं हो रहे हैं। ऐसा ज्ञानी अहंकाररहित होने से कर्म करता हुआ भी नहीं करता है। वह उनके कर्मों का भोक्ता भी नहीं होता। इसके विपरीत अज्ञानी कर्म नहीं करता हुआ भी कर्म करता है क्योंकि शरीर से किये जाने वाले कर्मों को रोक कर भी उसके विचार तो चलते ही रहते हैं, योजना मन में बनती ही रहती है, सद्-असद् वृत्तियाँ तो विद्यमान हैं ही तथा अहंकार मौजूद है जिससे उसके ये विचार व भावनाएँ ही बन्धन बन जाती हैं। कर्म नहीं करने से उनका रेचन भी नहीं होता। इसलिए वह चौबीस घंटे कर्म नहीं करता हुआ भी कर्म करता है। मुक्ति के लिए कर्म छोड़ना नहीं है बल्कि अहंकार छोड़ना है, कर्त्तापन छोड़ना है।

# सूत्र ३०

**नोद्विग्नं न च संतुष्टकर्तृस्पन्दवर्जितम्।**
**निराशं गतसंदेहं चित्तं मुक्तस्य राजते।।**

*अनुवाद :— "मुक्त पुरुष का उद्वेग-रहित, संतोष-रहित, कर्तव्य-रहित, स्पंद-रहित, आशा-रहित, सन्देह-रहित चित्त ही शोभायमान है।"*

*व्याख्या :—* मुक्त पुरुष का चित्त पूर्णतः शांत हो जाता है, सभी प्रकार के द्वन्द्वों से रहित हो जाता है जिससे वह उद्वेग-रहित, संतोष-रहित, कर्तव्य-रहित, आशा-रहित और सन्देह-रहित हो जाता है। अब उसके सारे कार्य निश्चित, विवेकपूर्ण एवं स्वभावानुकूल होते हैं। अहंकार एवं चित्त की वृत्तियों के आवेश में आकर कोई कर्म नहीं करता। वह सभी कार्य करता हुआ भी अलिप्त, अछूता रहता है। ऐसा ज्ञानी ही शोभायमान होता है।

— × —

# सूत्र ३१

**निर्ध्यातुं चेष्टितुं वापि यच्चितं न प्रवर्तते।**
**निर्निमित्तमिदं किन्तु निर्ध्यायति विचेष्टते ।।**

*अनुवाद :— "मुक्त पुरुष का चित्त ध्यान या चेष्टा में प्रवृत्त नहीं होता है। लेकिन वह निमित्त या हेतु के बिना ध्यान करता है और कर्म करता है।"*

*व्याख्या :—* करने का भाव मात्र अहंकार है। अहंकार ही पहले उद्देश्य निश्चित करता है, फिर कर्म में प्रवृत्त होता है। अहंकार निरुद्देश्य कर्म कर ही नहीं सकता। उसे फल चाहिए जिससे उसकी वासना की तृप्ति हो सके। बिना फल की आकांक्षा के किया गया कर्म वह निरर्थक मानता है, उसका उसके लिए कोई मूल्य ही नहीं है। वह कहता है जिस कर्म से पैसा न मिले, सुख न मिले, आनन्द न मिले वह भी कोई कर्म है। समय बर्बाद करना है। वह जीवन का मूल्य ही पैसे में, मान-सम्मान, प्रतिष्ठा में आँकता है। यह मिल गया तो जीवन धन्य हो गया। मरने पर यदि शव-यात्रा में हजार आदमी शामिल हो गये तो जीवन सफल। यदि अकेला मर गया तो कहता है वह कुत्ते की मौत मरा। यदि पाँच हजार आदमियों का मृत्यु-भोज हो गया तो कहते हैं स्वर्ग गया अन्यथा कहता है वह शमशान में लौट रहा है। अज्ञानी ने अपने मूल्य बना लिये हैं वह सबको इन्हीं मूल्यों से आंकता है। इसी प्रकार अज्ञानी सब कुछ चेष्टा से ही प्राप्त करना चाहता है। चेष्टा मात्र अहंकार के कारण होती है जिसके पीछे उद्देश्य होता है। वह किसी निमित्त को ध्यान में रखकर ही चेष्टा करता है, बिना हेतु अथवा निमित्त में ध्यान भी नहीं करता किन्तु ज्ञानी पुरुष का चित्त किसी ध्यान या चेष्टा में प्रवृत्त नहीं होता। क्योंकि उसे फल-प्राप्ति की कोई इच्छा नहीं है। वह ध्यान भी करता है या कर्म भी करता है तो चेष्टा-रहित, श्रम-रहित, बिना किसी निमित्त या हेतु के स्वभाव से करता है।

— ० —

# सूत्र ३२

**तत्वं यथार्थमाकर्ण्य मन्दः प्राप्नोति मूढ़ताम् ।**
**अथवाऽऽयाति सङ्कोचममूढ़ः कोऽपि मूढ़वत् ।।**

*अनुवाद :—* "मन्द बुद्धि यथार्थत्व को सुनकर मूढ़ता को ही प्राप्त होता है। लेकिन कोई ज्ञानी मूढ़वत् होकर संकोच या समाधि को प्राप्त होता है। "

*व्याख्या :—* मन्द बुद्धि वह है जो केवल क्षुद्र वासनाओं से ही ग्रस्त है, जिसको अपने निजी स्वार्थों के अलावा कुछ दिखाई नहीं देता, जो केवल शरीर-पोषण में ही लगा रहता है, जो इन्द्रिय-भोगों के अतिरिक्त किसी में रुचि नहीं लेता, ऐसे संकीर्ण मनोवृत्ति वाले को यदि यथार्थत्व का बोध कराया जाय तो वह उसे सुनकर मूढ़ता को ही प्राप्त होता है। यह तत्व-बोध अति सूक्ष्म का विवेचन है जिसे स्थूल बुद्धि वाला कैसे समझ सकता है। जिसका चित्त वासना ग्रस्त है, अहंकार युक्त है, तृष्णा, कामना वाला है वह इस तत्व-बोध को पाकर भी इसे विकृत कर देगा जैसे जहर में अमृत मिलाने पर वह अमृत भी जहर हो जाता है। किन्तु इसके विपरीत ज्ञानी मूढ़वत् दिखाई देने पर भी रह स्व-चेतना को पहचान कर समाधि को उपलब्ध हो जाता है। ज्ञानी बाहर मूढ़वत् व्यवहार इसलिए करता है कि उसके कार्य में बाधा उपस्थित न हो तथा अपनी अनुभूति को सही रूप से वह प्रकट कर नहीं सकता, न उसे करना ही चाहिए क्योंकि इस ज्ञान-प्रदर्शन से भी अहंकार बढ़ता है।

# सूत्र ३३

**एकाग्रता निरोधो वा मूढैरभ्यस्यते भृशम् ।**
**धीराः कृत्यं न पश्यन्ति सुप्तवत्स्वपदे स्थिताः ।।**

*अनुवाद :—* "अज्ञानी चित्त की एकाग्रता अथवा निरोध का बहुत अभ्यास करता है लेकिन धीर पुरुष सोये हुए व्यक्ति की

*तरह अपने स्वभाव में स्थित रह कर कुछ करने योग्य नहीं देखता है।"*

*व्याख्या :—* आत्म-ज्ञान के लिए करना कुछ नहीं पड़ता। करके आज तक कोई आत्म-ज्ञान को उपलब्ध नहीं हुआ। बुद्ध ने छः वर्ष खूब किया किन्तु मिला कुछ नहीं किन्तु जब सब करना छोड़ा तब मिला। मिलने में समय भी नहीं लगता। एक क्षण में मिलता है जैसे जनक को मिला, बुद्ध को मिला, अन्य सब को इसी भाँति मिला। करने से मिलता है यही सबसे बड़ी भ्रान्ति है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए करना कुछ नहीं पड़ता, केवल जागकर देखना मात्र है, सजगता एवं बोध-मात्र पर्याप्त है। जिसे खोया नहीं उसे ढूंढना कैसा, जो भीतर मौजूद है उसकी तलाश कैसी, जो हमारा स्वभाव है उसके लिए क्या प्रयत्न करना। किन्तु सारा प्रयत्न होता है अन्तःकरण की शुद्धि के लिए। जब तक चित्त निर्मल नहीं होगा आत्मा का आभास नहीं हो सकता। इसलिए अज्ञानी जन चित्त की एकाग्रता के लिए अथवा चित्त वृत्तियों के निरोध के लिए विभिन्न साधनाएँ करते हैं, उनका बार-बार अभ्यास करते हैं क्योंकि मन बड़ा चंचल है, बार-बार पकड़ कर ठिकाने लाते हैं किन्तु वासनाग्रस्त होने से वह बार-बार विषयों की ओर भाग जाता है। विषयों की ओर भागने से उसे रोक देने में ही समय लगता है। इसके बाद कोई समय नहीं लगता। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि अज्ञानी चित्त की एकाग्रता अथवा निरोध के लिए बहुत-बहुत अभ्यास करता है किन्तु जिसकी चित्त की समस्त वृत्तियाँ शांत हो चुकी हैं उसे कुछ भी अभ्यास नहीं करना पड़ता। वह सोये हुए व्यक्ति की भाँति केवल अपने स्वभाव में स्थित रहता है क्योंकि आत्मा में स्थित हो जाने पर फिर उसके लिए करने योग्य कुछ शेष रहता ही नहीं।

## सूत्र ३४

**अप्रयत्नात्प्रयत्नाद्वा मूढ़ो नाप्नोति निर्वृतिम्।**
**तत्वनिश्चयमात्रेण प्राज्ञो भवति निर्वृतः।।**

*अनुवाद :— "अज्ञानी पुरुष प्रयत्न अथवा अप्रयत्न से निर्वृत्ति को प्राप्त नहीं होता है जबकि ज्ञानी पुरुष केवल तत्व को निश्चयपूर्वक जानकर ही निर्वृत हो जाता है।"*

**व्याख्या :—** इस सूत्र में अष्टावक्र आत्म-ज्ञान-प्राप्ति का महत्वपूर्ण तथ्य प्रकट करते हैं कि चित्त की अनेक वृत्तियाँ हैं। एक-एक को छोड़ने के प्रयत्न से कोई सफलता नहीं मिलती। फिर ये सभी वृत्तियाँ पत्तों की भाँति हैं, मूल है अहंकार एवं वासना जिनके रहते वृत्तियों को काट देने से वे नये-नये रूपों में प्रकट होती रहेंगी। मूल को सींचते रहो एवं पत्तों को काटते रहो इससे कभी उपलब्धि नहीं हो सकती। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि अज्ञानी पुरुष चाहे कितनी ही साधना क्यों न करे, कितना ही प्रयत्न क्यों न करे कभी भी निर्वृत्ति को प्राप्त नहीं होता है, उसकी वृत्तियाँ शांत नहीं होतीं क्योंकि भीतर अहंकार एवं वासना मौजूद है। इसके विपरीत ज्ञानी आत्म-तत्व को निश्चयपूर्वक जान कर ही निर्वृत्त हो जाता है। उसकी सभी वृत्तियां शांत हो जाती हैं। प्रयत्न नहीं करना पड़ता। कोई साधना नहीं करनी पड़ती।

## सूत्र ३५

**शुद्धं बुद्धं प्रियं पूर्णं निष्प्रपञ्चं निरामयम्।**
**आत्मानं तं न जानन्ति तत्राभ्यासपरा जनाः ।।**

*अनुवाद :— "इस संसार में अभ्यासपरायण पुरुष उस आत्मा को नहीं जान पाते जो शुद्ध, बुद्ध, प्रिय, पूर्ण, प्रपंच-रहित और दुःख-रहित है।"*

**व्याख्या :—** आत्मा शुद्ध है, वह निखालिस है, उसमें विकृति नहीं है, वह बोधस्वरूप है, स्वयं ज्ञान है। उसको जानने के लिए बाहरी ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, वह प्रिय है, पूर्ण है, प्रपंच-रहित है और दुःख-रहित है। ऐसी आत्मा हमारा स्वभाव है। हमने भूल से शरीर, मन, अहंकार आदि को हमारा स्वभाव मान लिया है जो भ्रान्ति मात्र है। आत्मा को जानने के लिए इस भ्रान्ति को मिटाना

मात्र है और कोई अभ्यास काम नहीं आता। संसार में जो लोग अभ्यासपरायण होकर आत्मा को जानना चाहते हैं वे उसे कभी नहीं जान सकते। अभ्यास से अहंकार बढ़ता है, चित्त की वृत्तियाँ शांत होने के बजाय और विद्रोह करती हैं। संसार का आकर्षण ही ऐसा है कि वह मन को बाहर की ओर ही ले जाता है। अभ्यास से वृत्तियाँ और दृढ़ हो जाती हैं जिससे यह अभ्यास भी बन्धन बन जाता है। आत्म-ज्ञान तो भ्रान्ति के मिटने से ही होता है। सभी अभ्यास छोड़ने से चित्त की शांत अवस्था में ही उसकी अनुभूति होती है।

# सूत्र ३६

**नाप्नोति कर्मणा मोक्षं विमूढोऽभ्यासरूपिणा।**
**धन्यो विज्ञानमात्रेण मुक्तस्तिष्ठत्यविक्रियः ।।**

*अनुवाद :— "अज्ञानी पुरुष अभ्यास रूपी कर्म से मोक्ष को नहीं प्राप्त होता है। जबकि क्रियारहित ज्ञानी पुरुष केवल ज्ञान के द्वारा मुक्त हुआ स्थित रहता है।"*

*व्याख्या :—* आत्मा हमारा स्वभाव है उसे जानना मात्र है। जिसने आत्मा को जान लिया उसने ब्रह्म को जान लिया, वह शुद्ध-बुद्ध हो गया। फिर करना कुछ शेष नहीं रहा। सभी भ्रान्तियाँ मिट जाती हैं, सभी बन्धन टूट जाते हैं। यही मुक्ति है। किन्तु अज्ञानी पुरुष अभ्यास द्वारा इन बन्धनों को काटना चाहता है। चूँकि बन्धन वास्तविक नहीं हैं, भ्रम मात्र हैं, अज्ञान के कारण हैं इसलिए अभ्यास अनावश्यक है। ये ज्ञान-प्राप्ति से अपने आप टूट जायेंगे। भ्रान्ति मात्र थी जो मिट जायेगी। मोक्ष है, स्व के सागर में डुबकी लगाना। तैरने के लिए अभ्यास करना पड़ता है डूबने के लिए अभ्यास की आवश्यकता नहीं है। केवल छलांग मात्र लगाने का साहस चाहिए। आगे सब अपने आप हो जायेगा। आत्म-ज्ञान एवं मोक्ष के लिए अपने को समर्पण भाव से छोड़ देना मात्र है, निराधार हो जाना मात्र है, अभ्यास मात्र छोड़ कर निश्चेष्ट भाव से अपने आप को समर्पित कर देना है। आगे अस्तित्व अपने आप सँभाल लेगा।

**यही आत्म-ज्ञान है, यही मुक्ति है। क्रिया से बाहरी ज्ञान मिलता है। आत्म-ज्ञान का मार्ग अक्रिया है।**

# सूत्र ३७

**मूढ़ो नाप्नोति तद्ब्रह्म यतो भवितुमिच्छति।**
**अनिच्छन्नपि धीरो हि परब्रह्म स्वरूपभाक्।।**

*अनुवाद :— "अज्ञानी जैसे ब्रह्म होने की इच्छा करता है वैसे ही ब्रह्म नहीं हो पाता है और धीर पुरुष नहीं चाहता हुआ भी निश्चित ही पर-ब्रह्म स्वरूप को भजने वाला होता है।"*

***व्याख्या :***— **अष्टावक्र कहते हैं कि जिस प्रकार एक सिंह का बच्चा भेड़ों के समूह में पलकर अपने को भेड़ ही समझने लगता है। उसे यह भ्रान्ति हो जाती है कि मैं तो भेड़ हूँ। किन्तु जब वह अपना चेहरा देख लेता है, जब उसे रक्त का स्वाद आ जाता है तो उसकी भेड़ होने की भ्रान्ति मिट जाती है। उसका सिंहत्व जाग उठता है इसके लिए उसे कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, कोई अभ्यास, साधना नहीं करनी पड़ती, केवल अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होने से ही उसकी भेड़ होने की भ्रान्ति मिट जाती है उसी प्रकार ज्ञानी को अपना स्वरूप मात्र जान लेने से समस्त भ्रान्तियाँ मिट जाती हैं एवं वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। इसलिए जीव ब्रह्म बनता नहीं है, वह ब्रह्म ही है जिसे जान लेता है। यदि सिंह भेड़ ही होता तो लाख योगाभ्यास एवं साधना करने पर भी वह सिंह नहीं बन सकता था। भेड़ यदि जीवन भर सिंह बनने की इच्छा करे तो भी वह सिंह हो नहीं सकती। अष्टावक्र यही कहते हैं कि अज्ञानी यदि ब्रह्म होने की इच्छा करता है तो भी वह ब्रह्म नहीं हो सकता। यदि वह ब्रह्म नहीं है तो इच्छा करने से वह ब्रह्म कभी नहीं हो सकता किन्तु वह ब्रह्म है ही इसलिए अपने स्वरूप को जान लेने मात्र से ब्रह्म हो जाता है। साधना, अभ्यास नहीं करना पड़ता। केवल निश्चयपूर्वक जान लेने से भ्रान्ति मिट जाती है। इच्छा नहीं, निश्चय आवश्यक है।**

—०—

# सूत्र ३८

**निराधारा ग्रहव्यग्रा मूढाः संसारपोषकाः ।**
**एतस्यानर्थमूलस्य मूलच्छेदः कृतो बुधैः ।।**

*अनुवाद :— "इस आधार-रहित, दुराग्रह-युक्त संसार का पोषक अज्ञानी पुरुष ही है। इस अनर्थ के मूल संसार का मूलोच्छेद ज्ञानियों द्वारा किया गया है।"*

**_व्याख्या :_— संसार का अर्थ इस भौतिक जगत् से नहीं है बल्कि हमने अपने विचारों, वासनाओं, कामनाओं के कारण जो राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, निंदा, हिंसा, अहिंसा, तृष्णा, मोह आदि का संसार निर्मित किया है वह आधाररहित है। इसका कोई ठोस शाश्वत आधार नहीं है। यह सब भ्रमपूर्ण है, माया है, दुराग्रहयुक्त है। हमारे झूठे आग्रहों से ही संसार में सुख-दुःख, हर्ष-विषाद का अनुभव होता है। यदि सारे दुराग्रह एवं पूर्वाग्रह शांत हो जायें तो संसार में भी शांति का अनुभव हो सकता है। हमारे दुराग्रह के कारण ही संसार अनर्थ का मूल बन जाता है, इसमें कुछ भी अर्थ ज्ञात नहीं होता, निष्प्रयोजन हो जाता है। इसका मूलच्छेद ज्ञानी ही अपने ज्ञान से करते हैं क्योंकि उसी को इसकी वास्तविकता का पता चलता है, इसलिए ज्ञानी ही इसे अनर्थ का मूल समझकर इससे सम्बन्ध विच्छेद करके आत्मा से अपना सम्बन्ध जोड़ कर सुख एवं शांति का अनुभव करता है जबकि अज्ञानी इस ज्ञान से अपरिचित रहने से वह इस आधारहीन एवं अनर्थमूलक संसार का ही पोषण करता है। आत्मानन्द के अभाव में वह विषयनानन्द को ही सुख मानता है। किन्तु आत्मानन्द प्राप्त होने पर वह विषयानन्द को हेय समझ कर छोड़ देता है।**

# सूत्र ३९

**न शांतिं लभते मूढ़ो यतः शमितुमिच्छति ।**
**धीरस्तत्वं विनिश्चित्य सर्वदा शांतमानसः ।।**

*अनुवाद :— "अज्ञानी जैसे शांत होने की इच्छा करता है वैसे ही वह शांति को नहीं प्राप्त होता है किन्तु धीर पुरुष तत्व को जान कर सदैव शांत मन वाला है।"*

**व्याख्या :— शांति प्रयत्न से प्राप्त नहीं होती। अज्ञानी शांत होने के लिए भी प्रयत्न करता है। शांत होने की इच्छा करने से भी चित्त में तरंगें उठती हैं जिससे नई अशांति पैदा होती है। चित्त का विक्षेप-रहित हो जाना ही शांत होना है। जिसका चित्त समस्त विक्षेपों से रहित हो गया उसी को आत्म-ज्ञान का अनुभव होता है एवं वही इस आत्म-तत्व को निश्चयपूर्वक जानकर ही सदैव शांत मन वाला होता है। द्वन्द्व से रहित होना, समभाव में स्थित हो जाना एवं सर्वत्र उस एक आत्मा के अनुभव के बिना शांति नहीं मिल सकती। इच्छा करना ही अशांति का कारण है।**

# सूत्र ४०

**क्वात्मनो दर्शनं तस्य यद्दृष्टमवलम्बते।**
**धीरास्तं न पश्यन्ति पश्यन्त्यात्मानमव्ययम्॥**

*अनुवाद :— "उसको आत्मा का दर्शन कहाँ है जो दृष्य का अवलम्बन करता है? धीर पुरुष दृष्य को नहीं देखते हैं। वे अविनाशी आत्मा को देखते हैं।"*

**व्याख्या :— अज्ञानी पदार्थ को ही देखता है उसके अन्दर छिपी आत्मा को नहीं देख सकता। इन्द्रियाँ केवल स्थूल को ही देख पाती हैं, सूक्ष्म उनकी पकड़ में नहीं आता, इसी प्रकार सामान्य जन भी पदार्थों को ही देख पाते हैं किन्तु वैज्ञानिक उसके भीतर की ऊर्जा को भी देख लेते हैं। अज्ञानी कहते हैं पदार्थ ही है, वह सत्य है किन्तु वैज्ञानिक कहता है पदार्थ भ्रममात्र है, सब ऊर्जा ही है। ऊर्जा का रूप ही पदार्थ दिखाई देता है। इसी प्रकार दृष्य पदार्थों के अवलम्बन से आत्मा का दर्शन नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा स्वयं दृष्टा है स्वयं देखने वाला है। आँख माध्यम मात्र है, उपकरण मात्र है वह किसी**

को नहीं देखती, न मान देखता है, न मस्तिष्क। सभी उपकरण हैं। दृष्टा केवल आत्मा है। इसलिए ज्ञानी पुरुष दृष्य पदार्थों को नहीं देखते हैं बल्कि उस अविनाशी आत्मा को ही देखते हैं जिससे सारा जगत् दृष्यमान् होता है। अज्ञानी ही दृष्य पदार्थों को देखते हैं। इस दृष्टा का ज्ञान ही धर्म है।

# सूत्र ४१

**क्व निरोधो विमूढस्य यो निर्बन्धं करोति वै।**
**स्वरामस्यैव धीरस्य सर्वदाऽसावकृत्रिमः।।**

*अनुवाद :— "जो हठपूर्वक चित्त का निरोध करता है उस अज्ञानी को कहाँ चित्त का निरोध है? स्वयं में रमण करने वाले धीर पुरुष के लिए यह चित्त का निरोध स्वाभाविक है।"*

*व्याख्या :—* करना मात्र मन से होता है। बुरा कर्म यदि मन से होता है तो अच्छा भी मन ही से होता है, भोग यदि मन से होता है तो त्याग भी मन ही से होता है। संसार की अभिलाषा यदि मन की है तो मोक्ष की अभिलाषा भी मन की ही है। जब तक मन है तब तक शांति नहीं है। मन का भोजन ही कर्म है। बिना कर्म के वह रह ही नहीं सकता। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि जो हठपूर्वक चित्त का निरोध करते हैं यह भी मन के ही कारण है जिससे कभी चित्त का निरोध नहीं हो सकता बल्कि मन और मजबूत होता है, अहंकार और दृढ़ होता है। इसलिए अज्ञानी को कभी शांति नहीं मिल सकती किन्तु वह ज्ञानी जिसने आत्मा को जान लिया है, जो सदा आत्मा में ही रमण करने वाला है वही शांति को प्राप्त होता है, उसके चित्त का निरोध स्वाभाविक रूप से हो जाता है। हठपूर्वक, जबरदस्ती करना नहीं पड़ता। आत्म-ज्ञान से ही वृत्तियाँ शांत होती हैं। करने से नहीं होतीं।

卐

## सूत्र ४२

**भावस्य भावकः कश्चिन्न किञ्चिद्भावकोऽपरः ।**
**उभयाऽभावकः कश्चिदेवमेव निराकुलः ।।**

*अनुवाद :— "कोई भाव को मानने वाला है और कोई 'कुछ भी नहीं है' ऐसा मानने वाला है। वैसे ही कोई दोनों को मानने वाला है। वैसे ही कोई दोनों को नहीं मानने वाला है और वही स्वस्थ चित्त है।"*

***व्याख्या :—*** **कुछ लोग ईश्वर को भावरूप में मानते हैं, कुछ उसे अभावरूप केवल शून्य मानते हैं। आस्तिक कहता है परमात्मा है तो नास्तिक कहता है परमात्मा नहीं है किन्तु अष्टावक्र कहते हैं कि दोनों ही अज्ञानी हैं। उनकी यह मान्यता बौद्धिक है, कल्पना मात्र है। जाना दोनों ने नहीं है। दोनों रूढ़िवादी हैं, परम्परावादी हैं। परमात्मा इतना विराट् है कि वह क्षुद्र बुद्धि के घेरे में समाता ही नहीं। न बुद्धि उसको जान सकती है, न वाणी उसका वर्णन कर सकती है। परमात्मा 'है' 'नहीं है' कहना मन की ही घोषणाएँ हैं। जिसने जाना नहीं और कहते हैं वे अज्ञानी ही हैं। जिसने जान लिया वह मौन हो जाता है, क्योंकि उसे कहना कठिन है। इसलिए ज्ञानी न तो यह कहता है कि 'परमात्मा है', न कहता है 'वह नहीं है'। वह दोनों में तटस्थ रहता है, निरपेक्ष एवं आग्रहपूर्ण वक्तव्य नहीं देता कि वह है या नहीं है। ऐसा व्यक्ति ही स्वस्थ चित्त एवं परम शांति को प्राप्त होता है। कहने से विवाद ही पैदा होता है। तर्क से परमात्मा को न सिद्ध किया जा सकता है न असिद्ध।**

## सूत्र ४३

**शुद्धमद्वयमात्मानं भावयन्ति कुबुद्धयः ।**
**न तु जानन्ति संमोहाद्यावज्जीवमनिर्वृताः ।।**

*अनुवाद :— "कुबुद्धि पुरुष शुद्ध अद्वैत आत्मा की भावना करते हैं लेकिन मोहवश उसे नहीं जानते हैं इसलिए जीवन भर सुख-रहित रहते हैं।"*

**व्याख्या :— सुख तो ज्ञान का ही फल है, अज्ञानी को सुख कहाँ। अज्ञानी चाहे कितनी भावना कर ले कि आत्मा है, परमात्मा है, संसार मिथ्या है, माया है, ब्रह्म ही सत्य है, मैं ब्रह्म ही हूँ, जीव, जगत् व ब्रह्म एक ही है आदि तो भी वह सुख को प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि भावना मात्र करने से सुख नहीं मिलता। सुख मिलता है जानने से, किन्तु कुबुद्धि पुरुष में संसार के प्रति मोह तो बना रहता है जिससे वह कभी जान नहीं सकता एवं पाखंडवश शुद्ध अद्वैत आत्मा की भावना करता है। दुनियाँ में ऐसे ही लोग हैं जो हैं तो चोर, बेईमान, झूठे, क्रोधी, कामी, लोभी, अज्ञानी, हठी, दुराग्रही किन्तु वे व्रत लेते हैं कि चोरी नहीं करेंगे, बेईमानी नहीं करेंगे, झूठ नहीं बोलेंगे। वे ब्रह्मचर्य की बातें करते हैं, लाखों की चोरी करके हजार का मंदिर में दान देकर दानवीर बनते हैं, भगवान की पूजा भी किराये से करवाते हैं, हैं पूरे चार्वाक और अद्वैत की बात करते हैं, व्रत ले-ले कर अपनी चोरी एवं बेईमानी को छिपाने का मार्ग ढूँढते हैं ताकि इनकी आन में यह बेईमानी छिप जाय, किन्तु स्वयं का रूपान्तरण ही धर्म है। इसी से होगा ज्ञान तथा इसी से अद्वैत की अनुभूति होगी। भावना करने से नहीं होगा। प्रत्यक्ष बोध करना होगा। तभी सुख मिलेगा।**

## सूत्र ४४

**मुमुक्षोर्बुद्धिरालम्बमन्तरेण न विद्यते।**
**निरालम्बैव निष्कामा बुद्धिर्मुक्तस्य सर्वदा ।।**

*अनुवाद :— "मुमुक्षु पुरुष की बुद्धि आलम्बन के बिना नहीं रहती। मुक्त पुरुष की बुद्धि सदा निष्काम और निरालम्ब रहती है।"*

*व्याख्या :—* मन सहारा चाहता है। बिना सहारे के वह जिन्दा नहीं रह सकता। यदि उसे परमात्मा का सहारा मिल जाय तो वह तृप्त हो जाता है किन्तु वह न मिलने से ही तृप्ति के लिए विषयों की ओर भागता है। बुद्धि भी आलम्बन चाहती है। बिना आलम्बन के सोच-विचार संभव नहीं है। इसलिए मुमुक्षु व्यक्ति भी पूजा, पाठ, यज्ञ, पंडित, शास्त्र, मंदिर, परमात्मा आदि का सहारा लेकर चलता है किन्तु अष्टावक्र कहते हैं कि जब तक कोई सहारा है, चाहे वह परमात्मा का ही हो, तब तक मुक्ति नहीं है। वह सहारा भी बन्धन है। उद्देश्य-प्राप्ति के बाद सभी सहारे, सभी आलम्बन छोड़ देने पड़ते हैं तभी व्यक्ति निष्काम और निरालम्ब होता है। बुद्धि और मन की ऐसी अवस्था ही मुक्ति है। वह सदा एक आत्मा में ही स्थिर हो जाता है।

# सूत्र ४५

**विषयद्वीपिनो वीक्ष्य चकिताः शरणार्थिनः।**
**वशन्ति झटिति क्रोडन्निरोधैकाग्र्यसिद्धये।।**

*अनुवाद :— "विषय रूपी बाघ को देखकर भयभीत हुआ मनुष्य शरण की खोज में शीघ्र ही चित्त निरोध और एकाग्रता की सिद्धि के लिए पहाड़ की गुफा में प्रवेश करता है।"*

*व्याख्या :—* विषयों से संसारी भयभीत नहीं होता। वह तो इन्हें भोग लेता है। ये विषय चाहे क्षणिक आनन्द ही देते हों किन्तु व्यक्ति इन्हें भोग कर तृप्ति का अनुभव कर लेता है। शाश्वत का उसे कुछ पता ही नहीं कि ऐसा आनन्द भी है जो चिरस्थाई है इसलिए वह क्षणिक से ही सन्तुष्ट हो जाता है। सुख-दुःख, हर्ष, विषाद जो भी हो उसे भाग्यवश समझकर भोग लेता है किन्तु जिसमें आत्म-ज्ञान की वासना तीव्र हो जाती है वह इन विषयों से भयभीत होता है। वह इन विषयों के सम्मुख उपस्थित बाघ के समान समझकर इनसे बचने के लिए एकान्त कहीं पहाड़ की गुफा में प्रवेश करता है, यानि वह संसार से ही भाग खड़ा होता है। ऐसा अज्ञानी यह समझता है कि

संसार से भाग जाने से तथा एकान्त में रहने से चित्त का निरोध हो जायेगा, उसको एकाग्रता की सिद्धि मिल जायगी जिससे उसे आत्म-ज्ञान हो जायेगा किन्तु यह उसका भ्रम मात्र है। विषयों के प्रति आकर्षण का कारण भीतर चित्त में छिपी वासना है जिससे व्यक्ति विषयों के पीछे दौड़ता है। संसार इसका कारण नहीं है इसलिए इसे छोड़ने पर वासना छूट जाय यह आवश्यक नहीं है। यह निरोध नहीं है। इन्द्रियों को भोग से रोक देना निरोध नहीं है। जब भीतर की वासना शांत होगी तभी निरोध होगा। इसलिए भयभीत होकर भाग जाने की अपेक्षा उन्हें जागकर देखने से, साक्षी भाव से देखने से तथा बोधपूर्वक देखने से इनका निरोध होगा। अन्यथा कोई उपाय नहीं है।

# सूत्र ४६

**निर्वासनं हरिं दृष्ट्वा तूष्णीं विषयदन्तिनः।**
**पलायन्ते न शक्तास्ते सेवन्ते कृतचाटवः।।**

*अनुवाद :— "वासना-रहित पुरुष-सिंह को देखकर विषयरूपी हाथी चुपचाप भाग जाते हैं या वे असमर्थ होकर चाटुकार की तरह उसकी सेवा करने लगते हैं।"*

***व्याख्या :—*** इसी क्रम में अष्टावक्र कहते हैं कि विषयों से भयभीत होकर भागने से भय भीतर बना रहेगा। वह स्वप्न एवं ध्यान तथा समाधि में फिर उत्पात मचायेगा। इसलिए विषयों से भागकर जंगल जाने से समस्या का समाधान नहीं होगा बल्कि वासनारहित हो जाना ही इसका उपाय है। वासना ही आकर्षण पैदा करती है। यदि वासना खो गई तो आकर्षण अपने आप समाप्त हो जायगा। फिर चित्त का निरोध करना नहीं पड़ेगा, पर्वतों की गुफाओं में जाना नहीं पड़ेगा। यह उपलब्धि घर बैठे ही, संसार में रहते हुए भी हो सकती है। अष्टावक्र कहते हैं कि यद्यपि यह विषय हाथी के समान बलवान हैं, इन्हें आसानी से काबू में करना कठिन है किन्तु वासना-रहित पुरुष उस सिंह के समान है जिसे देखकर ये

विषय चुपचाप भाग जाते हैं या इतने असमर्थ हो जाते हैं कि वे उसे प्रभावित न कर चाटुकार सेवक की भाँति उसकी सेवा करता है जबकि अज्ञानी वासना-ग्रस्त होकर उन्हें भोगता है। ज्ञानी विवेक से उनका उपयोग करता है। अज्ञानी पर विषय हावी हो जाते हैं। यही अन्तर पड़ता है।

## सूत्र ४७

**न मुक्तिकारिकान्धत्ते निःशङ्को मुक्तमानसः।**
**पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघन्नश्नन्नास्ते यथासुखम्॥**

*अनुवाद :— "शंकारहित और मुक्त मन वाला पुरुष मुक्तिकारी योग (यम, नियमादि) को आग्रह के साथ नहीं ग्रहण करता है लेकिन वह देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करताहुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ सुखपूर्वक रहता है।"*

*व्याख्या :—* जिसकी सभी वासनाएँ पिट गईं, जिसकी सभी वृत्तियाँ शांत हो गईं, जिसे अब कुछ भी पाने की चाह नहीं रही ऐसा आत्म-ज्ञान को प्राप्त व्यक्ति ही शंकारहित एवं मुक्त मन वाला होता है। मन से मुक्त होने के कारण ही वह सब द्वन्द्वों के पार होकर केवल आत्मा में स्थित रहता है। उसके सभी आग्रह समाप्त हो जाते हैं, उसका अहंकार गलित हो जाता है जिससे कर्तव्य का अभिमान नहीं रहता। वह यम, नियमादि आदि जितने भी मुक्तकारी योग हैं उन्हें आग्रहपूर्वक ग्रहण नहीं करता है बल्कि ये अब उससे स्वभावतः होते रहते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह ये पाँच नियम हैं जिनका योगी आग्रहपूर्वक पालन करता है किन्तु ज्ञान-प्राप्ति के बाद ज्ञानी का स्वभाव ही ऐसा हो जाता है जिससे इनके पालन करने में कोई जबरदस्ती नहीं करनी पड़ती। ऐसा ज्ञान बिना किसी आग्रह के देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूँघना, खाना आदि इन्द्रियों के सभी कार्य यथावत् करता हुआ भी सुखपूर्वक रहता है।

— × —

## सूत्र ४८

**वस्तुश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिर्निराकुलः।**
**नैवाचारमनाचारमौदास्यं वा प्रपश्यति ।।**

*अनुवाद :— "यथार्थ ज्ञान के सुनने मात्र से शुद्ध बुद्धि और स्वस्थ चित्त हुआ पुरुष न आचार को, न अनाचार को न उदासीन को देखता है।"*

***व्याख्या :—*** **आचार और अनाचार, उदासीनता और कर्मठता सब अज्ञानियों के लिए हैं। मन की उपस्थिति से ही यह भेद पैदा होता है। किन्तु आत्म-ज्ञान पुरुष स्वस्थ चित्त एवं शुद्ध बुद्धि वाला हो जाता है। उससे जो भी कर्म होंगे पूर्ण जागरूकता एवं विवेक से होंगे। उसमें स्वार्थ, वासना एवं अहंकार आदि न होने से वह जो भी कर्म करेगा वह स्वस्थ ही होगा। उसमें विकार आ ही नहीं सकते। अष्टावक्र कहते हैं कि ऐसा तत्व-बोध यदि किसी का अन्तःकरण शुद्ध है तो सुनने मात्र से ही हो जाता है। यदि सुनने की कला किसी को ज्ञात है तो आत्म-ज्ञान के लिए किसी जप, तप, योग, ध्यान, समाधि, कर्मकाण्ड, हठयोग, भक्ति आदि की कोई आवश्यकता नहीं है। सुनने मात्र से यह सब हो जाता है क्योंकि यह संसार, वासना, बन्धन आदि के कारण ज्ञात होते हैं, भ्रम मात्र हैं, अन्धकारवत् हैं जो ज्ञान से अपने आप विलीन हो जाते हैं। प्रयत्न नहीं करना पड़ता। किसी विधि की आवश्यकता नहीं है।**

## सूत्र ४९

**यदा यत्कर्तुमायाति तदा तत्कुरुते ऋजुः।**
**शुभं वाप्यशुभं वापि तस्य चेष्टा हि बालवत् ।।**

*अनुवाद :— "धीर पुरुष जब कुछ शुभ या अशुभ करने को आ पड़ता है तो उसे सहजता के साथ करता है क्योंकि उसका व्यवहार बालवत् है।"*

*व्याख्या :—* बालक और ज्ञानी में थोड़ी समानता है कि दोनों स्वभाव में जीते हैं किन्तु बालक मन के स्वभाव में जीता है। वह अपनी सारी इच्छाएँ पूरी करना चाहता है। शुभ-अशुभ का भेद उसमें नहीं होता क्योंकि उसकी बुद्धि का विकास अभी हुआ नहीं है। बुद्धि ही भेद उत्पन्न करती है। किन्तु ज्ञानी मन के नहीं आत्मा के स्वभाव में जीता है। वह मन और बुद्धि के पार हो चुका है। वह बुद्धि का उपयोग विवेक से करता है। इसलिए वह ज्ञानी पुरुष भी शुभ-अशुभ का भेद नहीं करता है बल्कि आत्मा के स्वभाव के अनुकूल जो करने को आवश्यक होता है वह बालवत् कर लेता है। किसी प्रकार का आग्रह दुराग्रह आदि नहीं होता। ऐसा ज्ञानी ही सूखपूर्वक रहता है।

## सूत्र ५०

**स्वातन्त्रयात्सुखमाप्नोति स्वातन्त्रयाल्लभते परम्।**
**स्वातन्त्रयान्निर्वृतिं गच्छेत् स्वातन्त्रयात्परमं पदम् ।।**

*अनुवाद :— "धीर पुरुष स्वतन्त्रता से सुख को प्राप्त होता है, स्वतन्त्रता से परम को प्राप्त होता है, स्वतन्त्रता से नित्य सुख को प्राप्त होता है और स्वतन्त्रता से परम पद हो प्राप्त होता है।"*

*व्याख्या :—* आत्म-ज्ञानी सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। वासना, कामना, तृष्णा, अहंकार आदि से ही मनुष्य बन्धनों का निर्माण कर लेता है। इन बन्धनों के कारण ही विषयों की गुलामी उसे सहन करनी पड़ती है, इन्हीं से सुख-दुःख, हर्ष-विषाद का अनुभव होता है, इन्हीं से उसके कर्म बन्धन बनते हैं जिसे वह अनेक जन्मों तक भोगता ही रहता है। आत्म-ज्ञान के बिना इनसे छुटकारा नहीं हो सकता। ज्ञानी ही इस तत्व को जानकर सर्व बन्धनों से मुक्त होकर परम सुख में स्थित हो जाता है। बन्धन-रहित हो जाना ही परम स्वतन्त्रता है, यही मुक्ति है। सिद्ध शिला पर बैठना भी मुक्ति नहीं है क्योंकि वहीं बैठना है, अन्यत्र जाने का कोई विकल्प नहीं है इसलिए वह भी बन्धन ही है। जहाँ रहने को मजबूर

किया जाय वह कारागृह ही है मुक्ति कहां हुई, स्वतन्त्रता कहां है। परम पद तो स्वतन्त्रता ही है एवं यही परम सुख है। जीव की यही अन्तिम स्थिति है।

# सूत्र ५१

**अकर्तृत्वमभोक्ततृत्वं स्वात्मानो मन्यते यदा।**
**तदा क्षीणा भवन्त्येव समस्ताश्चित्तवृत्तय:।।**

*अनुवाद :— "जब मनुष्य अपनी आत्मा के अकर्त्तापन और अभोक्तापन को मानता है तब उसकी सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों का नाश हो जाता है।"*

***व्याख्या :—*** "मनुष्य न कर्त्ता है न भोक्ता, न वह कर्म करता है न उसका फल ही भोगता है। मनुष्य पापी है ही नहीं उससे पाप हो ही नहीं सकता," यह वेदान्त की घोषणा है। किन्तु मनुष्य अहंकार के कारण स्वयं को आत्मा एवं ब्रह्म से भिन्न समझने लग गया। इसी अज्ञान एवं भ्रान्ति के कारण वह अपने को कर्त्ता मानने लगा। कर्त्ता मानने से वह भोक्ता भी बन गया। यही उसका पाप हो गया। जिस समय वह अपने को शरीर, मन एवं अहंकार से भिन्न केवल आत्म-रूप निश्चित कर लेता है उसी क्षण वह न कर्त्ता रहता है न भोक्ता, न उससे कोई पाप होता है न पुण्य। आत्म-ज्ञान में उसकी समस्त चित्तवृत्तियाँ ही शांत हो जाती हैं, उसका अहंकार ही गलित हो जाता है, 'मैं' भाव ही समाप्त हो जाता है फिर कौन कर्त्ता है और कौन भोक्ता कहना कठिन हो जाता है। आत्म-ज्ञान की स्थिति में ही ऐसा होना संभव है अन्यथा उसका कर्त्ता एवं भोक्तापन रहेगा ही जिससे वह पाप-पुण्य का भागी भी होगा।

# सूत्र ५२

**उच्छृङ्खलाप्याकृतिका स्थितिर्धीरस्य राजते।**
**न तु संस्पृहचित्तस्य शान्तिर्मूढस्य कृत्रिमा।।**

*अनुवाद :— "धीर पुरुष की स्वाभाविक उच्छृंखल स्थिति भी शोभती है लेकिन स्पृहायुक्त चित्त वाले मूढ़ की बनावटी शांति भी नहीं शोभती।"*

**व्याख्या :— मनुष्य में स्पृहा है, वासना है। इसी स्पृहा के कारण उसे यह शरीर मिला है। यदि संसार में कुछ भोगने की, कुछ करने की चाह ही नहीं होती तो यह शरीर उसे मिलता ही नहीं। घड़े का निर्माण तभी होता है जब उसमें कुछ भरना है। यदि भरने को कुछ नहीं है तो घड़े का निर्माण ही नहीं होता। स्पृहा, वासना आदि मन का गुण है। स्पृहा एवं वासना के कारण ही इस भौतिक जगत् का अस्तित्व है, इसी से मनुष्य सारे रचनात्मक एवं विध्वंसात्मक कार्य करता है। संसार की जैसी भी स्थिति है वह स्पृहा के कारण ही है अतः स्पृहा ही संसार है। बिना इसके कुछ भी नहीं मिलता है। स्पृहा के रहते मनुष्य को शांति नहीं मिल सकती। जहाँ स्पृहा है वहीं दौड़-धूप है, छीना-झपटी है, संघर्ष हैं, हिंसा है एवं समस्त निर्माण भी स्पृहा ही है। किन्तु आध्यात्मिक उपलब्धि स्पृहा-मुक्त होने से ही होती है, तभी होता है आत्म-ज्ञान एवं तभी शांति मिलती है। स्पृहा के रहते शांति की आशा करना मृग-मरीचिका ही है जो कभी हो नहीं सकती। यदि कोई स्पृहायुक्त चित्त वाला कहता है कि मैं शांत हूँ, मुझे शांति का अनुभव हो गया है तो वह पाखंड मात्र है, वह शांति बनावटी ही है, वह शांति का ढोंग कर रहा है। आधा घंटा ध्यान कर लिया, दस माला गायत्री की जप लीं, किसी आश्रम में एक घंटा बैठ गये और कहने लगे मुझे शांति प्राप्त हुई है। यह शांति नहीं धोखा है, पाखंड है। वे शांत प्रतीत होते हुए भी अशांत हैं, उनकी शांति ऊपरी-ऊपरी है जो एक क्षण में विलीन हो सकती है। ऐसी शांति मूढ़ की ही शांति है जो क्षणिक है, बनावटी है। इसके विपरीत ज्ञानी स्पृहामुक्त हो जाने से वास्तविक शांति को उपलब्ध होता है, क्योंकि अशांति का कारण स्पृहा थी जो नष्ट हो गई इसलिए वही परम शांत है। उसकी शांति स्वाभाविक है। यदि ऐसा ज्ञानी उच्छृंखलता भी दिखाता है तो भी वह शोभा पाता है क्योंकि उसमें कोई विकार नहीं होता, उसके पीछे स्पृहा, वासना नहीं होती। भीतर की गंदगी को छिपाने के लिए मनुष्य बाहरी आडंबर करके उसे**

छिपाना चाहता है जबकि भीतर से निर्मल होने पर उसे इसकी आवश्यकता नहीं होती।

# सूत्र ५३

**विलसन्ति महाभोगैर्विशन्ति गिरिगह्वरान्।**
**निरस्तकल्पना धीरा अबद्धा मुक्तबुद्धयः ।।**

*अनुवाद :— "कल्पना-रहित, बन्धन-रहित और मुक्त बुद्धि वाले धीर पुरुष कभी बड़े-बड़े भोगों के साथ क्रीड़ा करते हैं, और कभी पहाड़ की कन्दराओं में प्रवेश करते हैं।"*

*व्याख्या :—* जिस ज्ञानी की स्पृहा शांत हो गई, कोई वासना नहीं रही, जो कल्पना-रहित, बन्धन-रहित हो गया, जिसे सृष्टि में एकत्व का बोध हो गया वह मुक्त चित्त वाला धीर पुरुष बड़े-बड़े भोगों के साथ क्रीड़ा करते हुए भी उनसे अलिप्त, अछूता रहता है। वह भोगों को क्रीड़ा की भाँति, खेल की भाँति, नाटकवत् तटस्थ होकर साक्षी भाव से भोगता है। वह चाहे तो पहाड़ की कन्दराओं में भी रह सकता है। दोनों में ही वह अनाग्रहपूर्ण होता है। दोनों में वह समभाव वाला रहता है। जिसे भोगों के भोगने या उन्हें त्याग कर जंगल चले जाने का आग्रह होता है, जो सब कुछ नियम-संयम में बँधकर कार्य करता है, जो सिद्धान्तों, मान्यताओं, परम्पराओं, रूढ़ियों के अनुसार चलता है ऐसा व्यक्ति मुक्त नहीं है वह बन्धनग्रस्त है। ज्ञानी सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर केवल आत्मा में रमण करने वाला स्वच्छन्दचारी होता है।

# सूत्र ५४

**श्रोत्रियं देवतां तीर्थमंगनां भूपतिं प्रियम्।**
**दृष्ट्वा संपूज्य धीरस्य न कापि हृदि वासना ।।**

*अनुवाद :— "धीर पुरुष के हृदय में पंडित, देवता और तीर्थ*

*का पूजन करके तथा स्त्री, राजा और प्रियजन को देखकर कोई भी वासना नहीं होती।"*

**_व्याख्या :—_ अज्ञानी की स्पृहा होती है, वासना होती है जिनकी पूर्ति हेतु वह ज्ञान-प्राप्ति के लिए पंडितों के पास जाता है, धन, यश एवं पुत्र प्राप्ति हेतु देवताओं की पूजा, अर्चना करता है, अपने पापों के प्रक्षालन हेतु वह तीर्थों का भ्रमण करता है, उनका पूजन करता है, मंदिरों में जाकर अर्चना, वन्दना करता है, वह स्त्री को देखकर काममोहित होकर उसको प्राप्त करना चाहता है, वह राजा की चाटुकारता करता है, मंत्रियों के पीछे-पीछे घूमता है कि कहीं कोई पद मिल जाय, चुनाव टिकिट मिल जाय, वह प्रियजनों को देखकर भी उनसे कुछ प्राप्त करने की आकांक्षा रखता है। अष्टावक्र कहते हैं कि धीर पुरुष ज्ञानी भी इन्हें देखता है किन्तु उसमें वासना नहीं होने से वह इनसे कुछ भी प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखता। वासनायुक्त मन ही विकारी होता है।**

## सूत्र ५५

**भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैश्च दौहित्रैश्चापि गोत्रजैः।**
**विहस्य धिक्कृतो योगी न याति विकृति मनाक् ।।**

*अनुवाद :— "योगी नौकरों से, पुत्रों से, पत्नियों से, दोहित्रों और बान्धवों द्वारा हँसकर धिक्कारे जाने पर भी विकार को प्राप्त नहीं होता है।"*

*व्याख्या :—* अज्ञानी वासनाग्रस्त तथा अहंकारी होता है। वासना के कारण ही उसमें लोभ एवं मोह होता है जिनकी पूर्ति न होने पर उसे क्रोध आता है। मान-सम्मान की चाह अहंकार के कारण होती है। यदि वह न मिले अथवा कोई उसका तिरस्कार करे, अपमान करे, उपेक्षा करे तो उसकी सीधी चोट उसके अहंकार पर होती है जिससे वह तिलमिला उठता है एवं बदला लेने का प्रयत्न करता है। जब द्रोपदी ने कौरवों को कहा कि 'अंधे के अंधे ही होते हैं', तो कौरवों के अहंकार पर चोट लगी एवं उसकी परिणति

महाभारत युद्ध में हुई। संसार में इस अहंकार पर चोट करने के कारण ही अनेक उपद्रव हुए हैं एवं जो इस अहंकार को फुसलाने की कला जानते हैं वे अपना काम बड़ी आसानी से निकाल लेते हैं। अहंकार यदि पाप कराता है तो पुण्य भी अहंकार कराता है। इस अहंकार से मुक्त योगी यदि पाप नहीं करता तो पुण्य भी नहीं करता। वह जैसा है वैसा ही अपने स्वभाव में स्थित रहता है। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि योगी अहंकाररहित हो जाने से अपने नौकरों, पुत्रों, पत्नियों, दोहित्रों और बान्धवों आदि के द्वारा धिक्कारे जाने पर भी तथा हँसी उड़ाई जाने पर भी विकार को प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि अहंकार ही सब विकारों का मूल है।

# सूत्र ५६

**संतुष्टोऽपि न सन्तुष्टः खिन्नोऽपि न च खिद्यते।**
**तस्याश्चर्यदशां तां तां तादृशा एव जानते।।**

*अनुवाद :— "धीर पुरुष सन्तुष्ट होकर भी सन्तुष्ट नहीं होता है और दुःखी होकर भी दुःखी नहीं होता है। उसकी इस आश्चर्यमय दशा को वैसे ही ज्ञानी जानते हैं।"*

*व्याख्या :—* ज्ञानी और अज्ञानी के भीतर और बाहर में बड़ा अन्तर होता है। अज्ञानी के भीतर अहंकार, वासना, तृष्णा, लोभ, मोह, काम, क्रोध, हिंसा सब भरी रहती है किन्तु बाहर से वह विनम्र, सहनशील, दयालु, दानवीर, अहिंसक, सेवापरायण, त्यागी होने का मुखौटा लगाकर घूमता है। वह बाहर से शांत, प्रसन्न, सुखी, सन्तुष्ट दिखाई देता है किन्तु भीतर उतना ही उद्विग्न, बैचेन एवं असन्तुष्ट होता है किन्तु इसके विपरीत ज्ञानी भीतर से पूर्ण सन्तुष्ट होता है। न उसकी कोई चाह है, न वासना। उसे परम की उपलब्धि हो गई है। अब पाने को कुछ बचा ही नहीं इसलिए तृप्त है किन्तु बाहर से असन्तुष्ट जैसा दिखाई देता है। वह दुनियाँ में अपने कर्मों को करता हुआ ऐसा ज्ञात होता है कि उसे भी कुछ प्राप्ति की इच्छा है, वह भी सम्मान चाहता है। वह बाहर से दुःखी, चिन्तित दिखाई

**देने पर भी न दुःखी होता है न चिंतित। ज्ञानी की ऐसी स्थिति आश्चर्यमय है। अज्ञानी केवल उसके बाहरी कर्मों को ही देख सकता है। उसकी भीतरी अवस्था को तो वैसा ही ज्ञानी जान सकता है।**

# सूत्र ५७

**कर्त्तव्यतैव संसारो न तां पश्यन्ति सूरयः।**
**शून्याकारा निराकारा निर्विकारा निरामयाः ।।**

*अनुवाद :— "कर्तव्य ही संसार है उसे शून्याकार, निराकार, निर्विकार (विकाररहित) और निरामय (दुःखरहित) ज्ञानी नहीं देखते हैं।"*

***व्याख्या :—*** **अष्टावक्र कहते हैं कि यह कर्तव्य ही संसार है। संसार में रह कर कर्तव्य करना ही पड़ेगा, बिना कर्तव्य किये कोई रह ही नहीं सकता। यह संसार जैसा है वह कर्तव्य का ही परिणाम है। कर्तव्य अर्थात् जो करने योग्य है वह ज्ञानी भी करता है किन्तु उसमें कर्तव्यता नहीं होती जैसे संसारी की होती है। संसारी अच्छा-बुरा, शुभ-अशुभ, निन्दा-प्रशंसा आदि को ध्यान में रख कर कर्तव्य करता है, उसमें संकल्प होता है, अहंकार होता है, इसलिए वह उसका फल भी पाता है। कर्तव्य की गति स्वर्ग तक की है। अच्छे कर्म करके वह स्वर्ग-सुख तो भोग सकता है किन्तु यह मुक्ति के लिए बाधक है। भगवान कृष्ण ने भी अर्जुन को यही कहा कि तू क्षत्रिय है, युद्ध करना तेरा कर्तव्य है। यदि इसमें मारा गया तो स्वर्ग जायगा, यदि जीत गया तो राज्य का भोग करेगा। यह नहीं कहा कि मरने पर तू मुक्त हो जायेगा। मुक्ति का मार्ग इस कर्तव्य-मार्ग से भिन्न है। वह संसार से ही मुक्त नहीं होता बल्कि स्वर्ग से भी मुक्त हो जाता है। स्वर्ग में भोग चाहे हों किन्तु वहाँ भी वासना है, अपेक्षाएँ हैं, ऐश्वर्य एवं पद की आकांक्षाएँ हैं इसलिए ये देवता व इन्द्र भी परेशान हैं। कभी संसारी इन्द्रासन हिलाते हैं तो कभी असुरों का उत्पात होता है। उन्हें भी चैन नहीं है। केवल ज्ञानी**

ही वासनारहित हो जाने से मुक्त है। वह शून्याकार, निराकार, निर्दोष और दुःखरहित होता है जिससे वह संसार को कर्तव्य की भाँति न देखकर अभिनेता की भाँति देखता है। वह केवल परमात्मा को ही कर्त्ता मानता है। जो इस सत्य को नहीं जानता वह कर्तव्य की ही बातें करता है। कर्तव्य, संकल्प, मनोबल, महत्वाकांक्षा, संघर्ष, विजय, दौड़-धूप ये सभी संसारी के लक्षण हैं।

# सूत्र ५८

**अकुर्वन्नपि संक्षोभाद्व्यग्रः सर्वत्र मूढधीः।**
**कुर्वन्नपि तु कृत्यानि कुशलो हि निराकुलः।।**

*अनुवाद :— "अज्ञानी कर्मों को नहीं करता हुआ भी सर्वत्र विक्षोभ (संकल्प-विकल्प) के कारण व्याकुल रहता है और ज्ञानी सब कर्मों को करता हुआ भी शान्त चित्त वाला ही होता है।"*

*व्याख्या :—* उपरोक्त सूत्र का यह अर्थ कदापि नहीं है कि ज्ञानी कर्म नहीं करता। वह आलसी, अकर्मण्य हो जाता है, मठों, मंदिरों एवं एकान्त में जाकर बैठ जाता है, लोगों से दान, दक्षिणा, भेंट पूजा लेता है, उनसे पाँव दबवाता है एवं कर्म से विमुख हो जाता है बल्कि वह सच्चा कर्तव्यनिष्ठ होकर, फलाकाँक्षा से रहित होकर कर्म करता है। यही कर्म का सौन्दर्य है, यही कर्म की कुशलता है। गीता में कहा है 'योग से ही कर्म में कुलशता आती है'। पैसों के लिए काम करने वालों और स्वान्तःसुखाय काम करने वालों की कला, संगीत, साहित्य एवं अन्य कर्मों में कितनी कुशलता होती है यह स्पष्ट देखा जा सकता है। अष्टावक्र इसमें ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मों का भेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अज्ञानी यदि इस तत्व-बोध को सुनकर कर्म करना छोड़ दे तो उसे मुक्ति नहीं कह सकते। उसे आलसी ही कहा जायेगा। बाहर से कर्म छोड़ने पर भी उसके भीतर संकल्प-विकल्प रहता है। जब तक ये विक्षेप शांत नहीं होते तब तक मुक्ति नहीं है। इसके विपरीत ज्ञानी के सभी विक्षेप शांत हो चुके हैं इसलिए वह सभी प्रकार के सांसारिक कर्म करता हुआ भी

अशांति को प्राप्त नहीं होता है। यही कर्म की कुशलता है जो योगी को ही प्राप्त होती है। इसलिए संसार छोड़ना या कर्म से भागना मुक्ति नहीं है। अज्ञान को मिटा कर चित्त की शांत अवस्था को प्राप्त होना ही मुक्ति है जो आत्म-बोध से ही संभव है।

## सूत्र ५९

**सुखमास्ते सुखं शेते सुखमायाति याति च।**
**सुखं वक्ति सुखं भुक्ते व्यवहारेऽपि शान्तधीः ।।**

*अनुवाद :— "शांत बुद्धि वाला ज्ञानी व्यवहार में भी सुखपूर्वक बैठता है, सुखपूर्वक आता है और मर जाता है, सुखपूर्वक बोलता है और सुखपूर्वक भोजन करता है।"*

*व्याख्या :—* मनुष्य बाहर जो भी व्यवहार करता है वह उसके चित्त में चल रही हलचल का ही प्रक्षेपण है। अशांत चित्त वाला व्यक्ति बैठने, आने-जाने, बोलने तथा भोजन करने में भी अशांति का ही अनुभव करेगा। उसके मन में चल रहे अशांत विचारों के कारण वह सुखपूर्वक न खा-पी सकता है, न सो ही सकता है, नींद उसे आती ही नहीं, वह शांत होकर बैठ भी नहीं सकता। बैठे-बैठे हाथ-पाँव हिलाना, भोजन करते हुए अन्य बातों में ध्यान जाना, चलते हुए इधर-उधर देखना, पाँव पटक कर चलना, बोलने में विचारों का तारतम्य न होना आदि अशांत चित्त के लक्षण हैं। व्यक्ति के बाहरी व्यवहार से, उसकी आँखें और चेहरे के हावभाव से उसके भीतर की हलचल को जाना जा सकता है। ऐसा व्यक्ति सुखी नहीं कहा जा सकता। अष्टावक्र कहते हैं कि जो भीतर से शांत चित्त है वही खाते-पीते, उठते-बैठते, आते-जाते, बोलते हुए सुख का अनुभव करता है। अशांत चित्त वाला व्यवहार में भी सुख का अनुभव नहीं करता।

— × —

# सूत्र ६०

**स्वभावाद्यस्य नैवार्तिर्लोकवद्व्यवहारिणः ।**
**महाह्लद इवाक्षोभ्यो गतक्लेशः सुशोभते ।।**

*अनुवाद :— "जो ज्ञानी स्वभाव से व्यवहार में भी सामान्यजन की तरह नहीं व्यवहार करता और महासरोवर की तरह क्लेशरहित है, वही शोभता है। "*

**_व्याख्या :_— ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही संसार में रहते हुए सभी प्रकार के कार्य एवं व्यवहार करते हैं किन्तु अज्ञानी के सभी कर्म तथा व्यवहार अहंकार, वासनाएँ एवं अपेक्षाओं के कारण होते हैं जिनसे वह दुःख को ही प्राप्त होता है जबकि ज्ञानी कर्म एवं व्यवहार करता हुआ भी उनसे अलिप्त रहता है, उन्हें खेल समझ कर करता है, फलाकांक्षाएँ एवं अपेक्षाएँ उनके साथ लगी न होने से वह खेद को प्राप्त नहीं होता। कर्म में ही उसका आनन्द निहित रहता है जबकि अज्ञानी का आनन्द फलाकांक्षा में निहित रहता है इसलिए वह सदा दुःखी ही रहता है। अष्टावक्र कहते हैं कि ऐसा ज्ञानी महासरोवर की भांति शांतमना होने से शोभित होता है तथा क्लेशरहित होता है। अज्ञानी संसार में जितने भी व्यवहार हैं उन सबका पालन करते हुए भी दुःखी रहता है जबकि ज्ञानी इन सामान्य जनों की भाँति व्यवहार नहीं करता हुआ भी क्षोभ एवं क्लेशरहित होता है। अधिक व्यवहार क्लेश का ही कारण बनता है।**

# सूत्र ६१

**निवृत्तिरपि मूढ़स्य प्रवृत्तिरुपजायते ।**
**प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिर्फलदायिनी ।।**

*अनुवाद :— "मूर्ख मुनष्य की निवृत्ति भी प्रवृत्ति रूप हो जाती है। किन्तु धीर पुरुष की प्रवृत्ति भी निवृत्ति के समान फल देती है। "*

*व्याख्या :*— इस सूत्र में अष्टावक्र प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के स्वरूप को बताते हुए कहते हैं कि मूढ़ पुरुष चाहे सांसारिक पदार्थों को, घर-बार, पत्नी, बच्चों आदि को छोड़कर जंगल चला जाय, वह चाहे हाथी, घोड़े, हीरे, जवाहरात, महल आदि छोड़कर कोपीन धारण करके सन्यासी बन जाय, चाहे वह मुंडन करा ले, चाहे लोचन करे किन्तु जब तक उसमें अज्ञान है, मूढ़ता है, अहंकार है, वासना है, आसक्ति है, कुछ पाने की आकांक्षा है तब तक उसमें निवृत्ति नहीं, प्रवृत्ति ही है। उसने घर छोड़ कर आश्रम बना लिया, संसार से विरक्त होकर मोक्ष में प्रवृत्त हो गया, संसार की वासना छोड़कर स्वर्ग, मोक्ष, मुक्ति की नई वासना पकड़ ली इसलिए वह भी निवृत्त जैसा दीखता हुआ भी प्रवृत्त ही है। संसार का उपद्रव छोड़कर आश्रम में नया उपद्रव शुरू कर देगा। संसार में सम्मान नहीं मिल रहा था, आश्रम में सम्मान-प्राप्ति की वासना और बढ़ जाती है। इसलिए ऐसा व्यक्ति निवृत्त नहीं है। इसके विपरीत जिस ज्ञानी में वासना, अहंकार, आसक्ति आदि नहीं है वह संसार में प्रवृत्त रहता हुआ भी निवृत्ति का फल पा लेता है। प्रवृत्ति एवं निवृत्ति की कसौटी विषय नहीं बल्कि भीतरी वासना है।

## सूत्र ६२

**परिग्रहेषु वैराग्यं प्रायो मूढस्य दृश्यते।**
**देहे विगलिताशस्य क्व रागः क्व विरागता।।**

*अनुवाद :— "मूढ़ पुरुष का वैराग्य परिग्रह से देखा जाता है। लेकिन देह में गलित हो गई है आशा जिसकी, ऐसे ज्ञानी को कहाँ राग है? कहाँ वैराग्य?"*

*व्याख्या :*— इसी क्रम में अष्टावक्र कहते हैं कि परिग्रह का त्याग वैराग्य नहीं है किन्तु मूढ़ पुरुष धन, सम्पत्ति, घर-बार, राज्य, महल आदि परिग्रह के छोड़ने को ही वैराग्य समझता है। वे किसी त्याग का मूल्यांकन परिग्रह से ही करते हैं कि उसने कितना छोड़ा है। अधिक परिग्रह का त्याग करने वाला महान् त्यागी, महात्मा कहलाता

है। किन्तु यदि पाने की आशा में कुछ त्याग किया जाता है तो न वह त्याग है न वैराग्य। हजार रुपये पाने की आशा में यदि कोई सौ रुपया रिश्वत दे देता है या पाँच रुपया मंदिर में चढ़ा देता है या गरीबों को दान दे देता है तो वह न त्याग है न वैराग्य है। वह स्वार्थ मात्र है, वासना एवं तृष्णा ही है। अधिक को पाने के लिए क्षुद्र का त्याग तो मूढ़ भी कर सकता है तथा अधिकांश मूढ़ करते ही हैं। सोने को दूना बनाने के लालच में कितने लोग अपने स्वर्णाभूषण का त्याग कर देते हैं। यह मूढ़ता ही है, त्याग और वैराग्य नहीं है। राग और वैराग्य दोनों ही अज्ञान हैं। इसके विपरीत ज्ञानी जो आत्मा में रमण करने वाला है उसकी सभी सांसारिक आशाएँ छूट जाती हैं, वह संसार, उसकी सम्पत्ति, सुख आदि को क्षुद्र, नाशवान् एवं क्षणिक मान कर छोड़ देता है, वह न रागी है न विरागी। उसे कुछ भी छोड़ना नहीं पड़ता, न वह परिग्रह को ही पाप समझता है। वह यथास्थिति सुखपूर्वक रहता है। धन, सम्पत्ति का होना संसारी होने का लक्षण नहीं है, न उनको छोड़ देना वैराग्य होने का लक्षण है। यह मूढ़ों की दृष्टि है। ज्ञानी की नहीं। राग और विराग दोनों वासना के कारण होते हैं व वासना के रहते न ज्ञान है न मुक्ति।

# सूत्र ६३

**भावनाभावनासक्त दृष्टिर्मूढस्य सर्वदा।**
**भाव्यभावनया सा तु स्वस्थस्यादृष्टिरूपिणी।।**

*अनुवाद :— "मूर्ख पुरुष की दृष्टि सदा भावना और अभावना में लगी रहती है। जबकि स्वस्थ पुरुष (ज्ञानी) को दृष्टि भावना-अभावना से युक्त रह कर भी उनके प्रति अदृष्टि रूप ही रहती है।"*

*व्याख्या :—* इसी क्रम में अष्टावक्र कहते हैं कि मूढ़ पुरुष की दृष्टि सदा भावना और अभावना में ही लगी रहती है। वह हर समय इसी चिन्ता में लगा रहता है कि कितना मेरे पास है, कितने का और अभाव है जिसे पूरा करना है, किस प्रकार इन अभावों की पूर्ति की

जाय, किस छल-प्रपंच, तिकड़म, झूठ, बेईमानी आदि से इसे पूरा किया जाय तथा जो है उसकी रक्षा, उसका उपयोग किस प्रकार किया जाय। उसकी सारी बुद्धि, सारी चेतना इसी भाव और अभाव के घेरे में ही घूँमती रहती है। इससे परे वह कुछ भी नहीं सोच सकता। वह घाणी का बैल बनकर इनके इर्द-गिर्द ही चक्कर लगाता रहता है, न वह सुखपूर्वक इन्हें भोग सकता है न त्याग सकता है। उसकी साँप छछुन्दर सी गति हो जाती है किन्तु ज्ञानी की दृष्टि इन दोनों से ही मुक्त रहती है। वह न इसकी चिन्ता करता है कि उसके पास क्या है, न इसकी चिन्ता है कि किसका अभाव है। दोनों से दृष्टि हटाकर जो है उसी में संतुष्ट रहता है क्योंकि इस भाव और अभाव का विचार ही वासना के कारण आता है। ज्ञानी वासना-रहित हो जाने से इस घेरे से बाहर हो जाता है। वह भी भाव और अभावयुक्त तो रहता है किन्तु उसकी दृष्टि उन पर नहीं जाती है।

## सूत्र ६४

**सर्वारम्भेषु निष्कामो यश्चरेद्बालवन्मुनिः।**
**न लेपस्तस्य शुद्धस्य क्रियमाणेऽपि कर्मणि ।।**

*अनुवाद :— "जो मुनि बालक के समान व्यवहार करता है एवं कामना-रहित रूप से सभी कर्मों का आरंभ करता है, उस शुद्ध स्वरूप को क्रियमाण कर्म (किये हुए कर्म) भी लिप्त नहीं करते हैं।"*

*व्याख्या :—* कर्म बन्धन नहीं है, बन्धन है कामना, आसक्ति, अहंकार। ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनों कर्म तो करते ही हैं, करने ही पड़ते हैं किन्तु दोनों की दृष्टि में अन्तर होता है। अज्ञानी के कर्म कर्त्तापन से होते हैं। उनमें आसक्ति, कामना होती है, फलाकांक्षा होती है जिससे वे बन्धन का कारण बनते हैं जबकि ज्ञानी के कर्म स्वभाव से होते हैं, निष्काम होते हैं, उनके पीछे फलाकांक्षा नहीं होती, वे बालवत् खेल के समान होते हैं इसलिए वे बन्धन नहीं

बनते। ज्ञानी के संचित कर्म तो नष्ट हो जाते हैं, प्रारब्ध कर्म को वह भोग लेता है तथा कामनारहित होकर इस जन्म में जो कर्म करता है उन क्रियमाण कर्मों में चूँकि वह लिप्त नहीं होता इसलिए वे बन्धन नहीं बनते, न उनका फल भोगना पड़ता है। ज्ञानी को परम का सुख मिल जाता है इसलिए वह कर्मों द्वारा प्राप्त क्षुद्र सुख की कामना से रहित होकर कार्य करता है। उसके समस्त कार्य स्वभावगत एवं ईश्वरेच्छा से होते हैं। वह अपने को माध्यम बना देता है। स्वयं को कर्त्ता मानना ही बन्धन है।

# सूत्र ६५

**स एव धन्यः आत्मज्ञः सर्वभावेषु यः समः।**
**पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्निस्तर्षमानसः॥**

*अनुवाद :— "वही आत्म-ज्ञानी धन्य है जो मन का निस्तरण कर गया है और जो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ सब भावों में एकरस है।"*

***व्याख्या :***— आत्म-ज्ञान में दो ही मुख्य बाधाएँ हैं- शरीर और मन। अज्ञानी की समस्त क्रियाएँ इन दोनों से ही संचालित होती हैं। ज्ञानी इन दोनों के पार एक तीसरी शक्ति को भी जान लेता है जो इन सबका साक्षी है, वही समस्त कर्मों का आधार एवं ऊर्जा स्रोत है, वही सत्य एवं शाश्वत है। अष्टावक्र कहते हैं कि जो इस मन का निस्तरण कर गया है इस बड़ी बाधा को लाँघ गया है, जो इस मन की वैतरणी से पार हो गया है वही आत्म-ज्ञान का सुख प्राप्त कर सकता है। ऐसा आत्म-ज्ञानी धन्य है। मन के समस्त विकारों से ऊपर उठकर जिसने उस एक आत्म-तत्व का अनुभव कर लिया है वह ज्ञानी इन्द्रियगत समस्त कर्मों को करता हुआ भी (देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूँघना, खाना आदि) उनके सब भावों में एकरस रहता है। ये कर्म स्वभावगत एवं वासनारहित होते हैं।

—०—

# सूत्र ६६

**क्व संसारः क्व चाभासः क्व साध्यं क्व च साधनम् ।**
**आकाशस्येव धीरस्य निर्विकल्पस्य सर्वदा ।।**

*अनुवाद :— "सदैव आकाश के समान निर्विकल्प ज्ञानी को कहाँ संसार है? कहाँ आभास है? कहाँ साध्य है? कहाँ साधन है?"*

*व्याख्या :—* यह संसार मन का ही प्रक्षेपण है। जैसा मन है वैसा ही संसार दिखाई देता है। संसार में राग-द्वेष, लाभ-हानि, हर्ष-विषाद, सुख-दुःख जो भी दिखाई देता है सब मन का ही खेल है। इस के पार है चेतना, अस्तित्व, आत्मा जो मन का निस्तरण करने पर ज्ञात होती है। यह चेतना आकाश की भाँति स्वच्छ, निर्मल, निर्दोष है, निर्विकल्प है किन्तु वह मनरूपी विचारों के बादलों से घिरा होने के कारण दिखाई नहीं देता किन्तु वही समस्त सृष्टि का आधार है। जिस ज्ञानी का मन से तादात्म्य टूट गया उसका संसार विलुप्त हो गया, उसकी भ्रांति मिट गई, वह सत्य को उपलब्ध हो गया, वह साक्षी एवं दृष्टा हो गया, उसे वह सब मिल गया जिसे पाना था। ऐसे ज्ञानी के लिए न कोई साधना रह जाती है न साध्य, न स्वर्ग न मोक्ष, न आत्मा न परमात्मा। जहाँ पहुँचना था पहुँच गया, क्षुद्र छूट कर विराट् हो गया, मुक्त हो गया यही परम उपलब्धि थी जिसे पा लिया, निर्लिकल्प हो गया। यही ज्ञान की अन्तिम स्थिति है।

# सूत्र ६७

**स जयत्यर्थसंन्यासी पूर्णस्वरसविग्रहः ।**
**अकृत्रिमोऽनवच्छिन्ने समाधिर्यस्य वर्तते ।।**

*अनुवाद :— "वही सन्यासी जय को प्राप्त होता है जो पूर्णानन्दस्वरूप है तथा जिसकी सहज समाधि (अकृत्रिम) अनवछिन्न रूप से (निरंतर) विद्यमान रहती है।"*

*व्याख्या :—* सन्यास है आरंभ एवं समाधि है अन्त। जिस प्रकार विधिवत् शिक्षा प्राप्त करने हेतु विद्यार्थी किसी विद्यालय में प्रवेश लेता है तो उसे विद्यालय में अनुशासन, समय की पाबन्दी, नियमित पठन, स्वच्छ आचरण आदि का पालन करना पड़ता है तथा उसे विशेष प्रकर की पोशाक पहनने को भी कहा जाता है। इसी प्रकार अध्यात्म में आत्म-ज्ञान-प्राप्ति के मुमुक्षु व्यक्ति के विधिवत् शिक्षण के लिए सन्यास आरंभ है एवं इसकी समाप्ति होती है समाधि में जहाँ सन्यासी आत्म-ज्ञान को प्राप्त कर स्वयं पूर्णानन्दस्वरूप हो जाता है। सन्यास-अवस्था में उसे विभिन्न प्रकार के नियम, संयम एवं अनुशासन से गुजरना पड़ता है किन्तु आत्म-ज्ञान के बाद इनकी आवश्यकता नहीं होती। बाहरी नियम संयम आदि शरीर और मन को नियंत्रित करने के लिए आवश्यक हैं किन्तु ज्ञान-प्राप्ति के बाद ये स्वतः नियंत्रित हो जाते हैं। इन्हें जबरदस्ती रोकना नहीं पड़ता। समाधि में वह निरन्तर अपनी आत्मा में रमण करता है जो परमानन्दस्वरूप है। यही सन्यासी की सहज (अकृत्रिम) समाधि है। कुछ हठयोगी साँस रोकने का अभ्यास कर लेते हैं जिससे वे जमीनं के भीतर या बारह साँस रोक कर कई दिनों तक रह सकते हैं किन्तु आत्मा से उनका सम्बन्ध न होने से यह कृत्रिम समाधि ही है। ऐसी समाधि केवल प्रदर्शन की ही वस्तु है, आत्म-ज्ञान से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि जो सहज समाधि को प्राप्त कर निरंतर पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा में रमण करता है वही सन्यासी जय को प्राप्त होता है। यही उसकी अंतिम उपलब्धि है। प्रयत्न करने लगाई गई समाधि कृत्रिम है। ज्ञानी को सहज समाधि प्राप्त होती है।
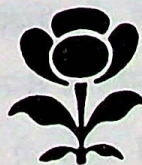
# सूत्र ६८

**बहुनात्र किमुक्तेन ज्ञाततत्वो महाशयः ।**
**भोगमोक्षनिराकाङ्क्षी सदा सर्वत्र नीरसः ।।**

*अनुवाद :— "यहाँ बहुत कहने से क्या प्रयोजन है? तत्व-ज्ञानी महाशय भोग और मोक्ष दोनों में निराकांक्षी, सदा और सर्वत्र रागरहित रहता है।"*

**_व्याख्या :—_ इसी क्रम में अष्टावक्र कहते हैं कि जो व्यक्ति इस तत्व-ज्ञान को उपलब्ध हो गया उसे सब कुछ मिल गया जिसे पाना था, इसलिए वह भोग और मोक्ष दोनों के प्रति निराकांक्षी हो जाता है तथा सदा और सर्वत्र रागरहित हो जाता है। इस स्थिति के बाद उसकी इच्छाएँ, वासनाएँ, राग, विराग आदि सभी प्रकार की चित्त की वृत्तियाँ पूर्ण शान्त होकर एक ही आत्म-तत्व में विलीन हो जाती हैं। जिस आत्म-तत्व से आरंभ हुआ था वहीं इनका फिर अन्त हो जाता है। जीवन-चक्र का यही आरंभ एवं यही अन्त है। यही पूर्णावस्था है। जिस प्रकार इस मानसिक सृष्टि का आरंभ एवं अन्त इसी आत्म-तत्व से है उसी प्रकार इस भौतिक सृष्टि का आरंभ और अन्त इसी ब्रह्म-तत्व से है। दोनों ही प्रकार की क्रियाओं का यही आधार है। अहं के कारण जिन भिन्नताओं की प्रतीति हो रही थी उसका अन्त होकर सर्वत्र एकत्व का अनुभव होना ही परम उपलब्धि है। यही अद्वैत की अवस्था है।**

# सूत्र ६९

**महदादि जगद्द्वैतं नाममात्रविजृम्भितम् ।**
**विहाय शुद्धबोधस्य किं कृत्यमवशिष्यते ।।**

*अनुवाद :— "महत्तत्व आदि जो द्वैत-जगत् है वह नाम मात्र को ही भिन्न है। उसका त्याग कर देने के बाद शुद्ध बोध वाले का कौन-सा कार्य शेष रह जाता है।"*

*व्याख्या :—* इस सम्पूर्ण जगत् में जो भिन्नताएँ दिखाई देती हैं वे सब रूप, रंग, गुण आदि के कारण हैं जो भ्रान्तिवश भिन्न प्रतीत होती हैं। यह भिन्नता अज्ञान मात्र है जो द्वैत का आधार है। एक ही चैतन्य ब्रह्म विभिन्न क्रियारूपों में प्रकट होता है जिसे महत्, अहंकार, पंचतन्मात्रा, पंच महाभूत आदि कहते हैं। ये नाम मात्र को ही भिन्न हैं अन्यथा ये ब्रह्म ही के विभिन्न स्वरूप हैं। इनके भिन्न-भिन्न नाम देने से ही भिन्नता की प्रतीति होती है अन्यथा ये भिन्न नहीं हैं। बाहर से भिन्न दिखाई देने पर भी भीतर से संयुक्त हैं, अभिन्न हैं। इस भ्रान्ति अथवा अज्ञान के कारण ही विभिन्न प्रकार के कर्म करने पड़ते हैं एवं इसी अज्ञान को मिटाने के लिए विभिन्न प्रकार की साधनाएँ योग, भक्ति, कर्म, ध्यान आदि करने पड़ते हैं किन्तु अष्टावक्र कहते हैं कि जिसे आत्म-बोध हो गया, जिसने उस परम-तत्व को जान लिया उसका यह सम्पूर्ण द्वैत जगत् छूट जाता है एवं ऐसा ज्ञानी उस अद्वैत आत्मा में ही स्थित हो जाता है। अहंकार एवं वासना के कारण संसार में जितने सम्बन्ध निर्मित किये थे, जितना परिग्रह, अधिकार, व्यक्तिगत दावे किये थे वे सब मिथ्या सिद्ध हो जाने से छूट जाते हैं। इसके बाद ज्ञानी का कोई कार्य शेष नहीं रह जाता। ज्ञानी न कुछ छोड़ता है न पाता है। केवल अज्ञान अथवा भ्रान्ति छूटती है और सत्य एवं ज्ञान को प्राप्त होता है। अज्ञानी भ्रम में ही जीता है एवं अज्ञान ही उसका संसार है। ज्ञानी और अज्ञानी में यही अन्तर होता है।

## सूत्र ७०

**भ्रमभूतमिदं सर्वं किञ्चिन्नास्तीति निश्चयी।**
**अलक्ष्यस्फुरणः शुद्धः स्वभावेनैव शाम्यति।।**

*अनुवाद :— "यह समस्त भ्रमरूप जगत् प्रपंच कुछ नहीं है, ऐसा निश्चयपूर्वक जानकर अलक्ष्य (आत्मा) की स्फुरण वाला शुद्ध पुरुष स्वभाव से ही शान्त होता है।"*

*व्याख्या :—* आत्म-ज्ञान के बाद व्यक्ति स्वभाव से ही शान्त हो

जाता है। उसे शांति के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, कोई जप, तप, नियम, हठयोग, शीर्षासन, ध्यान कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि ज्ञान की स्थिति में उसे यह समस्त जगत् प्रपंच भ्रमरूप ज्ञात होने लगता है जैसे यह कुछ भी नहीं है। संसार का यह सारा खेल इन्द्रिय, अहंकार एवं वासना के कारण भिन्न प्रकार का दिखाई देता है। ज्ञान की स्थिति में ही इसके सत्य स्वरूप का बोध होता है। अन्यथा नहीं। इसलिए अज्ञान की स्थिति में चित्त की शांति के लिए किये गये समस्त विधि-विधान अशांति को और बढ़ाते ही हैं। चित्त में हजार प्रकार की विकृतियाँ हैं जिनसे यह संसार वैसा ही दिखाई देता है। आँख पर जैसा चश्मा चढ़ा होगा वैसा ही संसार दिखाई देगा। उसका वास्तविक स्वरूप अज्ञान के पर्दे के कारण कभी दिखाई नहीं दे सकता। इसलिए इसे प्रपंच, माया, भ्रम, मिथ्या आदि कहा गया है। ज्ञान-प्राप्ति पर इसका सत्य स्वरूप प्रकट होता है एवं भ्रान्तियाँ सभी मिट जाती हैं। ऐसा पुरुष ही शांत चित्त वाला होता है। यह शांति उसकी स्वाभाविक होती है।

# सूत्र ७१

**शुद्धस्फुरणरूपस्य दृश्यभावमपश्यतः।**
**क्व विधिः क्व च वैराग्यं क्व त्यागः क्व शमोऽपि वा।।**

*अनुवाद :— "दृश्य भाव को नहीं देखते हुए शुद्ध स्फुरणरूप (आत्मा) का अनुभव करने वाले (ज्ञानी) को कहाँ विधि है? और कहाँ वैराग्य है? कहाँ त्याग है? और कहाँ शांति है?"*

*व्याख्या :—* परमात्मा का कोई कारण नहीं है। वही सबका कारण है। उसे किसी ने बनाया नहीं, वही सबको बनाने वाला है। वह मूलभूत है। विज्ञान सृष्टि में १०६ तत्व मानता है, अध्यात्म उससे भी आगे की बात कहता है कि वह मूल तत्व एक ही है। १०६ तत्व भी तत्व नहीं हैं यौगिक ही हैं। उसी एक तत्व को अध्यात्म ने 'ब्रह्म' नाम दिया। सारी सृष्टि उसी की अभिव्यक्ति है, उसी का फैलाव मात्र है। यह सृष्टि बनाई गई, इसे बनाने का न कोई कारण

है न उद्देश्य। मूढ़ लोग ही सृष्टि बनाने का कारण और उद्देश्य खोजते हैं। सृष्टि उस शक्ति का सहज स्फुरण है, जो अपने आप हो रहा है। किसी निश्चित उद्देश्य से नहीं किया जा रहा है। इसीलिए इसे लीला, खेल आदि कहा गया है। चिड़ियाएँ चहचहाती हैं, मोर नाचते हैं, पक्षी उड़ते हैं, बच्चा उछलता-कूदता है, फूल खिलते हैं, झरने बहते हैं, मनुष्य कामसक्त होता है, आदि सब उस चैतन्य का सहज स्फुरण मात्र है। इसके पीछे परमात्मा की न कोई इच्छा है न उद्देश्य। किन्तु मूढ़ों ने इन सबका उद्देश्य निश्चित कर दिया। वे कहते हैं परमात्मा ने संसार इसलिए बनाया कि तुम मुक्त हो सको तुम अपने पापों का प्रक्षालन कर सको, तुम ज्ञान को उपलब्ध हो सको आदि। ये सब विकृत मस्तिष्क की मूढ़तापूर्ण दृष्टि है। अष्टावक्र कहते हैं कि ऐसी मूढ़तापूर्ण दृष्टि अज्ञानी की ही होती है इसीलिए वह अपने को मुक्त करने के लिए अनेक प्रकार की विधियाँ अपनाता है संसार से वैराग्य ले लेता है, घर छोड़कर जंगल भाग जाता है, घर-गृहस्थी, धन-सम्पत्ति सबका त्याग कर देता है। वह यह सोचता है कि यहाँ छोड़ने से उसे स्वर्ग में मिल जायेंगे। कुछ लोग मृत्यु के समय दान आदि देते हैं जिससे ये वस्तुएँ आत्मा के साथ-साथ चलती रहें। कुछ लोग अधिक बुद्धिमान होते हैं वे इस सामग्री को अग्रिम मृत्यु से पूर्व ही भेज देते हैं जिससे मरने पर आगे पहले से ही तैयार मिले। ये सब मूढ़ताएँ हैं। किन्तु ज्ञानी इन दृष्य भावों को नहीं देखता है। वह उस शुद्ध स्फुरणरूप आत्मा को ही देखता है, उसकी का अनुभव करता है। ऐसे ज्ञानी के लिए न कोई विधि शेष रह जाती है, न उसे वैराग्य की आवश्यकता है, न त्याग की। वह परम शांत अवस्था में रहता है। शान्ति के लिए प्रयत्न भी नहीं करता।

## सूत्र ७२

स्फुरतोऽनन्तरूपेण प्रकृतिं च न पश्यतः।
क्व बन्धः क्व च वा मोक्षः क्व हर्षः क्व विषादता ।।

*अनुवाद :—* "और अनन्त रूपों में स्फुरित प्रकृति (माया) को नहीं देखते हुए ज्ञानी को कहाँ बन्ध है? और कहाँ मोक्ष है? कहाँ हर्ष है? कहाँ शोक है?"

**व्याख्या :—** यह सृष्टि आत्मा का स्फुरण मात्र है जो अनन्त रूपों में स्फुरित हुई है। सृष्टि में जो अनन्त रूप दिखाई देते हैं वे सब प्रकृतिजन्य हैं, मायारूप हैं। यह स्फुरण शक्ति का प्रदर्शन है। चेतन-तत्व आत्मा सूक्ष्म रूप से इसमें व्याप्त है। अज्ञानी इस स्थूल प्रकृति को ही देखता है व इसी से लुभायमान होता है। वह इसी को सब कुछ समझता है यही उसका बन्ध है किन्तु ज्ञानी इस जड़-प्रकृति को माया-रूप समझकर केवल उसके कारणस्वरूप आत्मा (चैतन्य) में विश्राम कर स्थित रहता है इसलिए उसके लिए यह प्रकृति बन्ध नहीं हो सकती। जब बन्ध ही नहीं तो मोक्ष किसका? अतः ज्ञानी बन्ध और मोक्ष की कल्पना भी नहीं करता। सारे हर्ष और शोक प्रकृतिजन्य हैं, द्वन्द्व के कारण हैं, स्वयं को मन और शरीर समझने के कारण हैं। चेतना को उपलब्ध हुए ज्ञानी को न हर्ष है न शोक। यह परमानन्द की स्थिति है जिसमें वह स्थित रहता है।

# सूत्र ७३

**बुद्धिपर्यन्तसंसारे मायामात्रं विवर्त्तते।**
**निर्ममो निरहङ्कारो निष्कामः शोभते बुधः ।।**

*अनुवाद :—* "बुद्धिपर्यन्त संसार में जहाँ माया ही माया भासती है वहाँ ममतारहित, अहंकाररहित और कामनारहित ज्ञानी ही शोभता है।"

**व्याख्या :—** संसार में क्या है? मोह है, ममता है, राग है, द्वेष है, ईर्ष्या है, घृणा है, प्रेम है, कामना है, तृष्णा है, अहंकार है, काम है, लोभ है आदि यही सब कुछ है। इसी का नाम है संसार। किन्तु यह सब इस प्रकृतिजन्य सृष्टि को सत्य मानने के कारण है जो भ्रम है, माया है। इसी अज्ञान के कारण जीव विभिन्न कष्टों को झेलता

है। बुद्धि से भी विचार पैदा होते हैं। यह भी मन को सन्तुष्ट करने के लिए ही कार्य करती है तथा अच्छे-बुरे, सद्-असद् का भेद करती है। यह मन की ही चाटुकार सेवक है। अतः अष्टावक्र कहते हैं कि बुद्धिपर्यन्त संसार में माया ही माया है। इसमें सत्य कहीं भी नहीं है। सत्य है केवल आत्मा। जिस ज्ञानी ने आत्मा को जान लिया वह ममतारहित, अहंकाररहित एवं कामनारहित हो जाता है। यह क्षुद्र वासनामय जगत् फिर उसे प्रभावित नहीं कर सकता। ऐसा ज्ञानी ही शोभता है। अज्ञानी इस प्रकृतिजन्य सृष्टि में क्षुद्र ममता, अहंकार एवं कामना में ही जीता है इसलिए ऐसा क्षुद्राशय शोभा नहीं देता।

## सूत्र ७४

**अक्षयं गतसंतापमात्मानं पश्यतो मुनेः।**
**क्व विद्या क्व च वा विश्वं क्व देहोऽहं ममेति वा।।**

*अनुवाद :—* *"अविनाशी और सन्तापरहित आत्मा को देखने वाले मुनि को कहाँ विद्या? और कहाँ विश्व (अविद्या)? कहाँ देह? और कहाँ अहंता ममता है?"*

*व्याख्या :—* अज्ञानियों के अनेक मत होते हैं, अनेक विचार एवं धारणाएँ होती हैं। उनके मत सत्य पर नहीं, दुराग्रह पर आधारित होते हैं। वे सत्य जानना नहीं चाहते बल्कि जिसे वे मानते हैं उसी को सत्य सिद्ध करना चाहते हैं। इसी से फैलती है साम्प्रदायिकता, विरोध, वैमनस्य, हिंसा, घृणा आदि। किन्तु ज्ञानी सत्य को जानता है। वह दुराग्रही नहीं होता। इसीलिए सभी ज्ञानी एक ही मत के होते हैं। हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई का भेद उनमें नहीं होता। ऐसे ज्ञानी कहते हैं कि परमात्मा तुमसे भिन्न नहीं है। वह कहीं आकाश में बैठा शासन नहीं कर रहा है। न वह स्वर्ग में है, न मंदिर में, न मस्जिद व गिरजाघर में। वह बाहर भी नहीं है जो ढूंढने से मिल जाय, वह कोई पदार्थ भी नहीं है कि आँखों से दिखाई दे। ऐसी समस्त धारणाएँ बचकानी हैं, मूर्खतापूर्ण हैं। जिसे आत्म-ज्ञान नहीं हुआ, जो मानसिक धरातल से ऊपर नहीं उठे वे ही ऐसे परमात्मा की बातें

*अनुवाद :— "और अनन्त रूपों में स्फुरित प्रकृति (माया) को नहीं देखते हुए ज्ञानी को कहाँ बन्ध है? और कहाँ मोक्ष है? कहाँ हर्ष है? कहाँ शोक है?"*

***व्याख्या :—*** **यह सृष्टि आत्मा का स्फुरण मात्र है जो अनन्त रूपों में स्फुरित हुई है। सृष्टि में जो अनन्त रूप दिखाई देते हैं वे सब प्रकृतिजन्य हैं, मायारूप हैं। यह स्फुरण शक्ति का प्रदर्शन है। चेतन-तत्व आत्मा सूक्ष्म रूप से इसमें व्याप्त है। अज्ञानी इस स्थूल प्रकृति को ही देखता है व इसी से लुभायमान होता है। वह इसी को सब कुछ समझता है यही उसका बन्ध है किन्तु ज्ञानी इस जड़-प्रकृति को माया-रूप समझकर केवल उसके कारणस्वरूप आत्मा (चैतन्य) में विश्राम कर स्थित रहता है इसलिए उसके लिए यह प्रकृति बन्ध नहीं हो सकती। जब बन्ध ही नहीं तो मोक्ष किसका? अतः ज्ञानी बन्ध और मोक्ष की कल्पना भी नहीं करता। सारे हर्ष और शोक प्रकृतिजन्य हैं, द्वन्द्व के कारण हैं, स्वयं को मन और शरीर समझने के कारण हैं। चेतना को उपलब्ध हुए ज्ञानी को न हर्ष है न शोक। यह परमानन्द की स्थिति है जिसमें वह स्थित रहता है।**

# सूत्र ७३

**बुद्धिपर्यन्तसंसारे मायामात्रं विवर्त्तते।**
**निर्ममो निरहङ्कारो निष्कामः शोभते बुधः।।**

*अनुवाद :— "बुद्धिपर्यन्त संसार में जहाँ माया ही माया भासती है वहाँ ममतारहित, अहंकाररहित और कामनारहित ज्ञानी ही शोभता है।"*

***व्याख्या :—*** **संसार में क्या है? मोह है, ममता है, राग है, द्वेष है, ईर्ष्या है, घृणा है, प्रेम है, कामना है, तृष्णा है, अहंकार है, काम है, लोभ है आदि यही सब कुछ है। इसी का नाम है संसार। किन्तु यह सब इस प्रकृतिजन्य सृष्टि को सत्य मानने के कारण है जो भ्रम है, माया है। इसी अज्ञान के कारण जीव विभिन्न कष्टों को झेलता**

है। बुद्धि से भी विचार पैदा होते हैं। यह भी मन को सन्तुष्ट करने के लिए ही कार्य करती है तथा अच्छे-बुरे, सद्-असद् का भेद करती है। यह मन की ही चाटुकार सेवक है। अतः अष्टावक्र कहते हैं कि बुद्धिपर्यन्त संसार में माया ही माया है। इसमें सत्य कहीं भी नहीं है। सत्य है केवल आत्मा। जिस ज्ञानी ने आत्मा को जान लिया वह ममतारहित, अहंकाररहित एवं कामनारहित हो जाता है। यह क्षुद्र वासनामय जगत् फिर उसे प्रभावित नहीं कर सकता। ऐसा ज्ञानी ही शोभता है। अज्ञानी इस प्रकृतिजन्य सृष्टि में क्षुद्र ममता, अहंकार एवं कामना में ही जीता है इसलिए ऐसा क्षुद्राशय शोभा नहीं देता।

# सूत्र ७४

**अक्षयं गतसंतापमात्मानं पश्यतो मुनेः।**
**क्व विद्या क्व च वा विश्वं क्व देहोऽहं ममेति वा ।।**

*अनुवाद :— "अविनाशी और सन्तापरहित आत्मा को देखने वाले मुनि को कहाँ विद्या? और कहाँ विश्व (अविद्या)? कहाँ देह? और कहाँ अहंता ममता है?"*

*व्याख्या :—* अज्ञानियों के अनेक मत होते हैं, अनेक विचार एवं धारणाएँ होती हैं। उनके मत सत्य पर नहीं, दुराग्रह पर आधारित होते हैं। वे सत्य जानना नहीं चाहते बल्कि जिसे वे मानते हैं उसी को सत्य सिद्ध करना चाहते हैं। इसी से फैलती है साम्प्रदायिकता, विरोध, वैमनस्य, हिंसा, घृणा आदि। किन्तु ज्ञानी सत्य को जानता है। वह दुराग्रही नहीं होता। इसीलिए सभी ज्ञानी एक ही मत के होते हैं। हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई का भेद उनमें नहीं होता। ऐसे ज्ञानी कहते हैं कि परमात्मा तुमसे भिन्न नहीं है। वह कहीं आकाश में बैठा शासन नहीं कर रहा है। न वह स्वर्ग में है, न मंदिर में, न मस्जिद व गिरजाघर में। वह बाहर भी नहीं है जो ढूंढने से मिल जाय, वह कोई पदार्थ भी नहीं है कि आँखों से दिखाई दे। ऐसी समस्त धारणाएँ बचकानी हैं, मूर्खतापूर्ण हैं। जिसे आत्म-ज्ञान नहीं हुआ, जो मानसिक धरातल से ऊपर नहीं उठे वे ही ऐसे परमात्मा की बातें

कहते हैं किन्तु जिसे आत्मानुभूति हुई है वे कहते हैं कि यह परमात्मा ऊर्जा का सागर है। समस्त सृष्टि इसी ऊर्जा की अभिव्यक्ति मात्र है, सब इसी ऊर्जा का खेल है। शरीरस्थ आत्मा वही ऊर्जा है जिसे परमात्मा कहा जाता है। इससे भिन्न कोई परमात्मा नहीं है। जिस ज्ञानी ने इस अविनाशी, संतापरहित आत्मा को जान लिया उसने सब कुछ जान लिया सब कुछ पा लिया। उसके लिए फिर विद्या तथा अविद्या, ज्ञान तथा संसार, देह तथा अहंता-ममता आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। ये सब अज्ञानजनित हैं जो अज्ञानी को ही प्रभावित करते हैं। ज्ञानी केवल आत्मा को जानने वाला होता है जिससे अज्ञानजनित ये सारी भ्रान्तियाँ मिट जाती हैं।

# सूत्र ७५

**निरोधादीनि कर्माणि जहाति जडधीर्यदि।**
**मनोरथान्प्रलापांश्च कर्तुमाप्नोति तत्क्षणात्।।**

*अनुवाद :— "यदि जड़-बुद्धि मनुष्य निरोधादि कर्मों को छोड़ता भी है तो वह तत्क्षण मनोरथों और प्रलापों को पूरा करने में प्रवृत्त हो जाता है।"*

*व्याख्या :—* मनुष्य के समस्त कर्म, व्यवहार एवं आचरण चित्त की वृत्तियों का प्रक्षेपण मात्र हैं। जैसी चित्त की वृत्तियाँ होंगी, जैसा उसका मन होगा वैसे ही उसके कर्म एवं आचरण होंगे। आचरण एवं कर्म बदलने से मन नहीं बदलता। पतंजलि कहते हैं कि 'चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है' किन्तु अष्टावक्र कहते हैं कि इस निरोध के लिए जो कर्म किये जाते हैं उनसे चित्त का निरोध नहीं होता बल्कि वे कर्म भी चित्त की चंचलता को और बढ़ा देते हैं क्योंकि प्रयत्नों से किये गये निरोधादि कर्मों के पीछे वासनाएँ, अपेक्षाएँ, कामनाएँ आदि जुड़ी रहती हैं फिर निरोध कैसे होगा? इसलिए चित्त के निरोध के लिए किये गये सभी कर्मों का एवं आचरण का त्याग करना चाहिए। कर्म मात्र वासना से प्रेरित होते हैं इसलिए ये भी बन्धन बन जाते हैं जिससे ज्ञान नहीं हो सकता। अष्टावक्र का सारा

**उपदेश यही है कि जो कुछ प्राप्त होगा वह बोध से ही होगा, कर्म से नहीं क्योंकि कर्म में अहंकार, वासना, फलाकांक्षा होगी जिससे चित्त का निरोध नहीं हो सकता। इसलिए समस्त निरोध-कर्म जैसे ध्यान और समाधि को भी छोड़ देना चाहिए तभी उपलब्धि होगी किन्तु यदि कोई मूढ़ या जड़-बुद्धि मनुष्य इन कर्मों को छोड़ता भी है तो भी उसके भीतर मनोरथ होते हैं, आकांक्षाएँ, वासनाएँ होती हैं, अहंकार होता है जिनको पूरा करने में वह प्रवृत्त हो जाता है जिससे वह आत्म-ज्ञान से वंचित ही रहता है। इसका सार यही है कि चित्त की पूर्ण शांत अवस्था में ही आत्म-ज्ञान संभव है। निरोधादि कर्मों को करने या उन्हें उद्देश्य पूर्ति हेतु त्यागने से नहीं होता। आचरण एवं कर्मों को करना या छोड़ना महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण है मूढ़ता छोड़ना, अज्ञान अथवा भ्रांति को छोड़ना।**

# सूत्र ७६

## मन्दः श्रुत्वापि तद्वस्तु न जहाति विमूढ़ताम्।
## निर्विकल्पो बहिर्यत्नादन्तर्विषयलालसः।।

*अनुवाद :— "मन्द बुद्धि उस तत्व को सुनकर भी मूढ़ता को नहीं छोड़ता है। वह बाह्य प्रयत्न में निर्विकल्प होकर मन में विषयों की लालसा वाला होता है।"*

***व्याख्या :—*** **मनुष्य में अनेक प्रकार की मूढ़ताएँ हैं। अहंकार, वासना, कामना, फलाकांक्षा आदि मूढ़ताएँ ही हैं। इनके रहते जो भी कर्म, आचरण एवं व्यवहारादि होंगे सभी मूढ़तापूर्ण होंगे। जनक निर्मल चित्त वाले होने से ही अष्टावक्र का आत्म-ज्ञान का उपदेश सुनकर ही उपलब्ध हो गये किन्तु जो मन्द बुद्धि वाले हैं, वे ऐसा तत्व-ज्ञान सुनकर भी भीतर अहंकार, कामना, वासना, इच्छायें आदि को नहीं छोड़ते, जिससे वे आत्म-ज्ञान से वंचित ही रहते हैं। ऐसा मूढ़ बाह्य प्रयत्नों में निर्विकल्प चाहे हो जाय, चाहे वह ज्ञानी की भाँति सारे कर्म करने लग जाय, वासना, अहंकार, कामना आदि को त्यागने के सारे नाटक कर ले तो भी वह मन में विषयों की**

लालसा वाला ही होता है क्योंकि मन्द बुद्धि है। मन्द बुद्धि वाले आचरण को ग्रहण और त्याग से ही समझ सकते हैं भीतर के गूढ़ तत्व को वे नहीं समझ सकते इसलिए वे कभी उपलब्ध नहीं हो सकते।

## सूत्र ७७

**ज्ञानाद्गलितकर्मा यो लोकदृष्ट्यापि कर्मकृत्।**
**नाप्नोऽत्यवसरं कर्तुं वक्तुमेव न किञ्चन।।**

*अनुवाद :— "ज्ञान से नष्ट हुआ है कर्म जिसका, ऐसा ज्ञानी लोक-दृष्टि में कर्म करने वाला भी है लेकिन वह न कुछ करने का अवसर पाता है न कहने का ही।"*

*व्याख्या :—* कर्म तो ज्ञानी भी करता है व अज्ञानी भी किन्तु दोनों के कर्मों में बाह्य अन्तर न होते हुए भी भीतर बड़ा अन्तर होता है। ज्ञानी के कर्म स्वभाव से होते हैं, लोकहितार्थ होते हैं, आवश्यक एवं नैमित्तक कर्म होते हैं, वह कर्म को ईश्वरेच्छा समझ कर करता है। उनके पीछे कोई वासना, फलाकांक्षा, अहंकार आदि नहीं होते जबकि अज्ञानी के कर्मों के पीछे फल-प्राप्ति की इच्छा रहती है, अहंकार रहता है। अज्ञानी यदि लोक-हितार्थ कर्म भी करता तो भी उसके पीछे सम्मान-प्राप्ति, यश-प्राप्ति, स्वर्ग-प्राप्ति आदि की इच्छा रहती ही है। अज्ञानी ऐसे कर्मों का अवसर ढूंढता रहता है कि कहीं उसे सेवा करने का अवसर मिल जाए तो उसके लिए स्वर्ग के द्वार खुल जायें। उसको लोकहित, सेवा, समाजसेवा, दान, पुण्य, धर्म आदि में दूसरों की चिन्ता नहीं है, चिन्ता मात्र स्वयं के स्वर्ग-प्राप्ति की है जिसके लिए वह अवसर ढूंढता रहता है। किन्तु अष्टावक्र कहते हैं कि ज्ञान से कर्म नष्ट हो जाते हैं। फिर ज्ञानी को कर्म करने की आवश्कयता ही नहीं होती किन्तु ऐसा ज्ञानी भी लोक-दृष्टि से कर्म करता है, जो लोकहित में है। जिन्हें करना आवश्यक है वह कर लेता है। वह स्वर्ग-प्राप्ति की दृष्टि से या फलाकांक्षा से कोई कर्म नहीं करता, न ऐसे कर्मों को ढूंढता ही है जिसका फल मिले, न वह

ऐसा ही कहता है कि मैंने ऐसा किया है क्योंकि उसमें अहंकार नहीं होता। यही कर्म की कुशलता है जिसे केवल ज्ञानी ही उपलब्ध होता है।

# सूत्र ७८

**क्व तमः क्व प्रकाशो वा हानं क्व च न किञ्चन।**
**निर्विकारस्य धीरस्य निरातंकस्य सर्वदा॥**

*अनुवाद :— "सर्वदा निर्भय और निर्विकार धीर पुरुष को कहाँ अन्धकार है? कहाँ प्रकाश है? और कहाँ त्याग है? कहीं कुछ भी नहीं है।"*

***व्याख्या :—*** **चित्त में वृत्तियाँ हैं, वासनाएँ हैं, कामनाएँ हैं। अनेक जन्मों में जो कुछ मिला है उस ही का संग्रहीत नाम चित्त है। बुद्धि इनका सद् तथा असद् में विभाजन करती है, सुख-दुःख, लाभ-हानि, प्रेम-घृणा, हिंसा-अहिंसा, प्रकाश-अन्धकार, त्याग-ग्रहण आदि का विभाजन करती है किन्तु अस्तित्व में भिन्न कुछ भी नहीं है। वहाँ सब संयुक्त हैं। एक ही सिक्के के दो पक्ष की भाँति हैं जहाँ या तो दोनों रहेंगे या दोनों हटेंगे। एक को हटाने और दूसरे को बचाने का कोई उपाय नहीं है। यदि मृत्यु को हटा दिया जाये तो जन्म भी नहीं होगा, यदि बेईमानी हटा दी जाय तो ईमानदारी भी नहीं रहेगी, यदि घृणा हटा दी जाय तो प्रेम भी समाप्त हो जायगा, यदि पापी नहीं होंगे तो ये मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे भी नहीं होंगे, यदि बीमारी नहीं होगी तो स्वास्थ्य भी नहीं होगा, यदि असाधु नहीं होंगे तो इन साधुओं को भी विदाई देनी पड़ेगी। ये सब संयुक्त हैं, एक दूसरे पर आश्रित हैं। एक को हटाकर दूसरे को बचाया ही नहीं जा सकता। यदि रावण को हटा दिया जाय तो राम की कहानी भी नहीं बनती। किन्तु नैतिक व्यक्ति दोनों में भेद करता है। वह बुरे को हटाकर अच्छे को लाना चाहता है, वह अन्धकार को हटाकर प्रकाश को लाना चाहता है। इसके विपरीत धार्मिक व्यक्ति सब कुछ ईश्वरीय समझकर दोनों को स्वीकार कर लेता है जबकि ज्ञानी**

उस एक आत्मा को जान कर सर्वदा निर्भय और निर्विकार हो जाता है। उसकी यह भेद-दृष्टि ही समाप्त हो जाती है। वह प्रकाश, अन्धकार, ग्रहण, त्याग आदि में कोई भेद ही नहीं समझता। स्वभाव से जो होता है वह कर लेता है एवं सर्वदा परमानन्दस्वरूप आत्मा में ही स्थित रहता है।

# सूत्र ७९

**क्व धैर्यं क्व विवेकित्वं क्व निरातंकताऽपि वा।**
**अनिर्वाच्यस्वभावस्य निःस्वभावस्य योगिनः।।**

*अनुवाद :— "अनिर्वचनीय स्वभाव वाले और स्वभावरहित योगी को कहाँ धीरता है? कहाँ विवेकिता है? अथवा कहाँ निर्भयता है?"*

***व्याख्या :—*** जहाँ भय है वहीं निर्भयता होती है, जहाँ मूढ़ता है वहीं विवेकिता पैदा होती है, जहाँ व्याकुलता है वहीं धैर्य की बात सोची जाती है किन्तु योगी जिसने उस परम रस को जान लिया, सदा उसी में निमग्न रहता है, उसका स्वभाव अनिर्वचनीय हो जाता है, सभी द्वन्दवों से पार एक रस हो जाता है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह न सिद्धान्तों में जीता है, न किसी मान्यताओं और परम्पराओं में, न वह रूढ़ियों में जीता है न आदतों में। उसके लिए यह कहना ही कठिन हो जाता है कि वह किस स्वभाव वाला है क्योंकि वह स्वभावरहित होता है। वह अपना कोई स्वभाव, कोई आदत बनाता ही नहीं। वह आत्मा के स्वभाव के अनुकूल चलता है जिसे संसारी नहीं जान सकते। अज्ञानी ही नियम, संयम, मर्यादा, अनुशासन, सिद्धान्त, कर्तव्य, विवेक आदि में बँधकर जीता है। ज्ञानी पूर्ण स्वतंन्त्रता का उपयोग करता है। वह इन क्षुद्र बन्धनों से सदा मुक्त रह कर व्यवहार करता है जिससे पहचानना कठिन होता है।

—०—

# सूत्र ८०

**न स्वर्गो नैव नरको जीवन्मुक्तिर्न चैव हि।**
**बहुनात्र किमुक्तेन योगदृष्ट्या न किञ्चन।।**

*अनुवाद :— "योगी को न स्वर्ग है, न नरक है, न जीवन्मुक्ति ही है। इसमें बहुत कहने से क्या प्रयोजन योग की दृष्टि से कुछ भी नहीं है।"*

*व्याख्या :—* भारतीय मनीषियों ने इस अध्यात्म पर जितना चिन्तन, मनन एवं खोज की है उतनी कोई धर्म नहीं कर सका है। ईसाई, यहूदी एवं मुस्लिम धर्म स्वर्ग-नरक से आगे की बात नहीं कह सके। मुक्ति की उनकी कोई कल्पना भी नहीं है। उन्होंने ईश्वर को भी व्यक्ति मान लिया व आकाश में कहीं बिठा दिया जहाँ से उसने सात दिन में सृष्टि का निर्माण कर दिया व वहीं से इसका संचालन कर रहा है। वह दण्ड भी देता है, पुरस्कार भी देता है, स्वर्ग और नरक में भी अपनी इच्छा से भेज देता है, वह दयालु भी है क्षमा भी कर देता है। महावीर ने ब्रह्म जैसी शक्ति को मानने से इन्कार कर दिया एवं आत्माओं को भी अनेक मान लिया जबकि यह अनेकता मन के तल तक ही दिखाई देती है। आत्म-ज्ञान मन के तल से आगे की स्थिति है जहाँ पहुँच कर सभी भिन्नताएँ समाप्त हो जाती हैं। मृत्यु के उपरान्त केवल शरीर छूटता है बाकी सूक्ष्म शरीर, मन, चित्त, अहंकार आदि सभी लेकर वह जीवात्मा अपनी अगली यात्रा पर निकलती है। पुनर्जन्म से पूर्व वह जीवात्मा एक निश्चित अवधि तक अन्तराल में भटकती रहती है। वहाँ अपने अहंकार एवं वासना आदि के कारण सुख-दुःख का अनुभव करती है। सरल आत्माएँ सुख एवं दुष्ट आत्माएँ दुःख का अनुभव करती हैं। यही उनका स्वर्ग और नरक है। यह स्वर्ग और नरक चित्त की ही दशाएँ हैं जो प्राथमिक चरण हैं। मुक्ति इनसे पार की अवस्था है। योग केवल आत्मा को ही मानता है। अष्टावक्र कहते हैं कि यह सृष्टि भ्रम है, स्वर्ग, नरक, जीवन्मुक्ति सभी भ्रम हैं जो अज्ञान के कारण, अहंकार एवं वासना के कारण प्रतीत होते हैं अतः सभी मिथ्या हैं। स्वर्ग एवं

नरक भी वासना ही हैं। जब वासना एवं अहंकार समाप्त हो जाते हैं तो केवल आत्मा ही शेष रहती है और वही सत्य है। अन्य सभी भ्रान्तियाँ हैं। वासना एवं अहंकार से मुक्त पुरुष ब्रह्म ही है। बीच की स्थिति स्वर्ग, नरक आदि वासना का ही फैलाव मात्र है। यह कोई उपलब्धि नहीं है। सम्पूर्ण सृष्टि का आरंभ और अन्त यही ब्रह्म है। जीवात्मा का यही सर्वोच्च शिखर है, यही मंजिल है। योग की यही मान्यता सर्वोपरि है।

# सूत्र ८१

**नैव प्रार्थयते लाभं नालाभेनानुशोचित।**
**धीरस्य शीतलं चित्तममृतेनैव पूरितम्॥**

*अनुवाद :— "धीर पुरुष का चित्त अमृत से पूरित हुआ शीतल है। इसलिए न वह लाभ के लिए प्रार्थना करता है और न हानि के लिए कभी चिन्ता करता है।"*

*व्याख्या :—* द्वैतवादी धर्म ईश्वर को जीव से भिन्न मानता है इसलिए वह प्रार्थना करता है, उसकी कृपा की भीख माँगता है, उसकी सहायता मांगता है। वह ईश्वर को सर्वशक्तिमान्, दयालु, कृपालु, नियता, सृष्टा, सहायक आदि मानता है तथा स्वयं को निर्बल, अशक्त, अज्ञानी, पापी जीव समझता है इसलिए वह निरन्तर परमात्मा का कृपा-प्रसाद पाने हेतु प्रार्थना करता है, लाभ के लिए प्रार्थना करता है, दुःख-निवारण हेतु प्रार्थना करता है, शत्रु-विनाश हेतु प्रार्थना करता है, सुख-शान्ति, समृद्धि हेतु प्रार्थना करता है किन्तु योगी अद्वैतवादी है। वह सृष्टि से भिन्न, जीव से भिन्न किसी ईश्वर को नहीं मानता। शरीरस्थ आत्मा ही उसका ईश्वर है, वही ब्रह्म है। जब वह उसे जान लेता है तो वह कहता है 'मैं ही ब्रह्म हूँ'। मेरे से भिन्न कोई ब्रह्म नहीं है। ऐसा योगी आत्मा के परमानन्द में सर्वदा निमग्न रहता है। उसके चित्त से क्षुद्र वासनाएँ, अहंकार आदि छूट जाते हैं तथा वह आत्मारूपी अमृत से पूरित हो जाने से शांत एवं शीतल हो जाता है। उसे विराट् मिल

जाता है जिससे वह न किसी क्षुद्र लाभ के लिए प्रार्थना करता है न हानि की चिन्ता ही करता है। वह सदा आत्मा में स्थित होकर महान् सुख का भोग करता है। जिसे विराट् नहीं मिला वही क्षुद्र लाभ-हानि की चिन्ता करता है।

## सूत्र ८२

**न शान्तं स्तौति निष्कामो न दुष्टमपि निन्दति।**
**समदुःखसुखस्तृप्तः किञ्चित्कृत्यं न पश्यति।।**

*अनुवाद :— "निष्काम पुरुष (योगी) न तो शांत पुरुष की प्रशंसा करता है न दुष्ट को देखकर निन्दा करता है। वह सुख-दुःख को समान समझता हुआ तृप्त है। उसे करने को कुछ भी नहीं दीखता है।"*

**_व्याख्या :—_ भीतर जो भरा है वही बाहर निकलता है। यदि भीतर प्रेम, दया, करुणा, अहिंसा, सहृदयता आदि गुण भरे हैं तो बाहर प्रशंसा, सहायता, सेवा, धन्यवाद, आर्शीवाद आदि के रूप में प्रकट होंगे। किन्तु जिसके भीतर घृणा, हिंसा, अहंकार, स्वार्थ, ईर्ष्या, क्रोध आदि भरा है तो बाहर निंदा, झगड़ा, क्लेश, जिद्द, आग्रह, दुराग्रह, दूसरों को सताना, यातना देना, हिंसा, छीना-झपटी आदि अनेक रूपों में प्रकट होगा। इन बाहरी लक्षणों को देखकर उसके भीतर क्या भरा है इसे जाना जा सकता है। निन्दक के न्यस्त स्वार्थ होते हैं जिनकी पूर्ति न होने पर वह निंदक बन जाता है। लोमड़ी को अंगूर न मिलने से ही उन्हें खट्टे कहती है मिलने पर खट्टे होने पर भी मीठे कह देती है। काम से पीड़ित ही काम को गाली देते हैं, धन में जिसका लाभ है न मिलने पर वही धन को पाप कहता है, कमजोर ही बहादुरी की डींगें हांकता है, निंदा करना भी दुष्टता ही है। सज्जन किसी की निंदा नहीं करते, किन्तु ज्ञानी प्रशंसा भी नहीं करता। निंदा और प्रशंसक दोनों वासनाग्रस्त हैं। दोनों के न्यस्त स्वार्थ हैं। ज्ञानी की चित्त की वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। उसके भीतर निन्दा व प्रशंसा दोनों की ही तरंगें नहीं उठतीं। वह समभाव**

वाला हो जाता है, शांत हो जाता है। उसकी चित्त की हलचल ही समाप्त हो जाती है। वह राग-द्वेष दोनों के पार हो जाता है जिससे निंदा व प्रशंसा के भाव ही समाप्त हो जाते हैं। ऐसा ज्ञानी निष्काम है, कामनारहित है। उसका किसी में आग्रह ही नहीं होता, अनाग्रही हो जाता है। यही सम चित्त की दशा है जहाँ कोई कम्पन ही नहीं होता। ऐसा व्यक्ति ही तृप्त है, सुखी है, शांत है। वह न सुख में आनन्दित होता है न दुःख से दुःखी होता है। जो हो रहा है सब ठीक है, सब स्वीकार है। अगर कोई भला है तो है, बुरा है तो है, सज्जन, दुष्ट, धर्मात्मा, पापी जैसा है, है। यह योगी की परम दशा है। ऐसी स्थिति में पहुँचे ज्ञानी को करने को कुछ भी शेष नहीं रहता। यही साक्षी भाव है। इसके बाद वह अकर्त्ता हो जाता है। फिर न कोई साधना है न सिद्धि, न संसार छोड़ना है न मोक्ष पाना है। ज्ञानी की यही परम अवस्था है। इस स्थिति में पहुँच कर वह जो भी करता है वह चेष्टा से नहीं, स्वभाव से करता है।

## सूत्र ८३

**धीरो न द्वेष्टि संसारमात्मानं न दिदृक्षति।**
**हर्षामर्षविनिर्मुक्तो न मृतो न च जीवति॥**

*अनुवाद :— "धीर पुरुष न संसार के प्रति द्वेष करता है और न आत्मा को देखने की इच्छा करता है। हर्ष और शोक से मुक्त वह न मरे हुए जैसा है और न जीवित जैसा।"*

*व्याख्या :—* राग होने से ही द्वेष पैदा होता है। राग के कारण ही आसक्ति होती है, उसी से अपेक्षाएँ होती हैं जिनके पूरा न होने से ही द्वेष पैदा होता है। ज्ञानी का संसार से कोई राग नहीं होता, जिससे न उसकी आसक्ति होती है न उससे अपेक्षाएँ ही होती हैं इसलिए वह उससे द्वेष भी नहीं करता। वह संसार को अर्थहीन समझ लेता है फिर द्वेष कैसा? द्वेष करना भी उसको महत्वपूर्ण मानना है। महत्वहीन से कोई द्वेष नहीं करता। इसी प्रकार वह आत्मा को देखने की भी इच्छा नहीं करता। आत्मा अदृश्य है। उसे देखा नहीं जा

**सकता। उसकी अनुभूति होती है, उसका बोध होता है। देखने की इच्छा होना भी वासना है एवं वासना के रहते आत्मानुभूति होती ही नहीं है। दर्पण निर्मल होने पर ही उसकी अनुभूति होती है। ऐसा ज्ञानी नित्य आत्मसुख का अनुभव करता है जिससे वह हर्ष-शोक से मुक्त हो जाता है। वह रागरहित, वासनारहित होकर केवल स्वचेतना को ही सर्वस्व मान कर स्थित रहता है। भोग, त्याग, राग-विराग, संसार, परमात्मा सब वासना ही हैं इनके रहते ज्ञान नहीं होता, ज्ञान होने पर ये नहीं रहते। ऐसा ज्ञानी सांसारिक दृष्टि से जीवित जैसा नहीं दिखाई देता क्योंकि उसकी सारी दौड़-धूप, आपाधापी, महत्वाकांक्षाएँ, वासनाएँ आदि सब छूट जाती हैं। वह कुछ करता ही नहीं। किन्तु वह मरे हुए जैसा भी नहीं होता क्योंकि वह आलसी नहीं हो जाता, अकर्मण्य नहीं हो जाता। वह पूर्ण जीवन्त हो जाता है। वह कुछ नहीं करते हुए भी बहुत कुछ करता है। परमात्मा भी कुछ नहीं करते हुए भी सब कुछ उससे हो रहा है ऐसा ही ज्ञानी है जो कुछ नहीं करते हुए भी उससे बहुत कुछ हो रहा है। उसके स्वभाव से ही होता रहता है, उसकी उपस्थिति मात्र से हो जाता है।**

## सूत्र ८४

**निःस्नेहः पुत्रदारादौ निष्कामो विषयेषु च।**
**निश्चिन्तः स्वशरीरेऽपि निराशः शोभते बुधः ।।**

*अनुवाद :— "पुत्र, स्त्री आदि के प्रति स्नेह न रखता हुआ और विषयों में कामनारहित हुआ, अपने शरीर की भी चिन्ता नहीं करता हुआ ज्ञानी पुरुष सभी आशाओं से मुक्त शोभा देता है।"*

**_व्याख्या :—_ अज्ञानी अर्थात् संसारी की अपनी दृष्टि होती है एवं ज्ञानी की दृष्टि इससे भिन्न होती है। अज्ञानी यदि अपनी दृष्टि से ज्ञानी को देखेगा तो वह उसे कभी नहीं समझ पायेगा। अज्ञानी अपने पुत्र, स्त्री आदि के प्रति बड़ा स्नेह दिखाता है, वह हमेशा विषयों की ही कामना करता है तथा अपने शरीर-पोषण की ही**

चिन्ता करता है, वह हमेशा आशाओं में ही जीता है। इसके पीछे उसकी आसक्ति एवं वासनाएँ ही हैं, उसके स्वयं के संकीर्ण निहित स्वार्थ हैं, जिससे वह ऐसा कर रहा है। ज्ञानी का भी पुत्र, स्त्री आदि के प्रति स्नेह तो होता है किन्तु उनके प्रति कामनाएँ, वासनाएँ एवं पागलपन नहीं होता, वह भी शरीर-रक्षण तो करता है किन्तु उसके रक्षण की चिन्ता नहीं करता। स्वाभाविक रूप से अनाग्रहपूर्वक जो होता है उसे स्वीकार कर लेता है। ज्ञानी पुरुष सभी आशाओं से मुक्त हो जाता है जिससे वह स्नेह, कर्म आदि के संकीर्ण दायरे से ऊपर उठ जाता है। ऐसा ज्ञानी ही शोभा पाता है।

# सूत्र ८५

**तुष्टिः सर्वत्र धीरस्य यथापतितवर्तिनः।**
**स्वच्छन्दं चरतो देशान्यत्रास्तमितशायिनः ।।**

*अनुवाद :— "यथा प्राप्य से जीविका चलाने वाला, देशों में स्वच्छन्दता से विचरण करने वाला, जहाँ सूर्यास्त हो वहाँ शयन करने वाला धीर पुरुष सर्वत्र संतुष्ट है।"*

*व्याख्या :—* ज्ञानी परम को पा लेता है इसलिए क्षुद्र की वासना से मुक्त हो जाता है। वह भी कर्म करता है किन्तु उसमें फलाकांक्षा की वासना नहीं होती। कर्म के फलस्वरूप जो उसे मिल जाता है उसी में वह संतुष्ट है, उसी से अपनी जीविका चलाता है। उसे अधिक की चाह नहीं होती, न कम की चिन्ता होती है। वह शिकायत भी नहीं करता कि आज संसार पापी हो गया है, साधु-संतों का कोई सम्मान नहीं, उसे कोई देता नहीं, बेईमान खाये जा रहे हैं, साधु भूखे मर रहे हैं, ऐसी भावना ज्ञानी में पैदा नहीं होती। ज्ञानी स्वनिर्भर होता है। वह भोजन के लिए दूसरों पर निर्भर नहीं रहता। जो मिल जाय, जहाँ से मिल जाय, न मिले सबमें संतुष्ट है। वह संसार को ही बन्धन मानता है तो शरीर पोषण के लिए किसी से क्यों बँधेगा? वह किसी स्थान विशेष से भी नहीं बँधता। वह स्वच्छन्ता से, किसी वासना-आसक्ति से नहीं बनाता। उसके सोने,

बैठने, चलने, ठहरने आदि के लिए कोई निश्चित स्थान, समय एवं नियम आदि नहीं होते कि वहीं ठहरूँगा, ऐसे बिस्तर पर ही सोऊँगा, घास पर ही सोऊँगा, काली गाय का दूध ही पीऊँगा, पैसे को हाथ कभी नहीं लगाऊँगा, पैदल व नंगे पाँव ही चलूँगा, इस प्रकार के किसी नियम में नहीं बँधता। वह नियम के बन्धनों से पार हो गया है। आग्रह मात्र छूट गया है। ऐसा ज्ञानी सर्वत्र ही संतुष्ट है।

# सूत्र ८६

**पततूदेतु वा देहो नास्य चिन्ता महात्मनः।**
**स्वभावभूमिविश्रान्तिविस्मृताशेषसंसृतेः।।**

*अनुवाद :— "जो निज स्वभावरूपी भूमि में विश्राम करता है और जिसे संसार विस्मृत हो गया है, उस महात्मा को इस बात की चिन्ता नहीं है कि देह रहे या जाय ।"*

*व्याख्या :—* इसी क्रम में अष्टावक्र कहते हैं कि ऐसा ज्ञानी सांसारिक नियमों व बन्धों में न जी कर अपने आत्मा के स्वभाव में जीता है। वह संसार को विस्मृत कर देता है। जिसकी किसी प्रकार की वासना ही नहीं रही वह देह की वासना को भी छोड़ देता है। जिसकी शरीर में आसक्ति होती है वही अधिक जिन्दा रहना चाहता है। मृत्यु के समय उसके प्राण छूटते ही नहीं। वह जीवन और मृत्यु के बीच संघर्ष करता है। यमदूत उसे खींचते हैं किन्तु वह संसार छोड़ना नहीं चाहता इसलिए जबरदस्ती उसे पकड़ कर ले जाना पड़ता है। उसके सम्बन्धी गंगाजल, तुलसी देकर, गौ दान एवं एकादशी दे दे कर उसके प्राण छुड़ाते हैं। यह सब होता है देहासक्ति के कारण। किन्तु ज्ञानी देहासक्त नहीं होता इसलिए मृत्यु के समय उसे कोई संघर्ष नहीं करना पड़ता। वह मृत्यु को भी आनन्द के साथ स्वीकार करता है। उसे वह गृह परिवर्तन से अधिक महत्व नहीं देता। जो जीवन में शांति एवं संतुष्ट रहा है उसको मृत्यु के समय भी शांति का अनुभव होता है। इसलिए ज्ञानी कभी मरता नहीं केवल देह-त्याग करता है तथा आत्मा ही उसका स्थाई निवास है, उसी में लीन रहता है।

# सूत्र ८७

**अकिञ्चनः कामचारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः ।**
**असक्तः सर्वभावेषु केवलो रमते बुधः ।।**

*अनुवाद :— "अकिंचन, स्वच्छन्द विचरण करने वाला, द्वन्द्वरहित, संशयरहित, आसक्तिरहित और अकेला बुद्ध पुरुष ही सब भावों में रमण करता है।"*

***व्याख्या :—* जहाँ आसक्ति है वहीं बन्धन है। संसार, स्त्री, पुत्र, धन, नगर, देश, धर्म, जाति, वर्ण आदि संकीर्ण घेरों में मनुष्य आसक्ति तथा अज्ञान के कारण स्वयं बँधा है। इनके पीछे उसके निहित स्वार्थ हैं जिनके कारण वह अपने को इन क्षुद्र घेरों में बन्द कर लेता है। इन संकीर्णताओं में बँध कर मनुष्य स्वयं संकीर्ण हो जाता है, उसकी दृष्टि संकीर्ण हो जाती है। वह इनसे बाहर न सोच सकता है न उस विराट् को देख सकता है। वह पिंजड़े का पक्षी बन कर अपने पिंजड़े में ही फड़फड़ाता रहता है एवं उसी में प्राण त्याग देता है। वह खुले आकाश में कभी उड़ान नहीं भर सकता। उसे कैसे ज्ञात हो सकता है कि सृष्टि में अन्यत्र भी सौन्दर्य है। इसी प्रकार संकीर्ण मान्यताओं, विचारों, सिद्धान्तों, नियमों आदि से बँध कर मनुष्य छोटा हो जाता है किन्तु अहंकारवश इनमें भी वह अपने को महान् समझता है। इसके ठीक विपरीत ज्ञानी की स्थिति होती है। वह अपने को इन सब बन्धनों से मुक्त कर लेता है। वह खुले आकाश में स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करने वाला होता है, वह द्वन्द्वरहित होकर परम आनन्द में रहता है, वह संशयरहित होता है। अपने को अकेला एवं अकिंचन मानता है इसी से वह सबका हो जाता है, महान् हो जाता है। आसक्ति होने से मनुष्य क्षुद्र से बँध जाता है। ज्ञानी आसक्तिरहित होने से विराट् का सुख भोगता है, वह सभी भावों में रमण करता है। शरीर से बँधा हुआ अज्ञानी शरीर सुखों के भोगों को ही भोग पाता है किन्तु आत्म-ज्ञानी सृष्टि के महान् भोगों को भोगता है। शरीर-सुख क्षुद्र है, आत्म-सुख विराट् है जिसमें रमण करने वाला ज्ञानी ही सब भावों में रमण करता है।**

# सूत्र ८८

**निर्ममः शोभते धीरः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।**
**सुभिन्नहृदयग्रन्थिर्विनिर्धूतरजस्तमः।।**

*अनुवाद :— "जो ममतारहित है उसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना समान है। जिसके हृदय की ग्रंथि टूट गई है और जिसका रज, तम धुल गया वह धीर पुरुष ही शोभता है।"*

*व्याख्या :—* मनुष्य बीमार है, रुग्ण है। यह बीमारी भीतरी है जो दवा पीने से ही दूर होगी, बाहर उसका लेप करने से कुछ नहीं होगा, शास्त्रों तथा उपदेशों से कुछ नहीं होगा। ये शास्त्र एवं उपदेश डाक्टर द्वारा लिखे गये प्रेस्क्रिप्सन से ज्यादा नहीं है। एनासिन का फार्मूला जान लेने से सिरदर्द जायगा नहीं, पानी कैसे बनता है, यह जान लेने से प्यास बुझेगी नहीं। उसे भीतर लेना पड़ेगा। इसी प्रकार वस्तुओं का मूल्य ममता के कारण है। कपड़े छोड़ देने से, राख लपेट लेने से, भूखे मरने से अथवा कुटिया बना कर रहने से ममता का छूटना आवश्यक नहीं है। जब तक भीतर ममता है वस्तुओं में भेद ज्ञात होगा। सोना, पत्थर व मिट्टी में भेद मालूम होगा। सोना मूल्यवान ही इसलिए मालूम होता है कि उसके प्रति ममता है, मोह है, अन्यथा वह निर्मूल्य है। आवश्यकताऐं पूरी करना आसक्ति नहीं है। न बुरा ही है किन्तु आसक्ति के कारण अनावश्यक वस्तुओं का परिग्रह करना बुरा है। कई व्यक्ति मकान, जमीन, जायदाद, धन आदि का परिग्रह आवश्यकतापूर्ति हेतु न करके अहंकार-तृप्ति हेतु करते हैं। यह मानसिक रुग्णता है। अपनी इज्जत, प्रतिष्ठा, सम्मान आदि का मापदण्ड वे वस्तुएँ मानते हैं। निज की श्रेष्ठता न होने से ही वे वस्तुओं द्वारा अपनी श्रेष्ठता बताना चाहते हैं किन्तु ज्ञानी स्वस्थ चित्त वाला होता है, उसमें मानसिक रुग्णता नहीं होती, वह स्वस्थेन्द्रिय होता है, उसकी हृदयग्रंथि खुल जाती है, उसका रज और तम धुल कर शुद्ध सत्व बच रहता है, वह ममतारहित, आसक्तिरहित निर्द्वन्द्व हो जाता है। अतः उसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोने में भेद नहीं दिखाई देता। ऐसा आसक्तिरहित ज्ञानी पुरुष ही शोभा देता है।

# सूत्र ८९

**सर्वत्रानवधानस्य न किञ्चिद्वासना हृदि।**
**मुक्तात्मनो वितृप्तस्य तुलना केन जायते ।।**

*अनुवाद :— "जो सर्वत्र व्यवधान से मुक्त उदासीन) है, और जिसके हृदय में कुछ भी वासना नहीं है। ऐसे तृप्त हुए मुक्तात्मा की किसके साथ तुलना हो सकती है।"*

***व्याख्या :***— **वासना से ही इच्छाएँ पैदा होती हैं तथा इच्छाएँ अनन्त हैं वे कभी भी पूरी नहीं की जा सकतीं। ऐसा वासनायुक्त व्यक्ति सब कुछ पाकर भी अतृप्त ही रहता है। सिकन्दर संसार विजय करके भी अतृप्त ही मरा, बड़े से बड़े पूँजीपति भी अतृप्त मरते हैं किन्तु जिसकी वासना नष्ट हो गई वह जो कुछ है उसी में तृप्त है, न हो तो भी तृप्त है। बुद्ध राजकुमार होकर तृप्त नहीं थे किन्तु ज्ञान-प्राप्ति पर वासनारहित होकर तृप्त हो गये। जिसमें वासना है वह हमेशा व्यवधानों में ही उलझा रहता है, उसको समाधान मिलता ही नहीं जबकि ज्ञानी वासनामुक्त होने से व्यवधानमुक्त हो जाता है, जीवन के भटकाव, उलझन, संघर्ष, दौड़-धूप सबका समाधान मिल जाता है, वह शांत हो जाता है, पूर्ण तृप्त हो जाता है, सभी ग्रंथियाँ खुल जाती हैं, निर्ग्रन्थ हो जाता है। ऐसे ज्ञानी की तुलना किसी से नहीं की जा सकती। वह पूर्ण हो जाता है। क्षुद्र को पकड़ने वाला उसी से बँध जाता है। वह कभी पूर्ण नहीं हो सकता।**

# सूत्र ९०

**जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति।**
**ब्रुवन्नपि न च ब्रूते कोऽन्यो निर्वासनादृते ।।**

*अनुवाद :— "वासनारहति पुरुष के अतिरिक्त दूसरा कौन है जो जानता हुआ भी नहीं जानता है, देखता हुआ भी नहीं देखता है, बोलता हुआ भी नहीं बोलता है।"*

*व्याख्या :—* ज्ञानी तथा अज्ञानी के जानने, देखने तथा बोलने में बड़ा अन्तर होता है। अज्ञानी अहंकार तथा वासना से ग्रस्त होता है, वह अपने ही स्वार्थ के कारण अन्धा हो जाता है जिससे उसके जानने, देखने तथा बोलने में संकीर्णता होती है, उदारता नहीं होती। वह अहंकारवश जिसे नहीं जानता है उसके भी जानने का दावा करता है, जिसे वह नहीं देखता उसके भी देखने का दम भरता है। आत्मा और परमात्मा को उसने न जाना है न देखा है किन्तु इनकी सत्यता की रोज दुहाई देता है कि आत्मा है, परमात्मा है, पुनर्जन्म है, स्वर्ग-नरक है, तुम परमात्मा को नहीं मानते, तुम नास्तिक हो, अज्ञानी हो, नरक जाओगे आदि निरंतर कहता रहता है जबकि ज्ञानी सब कुछ जान लेता है फिर भी कहता है मैं कुछ नहीं जानता, वह सब कुछ स्पष्ट, प्रत्यक्ष देखता हुआ भी कहता है मैं कुछ नहीं देखता, वह बोलता भी है तो भी उसमें दुराग्रह नहीं होता क्योंकि वह वासना एवं अहंकाररहित है। ऐसे ज्ञानी की तुलना किसी से नहीं की जा सकती।

## सूत्र ९१

**भिक्षुर्वा भूपतिर्वापि यो निष्कामः स शोभते।**
**भावेषु गलिता यस्य शोभानाऽशोभना मतिः ।।**

अनुवाद :— *"जिसकी सब भावों में शोभन, अशोभन बुद्धि गलित हो गई है और जो निष्काम है, वही शोभायमान है, चाहे वह भिखारी हो या भूपति।"*

*व्याख्या :—* जीवन एक त्रिवेणी है जिसमें गंगा और यमुना तो प्रकट हैं किन्तु तीसरी सरस्वती गुप्त है। जीवन में भी शरीर और मन तो प्रकट हैं किन्तु चेतना गुप्त है। अज्ञानी शरीर और मन को ही जानता है किन्तु ज्ञानी चेतना को भी जान लेता है। जो मन के तल पर ही जीते हैं उन्होंने सृष्टि को दो में विभाजित कर दिया। इस विभाजन के कारण ही सृष्टि में भेद दिखाई देता है किन्तु ज्ञानी उस गुप्त शक्ति चेतना को भी जान लेता है जिससे समस्त भेद समाप्त

होकर एकत्व का अनुभव हो जाता है। इसी को सत्य तथा ज्ञान कहा गया है। भेद मात्र अज्ञान के कारण है। स्वर्ग, नरक और मोक्ष; संसार, परमात्मा और ब्रह्म; सुख, दुःख और आनन्द; राग, विराग और वीतराग; दुर्जन, सज्जन और जीवन्मुक्त; साधु-असाधु और संत आदि में प्रथम दो शब्द मन की ही व्याख्या है। मन वासनायुक्त है, विलासी है, स्वार्थी है। वह हमेशा भेद ढूँढता है। अच्छे-बुरे में भेद करता है, लाभ-हानि, जय-पराजय, श्रेष्ठ-निकृष्ट, शोभन-अशोभन, राजा-रंक, त्याग और ग्रहण, हिंसा-अहिंसा आदि में भेद करता है। अपनी वासना एवं स्वार्थों के जो अनुकूल होता है उसे अच्छा तथा प्रतिकूल होने पर बुरा कह देता है। किन्तु ज्ञानी मन के पार हो जाता है उसका अस्तित्व से मिलन हो जाता है। अस्तित्व में कोई भेद नहीं रहता इसलिए ज्ञानी ही समत्व बुद्धि वाला होता है। यह तीसरा शब्द समत्व बुद्धि का ही उदाहरण है जो भारत की सर्वोपरि खोज है। जो धर्म द्वन्द्वों से पार नहीं जा सके वे मानसिक धरातल पर ही हैं। अस्तित्वगत् ज्ञान का उन्हें कुछ पता नहीं है। ऐसे धर्म आचरण को ही अधिक महत्व देते हैं, ज्ञानी उपलब्धि को महत्वपूर्ण मानता है। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि जिसकी सब भावों में शोभन-अशोभन बुद्धि गलित हो गई है और जो निष्काम है, जिसकी कोई वासना नहीं, अहंकार नहीं, फलाकांक्षा नहीं ऐसा ज्ञानी चाहे भिखारी हो अथवा भूपति सर्वत्र शोभायमान होता है। व्यक्ति की श्रेष्ठता धन, पद, मान, सम्मान आदि से नहीं आँकी जाती, उसके निजी गुणों से आँकी जाती है। वासना एवं अहंकाररहित ज्ञानी ही श्रेष्ठ है क्योंकि वह क्षुद्र को छोड़ कर महान् को उपलब्ध हो गया है।

# सूत्र ९२

**क्व स्वाच्छन्द्यं क्व संकोचः क्व वा तत्वविनिश्चयः।**
**निर्व्याजार्जवभूतस्य चरितार्थस्य योगिनः।।**

*अनुवाद :— "निष्कपट, सरल और यथार्थ चरित्र वाले योगी को कहाँ स्वच्छन्दता है? कहाँ संकोच है? और कहाँ तत्व का निश्चय है?"*

*व्याख्या :—* जो योगी ज्ञान को उपलब्ध हो गया है, जिसने सृष्टि के मूल-तत्व आत्मा को जान लिया है वह निष्कपट, सरल तथा यथार्थ चरित्र वाला हो जाता है। उसके लिए स्वच्छन्दता, संकोच तथा तत्व का निश्चय जैसी कोई धारणा नहीं होती। वह स्वयं इन सबसे पार अस्तित्व के साथ ही जीता है। अस्तित्व ही उसका अनुशासन, नियम, संयम होता है। वह मानस-तल की स्वच्छन्दता, संकोच आदि के पार हो जाता है। यही उसका विवेक है।

# सूत्र ९३

**आत्मविश्रान्तितृप्तेन निराशेन गतार्तिना।**
**अन्तर्यदनुभूयते तत्कथं कस्य कथ्यते।।**

*अनुवाद :— "आत्मा में विश्राम कर तृप्त हुए आशारहित और शोकरहित ज्ञानी के अन्तस् में जो अनुभव होता है उसे कैसे और किसको कहा जाय?"*

*व्याख्या :—* आत्म-ज्ञान के बाद व्यक्ति तृप्त हो जाता है, निस्पृह (इच्छारहित) तथा शोकरहित हो जाता है इस स्थिति में जो विश्राम कर स्थित है, जो इसमें ठहर गया है उसे विचित्र ही अनुभव होते हैं जो सांसारिक अनुभवों से सर्वदा भिन्न होते हैं जिनको कहा नहीं जा सकता क्योंकि सुनने वाला उस स्थिति में नहीं पहुँचा है, उसे ये अनुभव नहीं हुए हैं इसलिए उसे समझाना मुश्किल है। ऐसे अनुभव प्रमाणों, तर्कों आदि से भी सिद्ध नहीं किये जा सकते। जिस प्रकार दस वर्ष के बच्चे को रमण-सुख नहीं समझाया जा सकता, किसी के दुःख, दर्द, पीड़ा, जलन आदि को दूसरों को नहीं दिखाया जा सकता, अँधे को सफेद, लाल, हरा आदि रंगों का ज्ञान नहीं कराया जा सकता उसी प्रकार आत्म-सुख को शब्दों में नहीं उतारा जा सकता इसलिए ज्ञानी मौन हो जाते हैं। आत्म-ज्ञान में बोध होता है, एक अनुभूति होती है। इसमें पुरानी धारणाएँ, मान्यताएँ सब गिर जाती हैं। जिस प्रकार स्वप्न टूटने पर एक क्षण में सब कुछ बदल कर नया सामने आ जाता है उसी प्रकार आत्म-ज्ञान के क्षण में यह

संसाररूपी स्वप्न टूट जाता है एवं नये ही संसार में उसका प्रवेश होता है जिसे न उसने पहले कभी देखा है, न सुना है, न जाना है। इस स्थिति में गुरु का सानिध्य न हो तो वह पागल भी हो सकता है। उसका इलाज भी कुछ नहीं है। वह 'उसकी' मस्ती में पागल है। संसार के लिए पागल होने से ईश्वर के लिए पागल होना बेहतर है। ऐसा पागलपन भी वरदान है। आत्मा का बोध चित्त की निर्विकार एवं शून्यावस्था में ही होता है। इसी का नाम ध्यान और समाधि है। मन जब शून्य होता है तभी आत्मा अपने पूर्ण प्रकाश में प्रकट होती है। ध्यान में विषय नहीं होता, विषय होने पर ध्यान नहीं है, चिन्तन मनन भी ध्यान नहीं है, ध्यान किया भी नहीं जाता, करने से ध्यान होता भी नहीं है। अक्रिया ही ध्यान है। अष्टावक्र की सारी देशना अक्रिया पर ही है। इसी में होता है ज्ञान, बोध, जागरण। इस अनुभूति के बाद व्यक्ति स्वयं को आत्मवत् अनुभव करता है। वह हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई नहीं रह जाता, वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भी नहीं रह जाता। वह ब्रह्म को जान लेता है इसलिए वह ब्राह्मण हो जाता है। ब्राह्मण उपलब्धि है। उसमें नम्रता आ जाती है। अहंकार, वासना लुप्त हो जाती है। वह श्रेष्ठ हो जाता है। पुराने की मृत्यु हो जाती है, उसका नया जन्म होता है। इसलिए उसे 'द्विज' (द्विजन्मा) कहा जाता है। शरीर का जन्म माँ ने दिया तथा आत्मा का जन्म गुरु देता है। वह शूद्र को ब्राह्मण बना देता है, मनुष्य को परमात्मा बना देता है इसलिए गुरु का महत्व ईश्वर से भी ऊँचा है। ईश्वर ही गुरु रूप में प्रकट होता है। यही गुरु का महत्व है। इस ज्ञान-प्राप्ति की पाठशाला है सन्यास तथा अंतिम फल है आत्मानुभूति, यहाँ पहुँच कर व्यक्ति मुक्त हो जाता है। यही जीव की अन्तिम परिणति है, परमानन्द की स्थिति है।

## सूत्र ९४

सुप्तोऽपि न सुषुप्तो च स्वप्नेऽपि शयितो न च।
जागरेऽपि न जागर्ति धीरस्तृप्तः पदे पदे।।

*अनुवाद :— "जो सोया हुआ भी सुषुप्त नहीं है, और न स्वप्न में भी सोया हुआ है, जाग्रत में भी नहीं जागा हुआ है, वही धीर पुरुष क्षण-क्षण तृप्त है।"*

**व्याख्या :— ज्ञानी और अज्ञानी दोनों सोते हैं किन्तु अज्ञानी जब स्वप्नावस्था में होता है तो अपने को भूल जाता है। वह स्वप्न में ही खो जाता है, एक दूसरी दुनियाँ में प्रवेश कर जाता है। सुषुप्ति में वह गहरी नींद में होता है तब स्वप्न भी खो जाते हैं। उसे न संसार का भान रहता है न स्वयं का। किन्तु ज्ञानी की निद्रा संसारी से भिन्न होती है। वह स्वप्न में भी जागा हुआ रहता है। साक्षीभाव का प्रयोग करने पर यह संभव है। स्वप्न में भी उसे भान रहता है कि वह सोया हुआ है तथा स्वप्न देख रहा है। इसी प्रकार सुषुप्ति में भी वह जागा हुआ रहता है। सुषुप्ति में जीव का सम्बन्ध आत्मा से होता है जिससे उसे आनन्द की अनुभूति होती है। योगी ही जागा हुआ होने से इसका अनुभव करता है। इसी प्रकार जाग्रत अवस्था में भी वह सर्वदा आत्मा में लीन रहने के कारण बाह्य वस्तुओं से प्रभावित नहीं होता इसलिए वह जागा हुआ भी नहीं है। वह जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में आत्मा का ही अनुभव करता है। ऐसा ज्ञानी ही सर्वदा तृप्त है।**

# सूत्र ९५

**ज्ञः सचिन्तोऽपि निश्चिन्तः सेन्द्रियोऽपि निरिन्द्रियः।**
**सबुद्धिरपि निर्बुद्धिः साहंकारोऽनहंकृतिः ॥**

*अनुवाद :— "ज्ञानी चिन्तायुक्त भी चिन्तारहित है, इन्द्रियों सहित भी इन्द्रियों रहित है, बुद्धिसहित भी बुद्धिरहित है तथा अहंकारयुक्त भी अहंकाररहित है।"*

**व्याख्या :— ज्ञानी पुरुष भी चिन्तायुक्त तो होता है किन्तु चिन्तित नहीं होता, दुःखी नहीं होता। वह इन्द्रियों सहित है, सभी इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करती हैं। खाना, पीना, सूँघना, सुनना,**

स्वाद लेना, स्पर्श-ज्ञान, देखना सब यथावत् होता है किन्तु ज्ञानी की वासना न होने से वह उनमें आसक्त नहीं होता, उनसे प्रभावित नहीं होता। वह इन्द्रियों का उपयोग आवश्यकता होने पर करेगा, वासना के कारण नहीं करेगा। ज्ञानी बुद्धि का भी प्रयोग करेगा किन्तु वह जैसा चाहे वैसा ही उपयोग करेगा। वह बुद्धि का मालिक होगा। बुद्धि उसकी मालिक नहीं होगी। ज्ञानी आवश्कयता होने पर अहंकार का भी उपयोग करेगा, विनम्रता का भी उपयोग करेगा किन्तु उनका दास नहीं बनेगा। कर्त्ता नहीं, साक्षी होकर करेगा। ज्ञानी सृष्टि के नियमों में न बाधा डालते हैं न सहयोग करते हैं। जैसा होता है उसे ईश्वरीय समझ कर हो जाने देते हैं।

# सूत्र ९६

**न सुखी न च वा दुःखी न विरक्तो न संगवान्।**
**न मुमुक्षुर्न वा मुक्तो किञ्चिन्न चऽकिञ्चन।।**

*अनुवाद :— "ज्ञानी न सुखी है न दुःखी, न विरक्त है न संगयुक्त है, न मुमुक्षु है न मुक्त है, न किंचन है (कुछ है), न अकिंचन (कुछ नहीं)।"*

*व्याख्या :—* ज्ञानी की स्थिति द्वन्द्वों से पार की होती है। वह समत्व-बुद्धि वाला होता है। वह सदा एकरस रहता है। घड़ी के पेंडुलम की भाँति एक अति से दूसरी अति को नहीं छूता। बुद्ध ने भी यही कहा कि वीणा के तार न अधिक ढीले हों, न अधिक कसे हों तभी संगीत निकलता है। अज्ञानी ही इन अतियों में भटकते हैं। ज्ञान अति में नहीं समत्व में है, एकरसता में है। अहंकारी अतियों में आनन्द लेता है। ज्ञानी उस नट की भाँति है जो अतियों के बीच संतुलन रखता हुआ एक ही रस्सी पर ध्यान टिकाये हुए चलता है। इसीलिए कहा है कि धर्म कृपाण की धार पर चलने के समान है। थोड़ासा भी झुकाव एक ओर हुआ कि सारी साधना व्यर्थ हो जाती है। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि ज्ञानी न सुखी है न दुःखी, न संगयुक्त है न विरक्त है, न मुमुक्षु है न मुक्त है, वह ऐसा भी नहीं

मानता कि मैं कुछ हूँ, नगण्य हूँ, उपेक्षित हूँ, न ऐसा मानता है कि मैं ही सब कुछ हूँ, मैं परम ज्ञानी हूँ, श्रेष्ठ हूँ, अन्य से ऊँचा हूँ। वह सदा सम स्थिति में रहता है। जो है उसी में सन्तुष्ट है।

## सूत्र ९७

**विक्षेपऽपि न विक्षिप्तः समाधौ न समाधिमान्।**
**जाड्येऽपि न जड़ो धन्यः पाण्डित्येऽपि न पण्डितः ।।**

*अनुवाद :— "धन्य पुरुष विक्षेप में भी विक्षिप्त नहीं है, समाधि में भी समाधि वाला नहीं है, जड़ता में भी जड़ नहीं है, पांडित्य में भी पंडित नहीं है।"*

*व्याख्या :—* जो ज्ञानी आत्म-ज्ञान के कारण सम स्थिति को उपलब्ध हो गया वह विक्षेपों को भी सहन कर लेता है, उनसे विक्षिप्त नहीं होता। वह समाधि में रहने वाला है किन्तु समाधि वाला नहीं है जो समाधि का निरन्तर अभ्यास करता है। वह नेताओं, उद्यमियों जैसी भाग-दौड़ नहीं करता इसलिए जड़वत् ज्ञात होता है किन्तु वह जड़ नहीं पूर्ण चैतन्य है, जागरूक है। उसमें पांडित्य तो है, पूर्ण ज्ञान है किन्तु अन्य पंडितों जैसा न उसमें अहंकार है न पांडित्य-प्रदर्शन की भावना ही। वह तर्क-वितर्क में विश्वास न करके ज्ञान को सहज एवं स्वाभाविक रूप से जैसा है, जैसा उसने जाना है प्रस्तुत कर देता है।

## सूत्र ९८

**मुक्तो यथास्थितिस्वस्थः कृतकर्त्तव्यनिर्वृतः।**
**समः सर्वत्र वैतृष्णान्न स्मरत्यकृतं कृतम्।।**

*अनुवाद :— "मुक्त पुरुष सब स्थिति में स्वस्थ है, किये हुए और करने योग्य कर्म में तृप्त है, सर्वत्र समान है, तृष्णा के अभाव में किये और अनकिये कर्म को स्मरण नहीं करता है।"*

*व्याख्या* :— जिसे ज्ञान हो गया वही मुक्त है। अज्ञानी बन्धनग्रस्त है, वह रुग्ण है, कामना, वासना, अहंकार से पीड़ित है। जो इन बन्धनों को तोड़ चुका है ऐसा मुक्त पुरुष ही स्वस्थ है। वह किये तथा करने योग्य कर्म दोनों से तृप्त है। किये पर न चिन्ता करता है, न शोक करता है, न प्रसन्न होता है तथा करने योग्य कर्म के प्रति उसकी वासना नहीं होती, फलाकांक्षा नहीं होती। कर्मों को सहज भाव से कर लेता है। दोनों में समान रूप से व्यवहार करता है। किये और अनकिये कर्मों का स्मरण वही करता है जिसमें तृष्णा होती है। लाभ-हानि का हिसाब वही रखता है जिसे कुछ पाना है। ज्ञानी को न कुछ पाना है न छोड़ना है। इसलिए न वह पश्चाताप करता है, न प्रसन्नता एवं गर्व का अनुभव करता है। ज्ञानी की ऐसी स्थिति ही परम स्थिति है।

# सूत्र ९९

न प्रीयते वन्द्यमानो निन्द्यमानो न कुप्यति।
नैवोद्विजति मरणे जीवने नाभिनन्दति।।

*अनुवाद :— "मुक्त पुरुष न स्तुति किये जाने पर प्रसन्न होता है, न निन्दित होने पर क्रुद्ध होता है। न मृत्यु में उद्विग्न होता है, न जीवन में हर्षित होता है।"*

*व्याख्या* :— प्रशंसा एवं निन्दा से जो प्रभावित होता है वह ज्ञानी नहीं हो सकता। उसके भीतर अहंकार है जिस पर निन्दा की चोट लगने पर वह क्रुद्ध हो जाता है एवं उसे प्रशंसा द्वारा फुसलाये जाने पर वह प्रसन्न होता है। अज्ञानी इनसे सबसे ज्यादा प्रभावित होता है। मुक्त पुरुष न तो मृत्यु के समय उद्विग्न होता है क्योंकि वह उसे स्वाभाविक मानता है, सृष्टि का नियम मानता है, न वह जीवन से हर्षित ही होता है। ये सब चित्त की तरंगें हैं, विक्षेप हैं जिनसे वह अप्रभावित रहता है। ऐसा ज्ञानी ही मुक्त है। ज्ञानी आत्मा में जीता है। जो नित्य है, अमृत है। उसकी मृत्यु होती ही नहीं है। शरीर में जीने वाले अज्ञानी की ही मृत्यु होती है इसलिए वही मृत्यु से भयभीत होता है।

# सूत्र १००

**न धावति जनाकीर्णं नारण्यमुपशान्तधीः ।**
**यथा तथा यत्र तत्र सम एवावतिष्ठते ।।**

*अनुवाद :— "शांत बुद्धि वाला पुरुष न लोगों से भरे नगर की ओर भागता है, न वन की ओर ही। वह सभी स्थिति और सभी स्थान में समभाव से ही स्थित रहता है।"*

**_व्याख्या_ :— भाग-दौड़ वही करता है जिसे कुछ पाना है, जिसमें वासना एवं तृष्णा है। यह वासना चाहे संसार की हो या मोक्ष की, वासना ही है। जिस ज्ञानी ने उस परम-तत्व को जान लिया, जिसे आत्मानुभव हो गया, जिसे परम मिल गया, जो मुक्त हो गया उसकी सारी भाग-दौड़ समाप्त हो जाती है, उसकी सारी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ समाप्त हो जाती हैं, उसे सृष्टि में एकत्व का अनुभव हो जाता है जिससे उसमें समभाव पैदा हो जाता है। ऐसा ज्ञानी शांत बुद्धि वाला हो जाता है। वह सभी स्थानों पर तथा सभी स्थिति में समान भाव से अवस्थित रहता है, चाहे वह नगर हो या वन, भीड़भाड़ वाला स्थान हो या सुनसान स्थान, महल में रहे या झोपड़ी में कोई अन्तर नहीं आता। अज्ञानी चुनाव करता है कि ऐसे स्थान पर ही रहूँगा, ऐसा ही खाना खाऊँगा, भिक्षा माँग कर ही खाऊँगा, ऐसे वस्त्र ही पहनूँगा या नग्न ही रहूंगा आदि, किन्तु ज्ञानी चुनावरहित हो जाता है। जो है उसी में राजी है। वह उपकरण मात्र हो जाता है। यही जीवन्मुक्त की परम स्थिति है।**

*इति श्री अष्टावक्रगीतायां शांतिशतकं नामाष्टादशप्रकरणं समाप्तम्।*
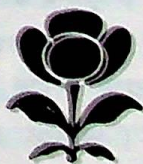
# उन्नीसवाँप्रकरण

## (आत्मा में स्थित रहना ही परम अवस्था है)

---

## सूत्र १

जनक-उवाच

**तत्वविज्ञानसंदंशमादाय हृदयोदरात् ।**
**नानाविधपरामर्शशल्योद्धारः कृतो मया ।।**

*अनुवाद :— राजा जनक आत्म-ज्ञान से संतुष्ट होकर अपनी अभिव्यक्ति देते हैं :— "मैंने आपके तत्वज्ञानरूपी संसी को लेकर हृदय और उदर से अनेक प्रकार के विचाररूपी बाण को निकाल दिया है।"*

**व्याख्या :— अष्टावक्र के तत्व-बोध के उपदेश को केवल श्रवण करके राजा जनक आत्म-ज्ञान को उपलब्ध हो गये। उनकी पृष्ठभूमि पूर्व में ही तैयार थी, अन्तःकरण शुद्ध था इसलिए अष्टावक्र के उपदेश पर उन्होंने एक भी शंका नहीं उठाई, न अर्जुन के जैसे तर्क दिये, न अश्रद्धा प्रकट की। उस उपदेश को सीधा ही पूर्ण श्रद्धा से पी गये जिससे अमृतत्व को उपलब्ध हो गये। उपदेश क्या था संजवीनी थी किन्तु इसका लाभ श्रद्धावान को ही मिलता है। गीता में कहा है 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं।' ज्ञान का फल तो श्रद्धावान को ही मिलता है। जनक आत्मकृत हो गये। उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति दी जिसे अष्टावक्र ध्यान से सुनते रहे किन्तु**

परीक्षा आवश्यक होने से उन्होंने अनेकों प्रश्न करके जनक की परीक्षा भी ली जिसमें वह खरे उतरे। अष्टावक्र को विश्वास हो गया कि जनक को जो हुआ है वह ठीक हुआ है, भ्रान्ति नहीं हुई है। अतः अष्टावक्र ने अठारहवें प्रकरण में आत्म-ज्ञान के रूप में शांति का उपदेश दिया। यह उपदेश वैसा ही है जैसे गुरु विधिवत् शिक्षा देकर शिष्य के परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने पर उसे दीक्षान्त भाषण देकर अपने विद्यालय से विदाई देता है तथा संसार में रहकर उसे कर्म करने का उपदेश देता है। आत्म-ज्ञान पर विधिवत् दिये गये उपदेश से जनक कृतकृत्य हो गये। यह अष्टावक्र गीता जनक-अष्टावक्र-संवाद के रूप में अध्यात्म का सर्वोकृष्ट ग्रन्थ है जिसकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती। तत्व-बोध पर इससे ऊँचा कोई वक्तव्य नहीं है।

तत्व ज्ञान के बाद अष्टावक्र राजा जनक को विदा कर रहे हैं। दीक्षान्त भाषण समाप्त हो गया। अब इस उन्नीसवें तथा बीसवें प्रकरण में राजा जनक अष्टावक्र के प्रति धन्यवाद समर्पित कर रहे हैं। यह धन्यवाद भी मात्र औपचारिकता नहीं है बल्कि अपनी आत्म-स्थिति का वर्णन कर रहे हैं जो गुरु की कृपा से प्राप्त हुई।

आत्म-ज्ञान पूर्ण शल्य-क्रिया है जिसमें सभी विजातीय तत्व छूट जाते हैं एवं शुद्ध आत्म-ज्ञान ही बच रहता है जो स्वयं का है। जिस प्रकार भट्टी में गला कर एवं विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा सभी प्रकार की मिलावट को निकाल कर शुद्ध स्वर्ण प्राप्त किया जाता है ऐसी ही आत्म-ज्ञान की प्रक्रिया है जहाँ अज्ञानजनित सभी संस्कारों का परिशोधन हो जाता है एवं आत्मा-रूपी स्वर्ण प्राप्त हो जाता है। इसमें मन, बुद्धि, स्मृति, शरीर, अहंकार, संकल्प-विकल्प, विचार, शास्त्र, धर्म, कामनाएँ, वासनाएँ आदि छूट जाती हैं क्योंकि आत्मा के लिए ये समस्त विकृतियाँ ही हैं, ये सब विजातीय तत्व ही हैं जिनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। मृत्यु के समय केवल शरीर छूटता है, अन्य सभी साथ जाते हैं। ये ही तत्व बार-बार जन्म लेने का कारण बनते हैं। किन्तु आत्म-ज्ञान में ये सभी छूट जाते हैं इसलिए आत्म-ज्ञान को महामृत्यु कहा है। इसके बाद जो शेष रहता है वही स्वयं का है, उसी का नाम आत्मा है। मनुष्य की मुख्य बीमारी

है विचार। विचारों से ही उसके कृत्य होते हैं, विचार ही मृत्यु के बाद साथ जाते हैं, इन्हीं से पुनर्जन्म होता है, सुख-दुःख का कारण भी विचार ही हैं, सभी द्वन्द्व विचारों के कारण हैं। दूसरे शब्दों में विचार ही संसार है। निर्विचार साधना ही ध्यान है, इसकी उपलब्धि ही समाधि है, यही आत्म-ज्ञान है। जब तक विचार है आदमी स्वस्थ होगा। राजा जनक तत्व-आत्म-ज्ञान को उपलब्ध हुए, उनकी सारी बीमारी मिट गई। अब वे पूर्ण स्वस्थ हैं। वे अष्टावक्र के प्रति अपना आभार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि मैंने आपके तत्व-ज्ञानरूपी संसी को लेकर हृदय तथा उदर से अनेक प्रकार के विचाररूपी बाण को निकाल दिया है। अब मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। विचार ही आत्म-ज्ञान में बाधक हैं, ये ऐसी तरंगें हैं जिनसे चित्त में आत्मा का बिम्ब नहीं दिखाई देता। विचारशून्यता ही उपलब्धि की कुंजी है। विचार भटकाने वाले हैं। आत्मा विस्मृत मात्र है उसे निर्विचार-स्थिति से ही पुनः स्मरण में लाया जा सकता है।

## सूत्र २

**क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकता।**
**क्व द्वैतः क्व च वाऽद्वैतं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे।।**

*अनुवाद :— "अपनी महिमा में स्थित मुझको कहाँ धर्म है? कहाँ काम है? कहाँ अर्थ है? कहाँ विवेकता है? कहाँ द्वैत है? और कहाँ अद्वैत है?"*

*व्याख्या :—* आत्मा हमारा स्वभाव है वही सत्य है, आनन्द है। उसे प्राप्त कर लेना ही सबसे बड़ी महिमा है। आत्म-ज्ञानी ही महामहिम है। अन्य सब महिमाएँ झूठी हैं। दूसरों द्वारा दी गई महिमा झूठी है, धोखा है। दूसरा जो देता है वह उसे छीन भी सकता है। दूसरों ने महिमा दी तो तुम फुग्गे की भाँति फूल गये, अपने को महामहिम समझने लगे किन्तु उसकी चाबी दूसरे के पास है। वह जब चाहे तब तुम्हारी हवा निकाल दे, तुम्हारी महिमा छीन ले तो तुम पिचक जाओगे, अपने पूर्व स्वरूप से भी बदतर स्वरूप हो जायेगा।

जो जमीन-जायदाद, धन, सम्पत्ति, मित्र-हितैषी, बन्धु-बान्धव, पद-प्रतिष्ठा आदि में अपनी महिमा समझता है वह दूसरों द्वारा दी गई है। उसे वे जब चाहें छीन भी सकते हैं। आज लोगों ने तुम्हें वोट देकर राजा बना दिया, प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति बना दिया तो उन्होंने तुम्हें प्रतिष्ठा नहीं दी। उन्होंने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए तुम्हें माध्यम बनाया। यदि उनकी स्वार्थ-सिद्धि में कसर पड़ी तो वे ही तुम्हें पुनः नीचे ला पटकेंगे, धूल भी चटा देंगे क्योंकि चाबी उनके पास है। तुम मालिक नहीं उनके गुलाम बन गये। वे बन्दर की भाँति तुम्हें नचा रहे हैं, तुम नाच रहे हो। इसी को तुम महिमा कहते हो। किन्तु जनक कहते हैं कि मैं अपनी महिमा में स्थित हो गया हूँ। आत्मा ही मेरी महिमा है। इसमें स्थित हो जाने से मैं महामहिम हूँ। मेरी इस महिमा को कोई छीन नहीं सकता। यह मेरी निजी है जो स्वयं मैंने प्राप्त की है। यही सत्य और शाश्वत है जो सदा मेरी है। अन्य कोई भी मेरा नहीं है। क्योंकि वह अलग हो सकता है। आत्मा कभी अलग नहीं हो सकती। इससे बढ़ कर अन्य कोई महिमा नहीं है। जिसमें स्वयं की महिमा नहीं हैं वे ही दूसरों द्वारा महिमा चाहते हैं किन्तु जिसने निज की महिमा प्राप्त कर ली वही श्रेष्ठ है। इस निज की महिमा को प्राप्त करने के लिए विभिन्न साधनों का प्रयोग किया जाता है। धर्म, अर्थ, काम, विवेकता आदि भी साधन हैं। इसी प्रकार ध्यान, धारणा, समाधि, जप, पूजा, श्रवण, निदिध्यासन, शास्त्र, गुरु, सत्संग आदि सभी साधन मात्र हैं किन्तु उपलब्धि के बाद इनका कोई उपयोग नहीं है। आत्म-ज्ञान के बाद भी इन्हें ढोते रहना मूढ़ता ही है। बाद में ये साधन भी बन्धन बन जाते हैं। शास्त्रों में कहा है ''उत्तीर्णे तु गते पारे नौकायाः किं प्रयोजनम्।'' जब मनुष्य नदी के पार उतर जाता है तब नौका का क्या प्रयोजन रह जाता है। वह व्यर्थ हो गई। उसे छोड़ देना ही बुद्धिमत्ता है। इसी प्रकार आत्म-ज्ञान के अभाव से ही द्वैत की प्रतीति होती है किन्तु आत्म-ज्ञानी जान लेता है कि द्वैत भ्रममात्र है, अज्ञान है। वास्तव में यह सभी उस एक आत्मा का ही विस्तार है। यही अद्वैत है जिसे आत्म-ज्ञानी जान लेता है इसलिए उसका द्वैत भाव समाप्त हो जाता है। अद्वैत भी द्वैत सापेक्ष है। जब द्वैत है ही

नहीं तो अद्वैत कहना भी व्यर्थ हो जाता है। इसलिए जनक कहते हैं कि मेरे में न द्वैत है न अद्वैत। मैं केवल आत्मस्वरूप हूँ। जनक की यह बड़ी अनूठी अभिव्यक्ति है। आत्म-ज्ञानी ही ऐसी अभिव्यक्ति दे सकता है। इस सूत्र में जनक कहते हैं कि मैं अपनी महिमा में स्थित हो गया इसलिए धर्म भी व्यर्थ हो गया। उपलब्ध होने पर धर्म की भी जरूरत नहीं है। धर्म भी उपलब्ध होने का साधनमात्र है। सभी धर्मों में उपलब्धि की विधियाँ दी गई हैं। आचरण, कर्मकाण्ड, योग, भक्ति, पूजा, पाठ, सभी विधियाँ मात्र हैं। इनकी उपयोगिता अज्ञानी के लिए है। ज्ञानी के लिए ये सभी व्यर्थ हो जाती हैं। धर्म का अर्थ किसी संगठन, सम्प्रदाय, मजहब आदि से नहीं है बल्कि जो विधि आत्म-ज्ञान की ओर ले जाती है वही धर्म है इसलिए यह भी साधन है। ये हिन्दू, मुस्लिम, जैन, सिख, ईसाई आदि धर्म नहीं हैं।

# सूत्र ३

**क्व भूतं क्व भविष्यद्वा वर्तमानमपि क्व वा।**
**क्व देशः क्व च वा नित्यं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ।।**

*अनुवाद :— "नित्य अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहाँ भूत है? कहाँ भविष्य है? अथवा कहाँ वर्तमान है? अथवा देश भी कहाँ है?"*

*व्याख्या :—* स्थान और समय का बन्धन अज्ञानी को ही होता है। आत्म-ज्ञानी इसकी परिधि से बाहर हो जाता है। आत्मा नित्य है, शाश्वत है, अजन्मा है, निराकार है, निर्लिप्त है अतः उसके लिए भूत, भविष्य तथा वर्तमान है ही नहीं। वह कालातीत है। उसके लिए स्थान का कोई बन्धन नहीं है। वह सर्वत्र व्याप्त है। वह पहले भी थी, आज भी है तथा आगे भी रहेगी। उसका विनाश होता ही नहीं। सृष्टि नष्ट हो जाय तो भी रहेगी, सृष्टि नहीं थी तब भी थी। इसलिए जिस ज्ञानी ने आत्मा को जान लिया, उसने ब्रह्म को जान लिया, वह ब्रह्मवत् हो गया। जनक यही कह रहे हैं कि मैं आत्मवत् हो गया इसलिए आत्मा की महिमा ही मेरी महिमा है।

# सूत्र ४

**क्व च वात्मा क्व च वाऽनात्मा क्व शुभं क्वाशुभं तथा।**
**क्व चिन्ता क्व च वाऽचिन्ता स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥**

*अनुवाद :— "अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहाँ आत्मा है? और कहाँ अनात्मा है? अथवा कहाँ शुभ है? कहाँ अशुभ है? कहाँ चिन्ता है? अथवा कहाँ अचिन्ता है?"*

***व्याख्या*** **:— आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म आदि नाम देने से ही अनेक भ्रांतियाँ पैदा हो गईं जैसे ये कोई पदार्थ हैं, कोई तत्व है जिसे देखा जा सकता है, जाना जा सकता है, पाया जा सकता है। किन्तु जो ध्यान की गहराई में गये हैं उन्होंने ऐसा कुछ जाना नहीं, न देखा, न पाया किन्तु अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने नाम दे दिये जिससे भ्रान्तियाँ पैदा हुईं। सत्य लुप्त हो गया। लाओत्से ने इसलिए कहा कि "सत्य को कहा नहीं जा सकता तथा जो कहा जा सकता है वह सत्य नहीं है" सत्य को अभिव्यक्ति नहीं दी जा सकती। शब्दों में उतारते ही वह असत्य हो जाता है। इसीलिए ज्ञानी मौन हो जाते हैं, ध्यान अथवा समाधि में आत्मा के दर्शन नहीं होते, न उसका साक्षात्कार ही होता है। उस स्थिति में जो कुछ अनुभव होता है उससे आत्मा का अनुमान लगाया जाता है, इन्फर किया जाता है कि यह आत्मा ही है। जैसे धुएँ को देख कर आग का अनुमान लगाया जाता है किन्तु आत्मा कैसी है यह कहना कठिन है इसलिए ज्ञानियों की अभिव्यक्तियों में भी भिन्नता पाई जाती है। जो भी आत्मा के बारे में कहा गया है वह पूर्ण सत्य नहीं है। लाओत्से ने इसे सत्य कहा, महावीर ने इसे आत्मा कहा, उपनिषदों ने तत् (वह) कहा, बुद्ध ने अनात्मा, शून्य कहा, ज्ञानियों ने इसे ज्ञान कहा, भक्तों ने इसे ईश्वर कहा, परमात्मा कहा, अद्वैतवादियों ने ब्रह्म कहा। जनक की अभिव्यक्ति अधिक स्पष्ट है कि उस स्थिति में पहुँच कर आत्मा, अनात्मा का भेद ही समाप्त हो जाता है। वहाँ पहुँच कर केवल आनन्द का बोध होता है। व्यक्ति शांत हो जाता है एवं ऐसी प्रतीति होती है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वहाँ पहुँच कर**

शुभ-अशुभ, चिन्ता-अचिन्ता का ख्याल ही नहीं रहता है केवल चैतन्य शेष रहता है। यही चरम-स्थिति है जहाँ पहुँच कर ज्ञानी पूर्णता का अनुभव करता है। यही उसकी महिमा है। अन्य कोई महिमा नहीं। ऐसा ज्ञानी ही महिमामय है।

## सूत्र ५

**क्व स्वप्नः क्व सुषुप्तिर्वा क्व च जागरणं तथा।**
**क्व तुरीयं भयं वापि स्वमहिम्नि स्थितस्य मे।।**

*अनुवाद :— "अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहाँ स्वप्न? कहाँ सुषुप्ति? और कहाँ जाग्रत है? कहाँ तुरीय अवस्था का भय है?"*

**व्याख्या :— ऐसा ज्ञानी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय चारों अवस्थाओं से पार हो जाता है। ये चारों अवस्थाएँ शरीर, मन एवं बुद्धि की ही हैं। तुरीय अवस्था भी अन्तःकरण की है। चेतना इनसे पार की अवस्था है जहाँ इनका कुछ भी अनुभव नहीं होता।**

## सूत्र ६

**क्व दूरं क्व समीपं वा बाह्यं क्वाभ्यान्तरं क्व वा।**
**क्व स्थूलं क्व च वा सूक्ष्मंसवमहिम्नि स्थितस्य मे।।**

*अनुवाद :— "अपनी महिमा में स्थित मुझको कहाँ दूर है? कहाँ समीप? कहाँ बाह्य है? कहाँ अभ्यंतर है? स्थूल कहाँ और सूक्ष्म कहाँ है?"*

**व्याख्या :— आत्मा की महिमा में स्थित हुए ज्ञानी के लिए दूर तथा समीप, बाह्य तथा अभ्यन्तर, स्थूल तथा सूक्ष्म का भेद ही समाप्त हो जाता है। क्योंकि आत्मा दूर भी है एवं समीप भी, वह बाहर भी है एवं भीतर भी, वह स्थूल भी है एवं सूक्ष्म भी। ऐसी ही सृष्टि है। जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। सूक्ष्म ही स्थूल का**

**कारण है, स्थूल भी सूक्ष्म में परिवर्तित हो जाता है। ऊर्जा और पदार्थ भिन्न नहीं हैं। एक दूसरे में रूपान्तरण हो जाता है। वैज्ञानिक जिसे 'क्वान्टा' कहते हैं वैसा ही आत्मा का स्वरूप है, न स्थूल न सूक्ष्म, न पदार्थ है न तरंग और है तो दोनों।**

## सूत्र ७

**क्व मृत्युर्जीवितं वा क्व लोकाः क्वास्य क्व लौकिकम्।**
**क्व लयः क्व समाधिर्वा स्वमहिम्नि स्थितस्य मे।।**

*अनुवाद :— "अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहाँ मृत्यु है? अथवा कहाँ जीवन? कहाँ लोक है व कहाँ इसका लौकिक व्यवहार? कहाँ लय है? और कहाँ समाधि?"*

***व्याख्या :—*** **आत्मा का न जन्म होता है न मृत्यु। वह तो सदा है। जिसका जन्म है उसी की मृत्यु है। यदि जन्म न हो तो मृत्यु भी नहीं है। आत्म-ज्ञानी आत्मवत् हो जाने से कहता है कि न मेरी मृत्यु है न जीवन। मृत्यु और जीवन शरीर का ही होता है। आत्मा अमर है। आत्मा के लिए लोक तथा लौकिक व्यवहार भी नहीं है। इनका भी सम्बन्ध शरीर से है। लय और समाधि भी मन की है। आत्मा एक ही है। उसका न किसी में लय होता है न उसकी समाधि लगती है। ये सब अज्ञानजनित धारणाएँ ही छूट जाती हैं।**

## सूत्र ८

**अलं त्रिवर्गकथया योगस्य कथयाऽप्यलम्।**
**अलं विज्ञानकथया विश्रान्तस्य ममात्मनि।।**

*अनुवाद :— "अपनी आत्मा में विश्राम हुए मुझको त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की कथा पर्याप्त है, योग की कथा भी पर्याप्त है, विज्ञान की कथा भी पर्याप्त है।"*

शुभ-अशुभ, चिन्ता-अचिन्ता का ख्याल ही नहीं रहता है केवल चैतन्य शेष रहता है। यही चरम-स्थिति है जहाँ पहुँच कर ज्ञानी पूर्णता का अनुभव करता है। यही उसकी महिमा है। अन्य कोई महिमा नहीं। ऐसा ज्ञानी ही महिमामय है।

## सूत्र ५

**क्व स्वप्नः क्व सुषुप्तिर्वा क्व च जागरणं तथा।**
**क्व तुरीयं भयं वापि स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥**

*अनुवाद :— "अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहाँ स्वप्न? कहाँ सुषुप्ति? और कहाँ जाग्रत है? कहाँ तुरीय अवस्था का भय है?"*

*व्याख्या :—* ऐसा ज्ञानी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय चारों अवस्थाओं से पार हो जाता है। ये चारों अवस्थाएँ शरीर, मन एवं बुद्धि की ही हैं। तुरीय अवस्था भी अन्तःकरण की है। चेतना इनसे पार की अवस्था है जहाँ इनका कुछ भी अनुभव नहीं होता।

## सूत्र ६

**क्व दूरं क्व समीपं वा बाह्यं क्वाभ्यान्तरं क्व वा।**
**क्व स्थूलं क्व च वा सूक्ष्मंसवमहिम्नि स्थितस्य मे॥**

*अनुवाद :— "अपनी महिमा में स्थित मुझको कहाँ दूर है? कहाँ समीप? कहाँ बाह्य है? कहाँ अभ्यंतर है? स्थूल कहाँ और सूक्ष्म कहाँ है?"*

*व्याख्या :—* आत्मा की महिमा में स्थित हुए ज्ञानी के लिए दूर तथा समीप, बाह्य तथा अभ्यन्तर, स्थूल तथा सूक्ष्म का भेद ही समाप्त हो जाता है। क्योंकि आत्मा दूर भी है एवं समीप भी, वह बाहर भी है एवं भीतर भी, वह स्थूल भी है एवं सूक्ष्म भी। ऐसी ही सृष्टि है। जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। सूक्ष्म ही स्थूल का

कारण है, स्थूल भी सूक्ष्म में परिवर्तित हो जाता है। ऊर्जा और पदार्थ भिन्न नहीं हैं। एक दूसरे में रूपान्तरण हो जाता है। वैज्ञानिक जिसे 'क्वान्टा' कहते हैं वैसा ही आत्मा का स्वरूप है, न स्थूल न सूक्ष्म, न पदार्थ है न तरंग और है तो दोनों।

## सूत्र ७

**क्व मृत्युर्जीवितं वा क्व लोकाः क्वास्य क्व लौकिकम्।**
**क्व लयः क्व समाधिर्वा स्वमहिम्नि स्थितस्य मे।।**

*अनुवाद :— "अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहाँ मृत्यु है? अथवा कहाँ जीवन? कहाँ लोक है व कहाँ इसका लौकिक व्यवहार? कहाँ लय है? और कहाँ समाधि?"*

**_व्याख्या :_— आत्मा का न जन्म होता है न मृत्यु। वह तो सदा है। जिसका जन्म है उसी की मृत्यु है। यदि जन्म न हो तो मृत्यु भी नहीं है। आत्म-ज्ञानी आत्मवत् हो जाने से कहता है कि न मेरी मृत्यु है न जीवन। मृत्यु और जीवन शरीर का ही होता है। आत्मा अमर है। आत्मा के लिए लोक तथा लौकिक व्यवहार भी नहीं है। इनका भी सम्बन्ध शरीर से है। लय और समाधि भी मन की है। आत्मा एक ही है। उसका न किसी में लय होता है न उसकी समाधि लगती है। ये सब अज्ञानजनित धारणाएँ ही छूट जाती हैं।**

## सूत्र ८

**अलं त्रिवर्गकथया योगस्य कथयाऽप्यलम्।**
**अलं विज्ञानकथया विश्रान्तस्य ममात्मनि।।**

*अनुवाद :— "अपनी आत्मा में विश्राम हुए मुझको त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की कथा पर्याप्त है, योग की कथा भी पर्याप्त है, विज्ञान की कथा भी पर्याप्त है।"*

*व्याख्या* :— जो ज्ञानी पूर्णता को प्राप्त हो गया उसके लिए धर्म, अर्थ, काम आदि की कोई अपेक्षा नहीं रहती क्योंकि सिद्धि प्राप्त होने पर साधन व्यर्थ हो जाते हैं। इसी प्रकार योग और विज्ञान की भी आवश्यकता नहीं है। जब कुछ पाना ही शेष नहीं रहा तो इनका प्रयोजन ही समाप्त हो गया। सब छूट कर एक आत्मा में स्थित होकर योगी सब कुछ पा लेता है। यही परम धर्म है।

*। इति अष्टावक्रगीतायां एकोनविंशतिकं प्रकरणं समाप्तम् ।*

— ० —

# बीसवां प्रकरण

## (आत्म स्थिति में सभी द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं)

---

### सूत्र १

जनक-उवाच

**क्व भूतानि क्व देहो वा क्वेन्द्रियाणि क्व वा मनः ।**
**क्व शून्यं क्व च नैराश्यं मत्स्वरूपे निरञ्जने ।।**

*अनुवाद :— "मेरे निरंजनस्वरूप में कहाँ पंचभूत हैं? कहाँ देह है? कहाँ इन्द्रियां हैं? अथवा कहाँ मन है? कहाँ शून्य है? और कहाँ नैराश्य है?"*

***व्याख्या :—*** **राजा जनक अपनी जीवन्मुक्ति की दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि मैं आत्मा में अवस्थित हो गया इसलिए इन सब भूत विकारों से मुक्त हो गया। मेरा यह आत्मस्वरूप निरंजन है, निर्दोष है, अद्वय है, शुद्ध है। इसमें विजातीय तत्व कोई भी नहीं है। सब संयुक्त है। भिन्नता कहीं भी दिखाई नहीं देती। अज्ञान की स्थिति में मेरी चित्तरूपी कैमरे की प्लेट पर इन सभी आकारों, संस्कारों आदि के चित्र बनते थे किन्तु यह आत्मा दर्पण की भाँति है। इस पर चित्र बनते ही नहीं। यह साक्षी मात्र है, दृष्टा मात्र है, इसमें विकार पैदा नहीं होते, धारणा नहीं बनती, विचार उत्पन्न नहीं होते। यह हमेशा निर्लिप्त बना रहता है। मैं चित्त नहीं आत्मा हूँ इसलिए मेरे स्वरूप में ये पंचभूत, देह, इन्द्रियाँ, मन आदि नहीं हैं। इसमें शून्य भी नहीं है न नैराश्य है क्योंकि यही पूर्ण है। यही आत्मा की महिमा है।**

# सूत्र २

**क्व शास्त्रं क्वात्मविज्ञानं क्व वा निर्विषयं मनः ।**
**क्व तृप्तिः क्व वितृष्णत्वं गतद्वन्द्वस्य मे सदा ।।**

*अनुवाद :— "सदा द्वन्द्वरहित मुझको कहाँ शास्त्र? कहाँ आत्म-विज्ञान है? कहाँ विषयरहित मन है? कहाँ तृप्ति है? कहाँ तृष्णा का अभाव है?*

***व्याख्या*** **:— जहां द्वन्द्व है वहाँ मन है। चैतन्य आत्मा में द्वन्द्व है ही नहीं। वहाँ स्त्री-पुरुष का भेद भी नहीं है, जड़-चेतन, प्रकृति-पुरुष, सगुण-निर्गुण, ज्ञान-विज्ञान, तृष्णा-तृप्ति आदि के सब भेद समाप्त होकर एक ही तत्व शेष रहता है। दो होने पर ही भेद प्रतीत होता है। इसलिए जनक कहते हैं कि आत्म-ज्ञान-प्राप्ति पर मैं द्वन्द्व रहित हो गया। अब न मुझे शास्त्र की आवश्यकता है कि मैं उन्हें पढ़ कर आत्मा कैसी है इसे जानूँ, आत्म-विज्ञान की भी मुझे आवश्यकता नहीं है क्योंकि अध्ययन से जो जाना जाता है वह बौद्धिक होता है। मैं तो स्वयं आत्मा हूँ अतः अब मुझे शास्त्र एवं विज्ञान पढ़ कर क्या करना है। मैं विषयरहित मन की भी बात नहीं सोचता जैसा कि अष्टावक्र ने प्रथम सूत्र में ही कहा कि विषयों को विष के समान छोड़ दें। विषय छोड़ने पर मन जब विषयरहित मन की कल्पना कहाँ रही। इस स्थिति में तृप्ति भी नहीं है क्योंकि तृप्ति का अनुभव भी अतृप्त को ही होता है। तृष्णा का अभाव हो गया ऐसा भी विचार अब नहीं उठता। ऐसी स्थिति में मैं अवस्थित हूँ।**

# सूत्र ३

**क्व विद्या क्व च वाऽविद्या क्वेदं मम क्व वा।**
**क्व बन्धः क्व च वा मोक्षः स्वरूपस्य क्व रूपिता ।।**

*अनुवाद :— "स्व स्वरूप की कहाँ रूपिता है? कहाँ विद्या है और कहाँ अविद्या है? कहाँ 'मैं' है अथवा कहाँ 'यह' है? कहाँ*

*'मेरा' है? कहाँ बन्ध है? अथवा कहाँ मोक्ष है?''*

*व्याख्या :—* आत्म-ज्ञानी की स्थिति अनिर्वचनीय होती है उसे अभिव्यक्त करना कठिन है। जनक उस स्थिति का वर्णन करने का प्रयास कर रहे हैं कि आत्मा ही निज स्वरूप है। अन्य सभी स्वरूप ओढ़े हुए हैं जो भ्रम से सत्य प्रतीत होते हैं अतः ये माया मात्र हैं। इस माया का पर्दा हटने पर ही निज आत्म-स्वरूप का बोध होता है। किन्तु इसकी भी रूपिता नहीं है। आत्मा का कोई रूप नहीं है जिसे देखा जा सके, जिसका वर्णन किया जा सके। आत्मा में विद्या अर्थात् ज्ञान तथा अविद्या अर्थात् संसार भी नहीं हैं क्योंकि ये दोनों भ्रान्तियाँ हैं। दोनों ही माया हैं। आत्मा में 'मैं' अथवा 'यह' का भेद ही नहीं है। क्योंकि अहंकार से ही 'मैं' की प्रतीति होती है एवं 'मैं' होने पर ही 'यह' का आभास होता है। आत्मा एक ही है उसमें दूसरा कोई है ही नहीं इसलिए यह भेद भी नहीं रहता। जहाँ 'मैं' नहीं वहाँ 'मेरा' भी नहीं है। आत्मा का कोई 'बन्ध' नहीं है। इसलिए 'मोक्ष' भी नहीं है बन्ध मात्र अज्ञान के कारण है। जब तक अज्ञान है तभी तक बन्ध है। आत्मा स्वयं ज्ञान है। उसका कोई बन्ध नहीं है, न उसका मोक्ष ही है। वह तो नित्य है, बन्ध और मोक्ष दोनों का कारण अहंकार है। निरहंकारी दोनों से मुक्त है।

## सूत्र ४

**क्व प्रारब्धानि कर्माणि जीवन्मुक्तिरपि क्व वा।**
**क्व तद्विदेहकैवल्यं निर्विशेषस्य सर्वदा।।**

*अनुवाद :— ''मुझ सदैव निर्विशेष को प्रारब्ध कर्म कहाँ? अथवा कहाँ जीवन्मुक्ति है? और कहाँ यह विदेहकैवल्य ही है?''*

*व्याख्या :—* शास्त्र कहते हैं कि आत्म-ज्ञान होने पर संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं तथा क्रियमाण कर्म का फल नहीं भोगना पड़ता क्योंकि कर्त्तापन न रहने से भोक्तापन भी नहीं रहता किन्तु प्रारब्ध कर्म तो भोगने ही पड़ते हैं। उनके भोगे बिना विदेहमुक्ति नहीं होती किन्तु जनक इनसे भी आगे सभी शास्त्रों की मान्यताओं से परे की

बात कहते हैं कि मैं आत्मा ही हूँ जो सदैव निर्विशेष है क्योंकि वह अद्वैत है, सभी विशेषताओं से परे है। कोई सामान्य है तभी उसका विशेष होगा। आत्मा में दो हैं ही नहीं इसलिए सामान्य और विशेष का भेद भी उसमें नहीं है। यह भेद द्वैत के कारण ज्ञात होता है जो अज्ञान मात्र है। इसलिए आत्मा का प्रारब्ध कर्म भी नहीं है इसलिए जीवन्मुक्ति भी नहीं है। यदि प्रारब्ध कर्म हैं जिन्हें भोगना है तो इसका अर्थ है भोगने वाला अहंकार विद्यमान है वरना कौन भोगेगा। आत्म-ज्ञानी अहंकारहित शुद्ध चैतन्य मात्र है जो न कर्त्ता है न भोक्ता फिर प्रारब्ध कर्म का अस्तिव ही कहाँ रहा। इसे भोगने वाला अहंकार रहा नहीं व आत्मा भोगती नहीं। इसलिए ये भी व्यर्थ हो गये, ये भी नष्ट हो गये। फिर जीवन्मुक्त भी नहीं है और जब जीवन्मुक्त नहीं है तो विदेहकैवल्य भी नहीं है। विदेहमुक्ति भी तभी है जब जीवन्मुक्ति नहीं है तो विदेहकैवल्य भी नहीं है। विदेहमुक्ति भी तभी है जब जीवन्मुक्ति हो। आत्म-ज्ञानी जब अहंकार को बचा लेता है तभी जीवन्मुक्ति और विदेहकैवल्य की बात उठती है। जनक ने इसे भी छोड़ दिया अतः वे इनसे भी पार होकर केवल आत्मा में स्थिर हो गये। यही परमावस्था है जिसको कोई भी शास्त्र इतनी निर्भीकता से नहीं कह पाया जैसा जनक ने कहा। अभिव्यक्ति की ऐसी अपूर्व क्षमता अन्य किसी ज्ञानी में नहीं है, न किसी शास्त्र में। इसीलिए अष्टावक्र गीता अध्यात्म का शिरोमणि ग्रन्थ है जिसकी कोई तुलना नहीं है।

## सूत्र ५

**क्व कर्त्ता क्व च भोक्ता निष्क्रियं स्फुरण क्व वा।**
**क्वापरोक्षं फलं वा क्व निःस्वभाव स्व मे सदा।।**

*अनुवाद :— "सदा स्वभावरहित मुझको कहाँ कर्त्तापन है और कहाँ भोक्तापन? अथवा कहाँ निष्क्रियता है और कहाँ स्फुरण है? कहाँ अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान है अथवा कहाँ फल है?"*

*व्याख्या :—* अज्ञानी मन और अहंकार में जीता है। चित्त की वृत्तियों के स्फुरण से ही स्वभाव बनता है तथा अहंकार के कारण ही वह अपने को कर्त्ता मानता है। अपने को कर्त्ता मानने के कारण ही वह कर्म-फल का भोक्ता होता है। मनुष्य में सक्रियता भी तभी आती है जब वह फल की आकांक्षा से कार्य करता है। यदि फल की आकांक्षा न हो तथा आत्मज्ञानी भी नहीं है तो वह निष्क्रिय तथा आलसी हो जायगा किन्तु ज्ञानी इन सबसे भिन्न स्वभाव वाला होता है। वह मन तथा अहंकार के स्वभाव से रहित होकर केवल साक्षी भाव से जीता है। इसलिए उसमें कर्त्तापन भी नहीं है कि यह मैं कर रहा हूँ। कर्त्तापन न होने से भोक्तापन भी नहीं है। वह कर्म का त्याग करके आलसी भी नहीं होता, निष्क्रिय भी नहीं होता किन्तु चित्त की स्फुरण भी उसमें नहीं होती, क्योंकि वासना नहीं है। वह कर्म के विषय में प्रत्यक्ष ज्ञान भी नहीं रखता कि यह कर्म करना है इससे इतना लाभ, इतनी हानि होगी आदि। 'मैं' भाव रहने से ही प्रत्यक्ष कर्म होते हैं व उन्हीं का फल होता है। ज्ञानी दोनों से मुक्त होता है।

## सूत्र ६

**क्व लोकः क्व मुमुक्षुर्वा क्व योगी ज्ञानवान् क्व वा।**
**क्व बद्धः क्व च वा मुक्तः स्वस्वरूपेऽहमद्वये ।।**

*अनुवाद :— "मुझ अद्वय स्वरूप को कहाँ लोक है? अथवा कहाँ मुमुक्षु है? कहाँ योगी है? कहाँ ज्ञानवान है? अथवा कहाँ बद्ध है? और कहाँ मुक्त है?"*

*व्याख्या :—* जनक कहते हैं कि मैं आत्मा हूँ जो अद्वयस्वरूप है। सृष्टि में दो हैं ही नहीं। आत्मा-परमात्मा, जीव-ब्रह्म, प्रकृति-पुरुष आदि का विभाजन सृष्टि में कहीं नहीं है। सभी उस एक ही आत्मा का विस्तार है। दो मानना ही अज्ञान है, भ्रान्ति है। मैं आत्मा होने से अद्वय हूँ। मुझे अज्ञान के कारण जिन भिन्नताओं की प्रतीति हो रही थी वह नष्ट हो गईं हैं। अब मेरे लिए न कोई लोक है, जहाँ मैं

रहूँ क्योंकि मैं ही सर्वत्र हूँ। मेरा कोई निश्चित स्थान नहीं हो सकता, न मेरी मुमुक्षा है कि मैं मोक्ष प्राप्त करूं क्योंकि मैं जहाँ हूँ वहीं मोक्ष है। मोक्ष मुझसे भिन्न नहीं है। योगी मार्ग पर है वह चल रहा है, उसे अभी पाना है। वह साधक है तथा ज्ञानवान वह जिसे ज्ञान हो गया है किन्तु मैं आत्मवत् होने से स्वयं ज्ञान हूँ। ज्ञानवान नहीं हूँ क्योंकि ज्ञानवान एवं ज्ञान भिन्न नहीं है। मैं न बद्ध हूँ न मैं मुक्त हूँ। क्योंकि न आत्मा को कोई बाँधने वाला है न वह मुक्त होती है। वह तो सदा एक ही भाव में रहती है। ऐसा ही मैं हूँ।

# सूत्र ७

**क्व सृष्टिः क्व च संहारः क्व साध्यं क्व च साधनम्।**
**क्व साधकः क्व सिद्धिर्वा स्वस्वरूपेऽहमद्वये।।**

*अनुवाद :— "मुझ अद्वय स्वरूप को कहाँ सृष्टि और कहाँ संहार? कहाँ साध्य है? और कहाँ साधन है? कहाँ साधक है? अथवा कहाँ सिद्धि है?"*

*व्याख्या :—* विभिन्न धर्म सृष्टि एवं उसके प्रलय सम्बन्धी विभिन्न धारणाएं व्यक्त करते हैं। कुछ कहते हैं कि यह सृष्टि अनादि है। इसे किसी ने बनाया नहीं, यह कभी नष्ट नहीं होगी तो कुछ कहते हैं परमात्मा ने छः दिन में सृष्टि बनाई, वही इसका संचालन कर रहा है तथा वही इसका संहार भी करेगा। कुछ कहते हैं सृष्टि परमात्मा की अभिव्यक्ति है। एक ही ब्रह्म विभिन्न रूपों में अभिवयक्त हुआ है। फैलना, विस्तार को प्राप्त होना ही इसका गुण है। सृष्टि का निर्माण संकल्प से हुआ। एक सीमा तक इसका विस्तार होगा। इसके बाद वह पुनः सिकुड़ेगी एवं निज स्वरूप ब्रह्म में पुनः विलीन हो जायेगी। यही प्रलय की स्थिति होगी। विज्ञान भी मानता है कि पदार्थ और ऊर्जा भिन्न नहीं है। पदार्थ ऊर्जा का दृश्य रूप है, एवं ऊर्जा पदार्थ का अदृश्य रूप। दोनों एक दूसरे में परिवर्तनशील हैं। पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता। उसका ऊर्जा में रूपान्तर हो सकता है एवं ऊर्जा पुनः पदार्थ का रूप ले सकती है।

भारतीय अध्यात्म की धारणा भी पूर्णरूपेण वैज्ञानिक है। वह नहीं कहता कि परमात्मा ने कुंभकार के जैसे सृष्टि से अलग कहीं आकाश में बैठकर छः दिन में उसे बनाई, तथा यह उसके आदेशानुसार चल रही है, वह चाहे तब इसका संहार कर सकता है। ऐसा धारणा ही अवैज्ञानिक है, बचकानी है, मूढ़तापूर्ण है। ऐसी धारणा क्षुद्र बुद्धि का अनुमान मात्र है कि सृष्टि है तो उसे कोई बनाने वाला भी होना चाहिए। बिना बनाये एक घड़ा भी नहीं बन सकता तो बिना बनाये सृष्टि कैसे बन सकती है? किन्तु यह अज्ञानी की कल्पना मात्र है। अद्वैतवादी कहते हैं कि परमात्मा कोई व्यक्ति नहीं है जो एक स्थान पर बैठा है, वहीं से सृष्टि का निर्माण एवं संचालन कर रहा है तथा वही संहार कर रहा है। वह कहता है कि परमात्मा एक विराट् चेतन ऊर्जा है, वह असीम है, उसे परिभाषा में भी नहीं बाँधा जा सकता। वही ऊर्जा विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति हुई है। समस्त रूप उसी के हैं, वही अस्तित्व है। वह मूर्ति में भी है, समस्त प्राणी एवं वनस्पति में है तो पत्थर में भी वही ऊर्जा है। ऊर्जा ही घनीभूत होकर पत्थर दिखाई देती है। इसलिए परमात्मा और उसकी कृति भिन्न नहीं है, दो नहीं है, सृष्टा और सृष्टि दो नहीं एक ही है। अद्वैत की ऐसी अनूठी धारणा अन्य किसी धर्म में नहीं है। यही धारणा पूर्ण वैज्ञानिक हैं, सूफी, तन्त्र, थियोसाफी, बुद्ध, लाओत्से आदि इसी दृष्टि का समर्थन करते हैं। फिर यदि परमात्मा है तो उसे पाया भी जा सकता है। यह विवाद, तर्क एवं शास्त्र से प्राप्त नहीं होगा, विज्ञान की प्रयोगशाला में नहीं देखा जा सकता। उसको पाने का मार्ग है ध्यान तथा प्रेम। राजा जनक सद्गुरु के कारण केवल बोध मात्र से इस अद्वय स्वरूप को उपलब्ध हुए। वे कहते हैं कि जब सम्पूर्ण सृष्टि आत्मा का ही विस्तार है तो आत्मा ही मूल तत्व है, वही अस्तित्व है फिर उससे भिन्न न कोई सृष्टि है न उसका संहार है क्योंकि अस्तित्व कभी नष्ट नहीं होता, ऊर्जा नष्ट नहीं होती जिसने आत्मा को पा लिया उसके लिए साध्य, साधन, साधक एवं सिद्धि सब व्यर्थ है। ये सब अज्ञानी के लिए है।

# सूत्र ८

**क्व प्रमाता प्रमाणं वा क्व प्रमेयं क्व च प्रमा।**
**क्व किंञ्चित्क्वं न किञ्चिद्वा सर्वदा विमलस्य मे।।**

*अनुवाद :— "सर्वदा विमलरूप मुझको कहाँ प्रमाता? कहाँ प्रमाण? कहाँ प्रमेय है और कहाँ प्रमा है? कहाँ किञ्चित् है और कहाँ अकिञ्चिद् है?"*

**व्याख्या :— जनक अपनी आत्म-स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि मैंने आत्मा को न जाना है न पाया है क्योंकि मैं उससे भिन्न नहीं हूँ। मैं स्वयं आत्मा ही हूँ। अज्ञान के ही कारण मैं अपने को शरीर, मन इन्द्रियाँ आदि समझता था एवं आत्मा को अपने से भिन्न समझता था। यदि आत्मा मुझसे भिन्न होती तथा मैं आत्मा को पा लेता, या उसका मुझे बोध होता तो उसको सिद्ध करने के लिए मुझे प्रमाण देने पड़ते। यह ज्ञान या बोध क्या है? कैसा होता है? क्या अनुभूति होती है इसकी व्याख्या करने पड़ती। किन्तु मैं प्रमाता (बोधयुक्त) नहीं हूँ क्योंकि बोध मुझसे भिन्न नहीं है। मैं प्रमा (बोध) भी नहीं हूँ क्योंकि मैं तो आत्मा हूँ जो स्वयं बोध-स्वरूप है। इसलिए प्रमाण की भी आवश्यकता नहीं है। प्रत्यक्ष को क्या प्रमाण चाहिए। सत्य तो साक्षात् है, प्रत्यक्ष है फिर प्रमाणों की क्या आवश्कयता है। आत्मा प्रमेय (प्रमाण योग्य) भी नहीं है। मुझमें किंचन, अकिंचन का भाव भी नहीं है क्योंकि आत्मा होने से मैं सब कुछ हूँ तथा विमलस्वरूप हूँ।**

# सूत्र ९

**क्व विक्षेपः क्व चैकाग्रयं क्व निर्बोधः क्व मूढता।**
**क्व हर्षः क्व विषादो वा सर्वदा निष्क्रियस्य मे।।**

*अनुवाद :— "सर्वदा क्रियारहित मुझको कहाँ एकाग्रता? कहाँ ज्ञान है? कहाँ मूढ़ता है? कहाँ हर्ष है? कहाँ विषाद है?"*

*व्याख्या :—* समस्त विक्षेप चित्त के कारण हैं। चित्त की वृत्तियाँ पैदा करती हैं। इन विक्षेपों को दूर करने के लिए एकाग्रता की साधना करनी पड़ती है। किन्तु आत्म-ज्ञानी के सभी विक्षेप शान्त हो जाते हैं। वह केवल आत्मा में स्थित रहता है। वह क्रियारहित हो जाता है क्योंकि आत्मा क्रिया करती ही नहीं। वह तो ऊर्जा मात्र है जिससे अन्य अंग क्रिया करते हैं। इसलिए जनक कहते हैं कि मैं आत्मा होने से सर्वदा क्रियारहित हूँ, मेरे में विक्षेप नहीं है, इसलिए एकाग्रता की भी आवश्यकता नहीं है। आत्मा होने से मेरे में न अज्ञान है, न मूढ़ता, न हर्ष, न विषाद। आत्मा तो इन सबसे परे चैतन्य ऊर्जा मात्र है। मैं वही हूँ।

## सूत्र १०

**क्व चैव व्यवहारो वा क्व च सा परमार्थता।**
**क्व सुखं क्व च वा दुःखं निर्विमर्शस्य मे सदा ।।**

*अनुवाद :— "सदा निर्विकाररूप मुझको कहाँ यह व्यवहार है? और कहाँ वह परमार्थता है? कहाँ सुख है अथवा कहाँ दुःख है?"*

*व्याख्या :—* जनक कहते हैं कि मैं आत्मा हूँ अतः मैं सर्वदा निर्विकार हूँ इसलिए यह व्यवहार और परामर्थता मेरे में नहीं है। ये तो मन के ही धर्म हैं। सुख-दुःख भी मन के धर्म हैं। आत्मा सुख-दुःख से परे है। इसलिए आत्मा होने से मैं इनसे परे हूँ।

## सूत्र ११

**क्व माया क्व च संसारः क्व प्रीतिर्विरतिः क्व वा।**
**क्व जीवः क्व च तद्ब्रह्म सर्वदा विमलस्य मे ।।**

*अनुवाद :— "मुझ सर्वदा विमलस्वरूप को कहाँ माया है और कहाँ संसार है? कहाँ प्रीति है अथवा कहाँ विरति है? कहाँ जीव है और कहाँ वह ब्रह्म है?"*

*व्याख्या :—* आत्म-ज्ञान की अंतिम उपलब्धि में सभी भेद गिर जाते हैं। केवल एक चैतन्य शेष रह जाता है। यह माया है, यह ब्रह्म है, यह आत्मा है, यह संसार है, प्रीति और अप्रीति, जीव और ब्रह्म आदि के समस्त भेद अज्ञान के कारण हैं। जिसे सत्यस्वरूप आत्मा का ज्ञान नहीं वही इन सबमें भेद देखता है। आत्म-ज्ञान पर सब अभेद ज्ञान होता है कि वह सब ब्रह्म ही है, एक ही है, उसी का सारा विस्तार है। भिन्नता मात्र भ्रांन्ति है। इस भ्रान्ति का मिटना ही ज्ञान है। वही सत्य है।

## सूत्र १२

**क्व प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा क्व मुक्तिः क्व च बन्धनम्।**
**कूटस्थनिर्विभागस्य स्वस्थस्य मम सर्वदा।।**

*अनुवाद :— "सर्वदा कूटस्थ (स्थिर), अखंडरूप और स्वस्थ मुझको कहाँ निवृत्ति है? कहाँ मुक्ति है और कहाँ बन्ध है?"*

*व्याख्या :—* आत्मा सर्वदा कूटस्थ (स्थिर) है, वह अखंड है। उसका विभाजन नहीं किया जा सकता, वह अद्वय है। इसे उपलब्ध होना ही परम स्वास्थ्य है इसलिए ज्ञानी ही स्वस्थ है बाकी सब रुग्ण हैं। ऐसे व्यक्ति में न प्रवृत्ति होती है न निवृत्ति, न उसके लिए मुक्ति है क्योंकि आत्मा का कोई बन्ध है ही नहीं। वह निर्बन्ध है। बन्धन मात्र वासना एवं अहंकार के कारण है जो अज्ञानजनित है। अहंकार के कारण ही कर्त्तापन है। इसी से होता है बन्ध, इसी से होता है पाप-पुण्य। कर्त्ता होने से ही भोक्ता भी होता है। जिन धर्मों ने आत्मा को नहीं जाना वे ही इनमें भेद करते हैं। किन्तु अस्तित्व में सब संयुक्त हैं। अहंकारी व अज्ञानी ही भेद करते हैं क्योंकि इससे अहंकार को तृप्ति मिलती है। लोग धर्म के नाम पर अहंकार का ही पोषण कर रहे हैं। परम धर्म इससे ऊपर एक अस्तित्व की बात कहता है जो अखण्ड है, अद्वय है, निर्मल, निर्विकार शांत है। केवल चैतन्य है।

# सूत्र १३

**क्वोपदेशः क्व वा शास्त्रं क्व शिष्यः क्व च वा गुरुः।
क्व चास्ति पुरुषार्थो वा निरुपाधेः शिवस्य मे।।**

*अनुवाद :— "उपाधिरहित शिवरूप (कल्याणरूप) मुझको कहाँ उपदेश है? अथवा कहाँ शास्त्र है? कहाँ शिष्य है? कहाँ गुरु है? और कहाँ पुरुषार्थ है?"*

*व्याख्या :—* **आत्म-ज्ञान से रहित ही उपाधि वाला होता है। आत्मा की कोई उपाधि नहीं है। वह एक है या दो, जड़ है या चैतन्य, प्रकृति है या पुरुष, सृष्टि है या परमात्मा यह कहना ही कठिन है क्योंकि वही सब कुछ है और वह कुछ भी नहीं है। वह दिखाई नहीं देता फिर भी है, वह क्रियारहित है फिर भी सब उसी से हो रहा है, उसके बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। वह शिवरूप है, कल्याणकारी है। जनक कहते हैं कि मैंने इस आत्म-स्वरूप को पा लिया है इसलिए अब मेरे लिए कोई उपदेश आवश्यक नहीं रह गये। उपदेश तो अज्ञानी को ही दिये जाते हैं। शास्त्र भी अज्ञानी के लिए हैं, ज्ञानी तो स्वयं शास्त्र है। उसकी वाणी ही शास्त्र है जो जीवन्त है। पुस्तकों वाले शास्त्र मुर्दा हैं। ज्ञानी स्वयं गुरु है, उसने गुरुत्व पा लिया। वह शिष्य भी नहीं है, न उसे अब गुरु की आवश्यकता है। उसे अब किसी पुरुषार्थ की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि आत्म-ज्ञान ही परम पुरुषार्थ है जो उसे उपलब्ध हो गया। उपलब्धि पर ये सभी व्यर्थ हो जाते हैं जैसे नदी पार हो जाने पर नाव व्यर्थ हो जाती है। कबीर ने कहा है 'दूल्हा दुल्हन मिल गये, फीकी पड़ी बरात'। इस सारी बरात का महत्व मिलन तक ही होता है। मिलन होने पर इन्हें विदा कर देना चाहिए वरना ये भी बन्धन बन जाते हैं।**

—०—

# सूत्र १४

**क्व चास्ति क्व च वा नास्ति चैकं क्व च द्वयम् ।**
**बहुनाऽत्र किमुक्तेन किञ्चिन्नोत्तिष्ठते मम ।।**

*अनुवाद :— "कहाँ अस्ति है और कहाँ नास्ति? अथवा कहाँ एक है और कहाँ दो है? इसमें बहुत कहने से क्या प्रयोजन, मुझको तो कुछ भी नहीं उठ रहा है (सब शांत हो गया है) ।"*

***व्याख्या :—*** **अन्त में जनक कहते हैं कि अज्ञानी ही कहता है कि संसार है, माया है, ब्रह्म है, जीव है आदि। वह 'है' को ही जानता है। किन्तु जो कहता है यह सब 'नहीं' है, सृष्टि, जीव आदि सब माया है, ब्रह्म ही सत्य है वह भी अज्ञानी ही है। जिसने जाना नहीं वही 'अस्ति' 'नास्ति' के भ्रम में जीता है। जिसने जान लिया वह आत्मवत् ही हो जाता है। उसके लिए ये अज्ञानजनित भ्रम भी मिट जाता है कि क्या है? और क्या नहीं है? वह ऐसा भी नहीं कहता कि ईश्वर एक है, जीव उससे भिन्न है, या सभी आत्माएँ ईश्वर हैं, ईश्वर अनेक हैं क्योंकि आत्माएँ अनेक हैं, वह ईश्वर और शैतान दो शक्तियाँ भी नहीं मानता। ये सब विचार हैं जो मन के कारण उठते हैं। आत्म-ज्ञानी में विचारों की तरंगें उठती ही नहीं। सब शांत हो जाता है। कहने वाला बचता ही नहीं। कौन व्याख्या करे। ऐसा ज्ञानी उसी एक परम तत्व में विश्राम कर स्थित रहता है। यही ज्ञान की अंतिम अवस्था है। यही अंतिम सिद्धि है।**

*। इति अष्टावक्रगीतायां विंशतिकं प्रकरणं समाप्तम् ।*

— ० —
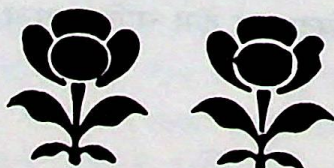
# योगवाशिष्ठ (महारामायण)

सम्पादक — **श्री नन्दलाल दशोरा**

भारतीय अध्यात्म ग्रन्थों में योगवाशिष्ठ का स्थान सर्वोपरि है। अद्वैत की धारणा को परिपुष्ट करने वाला, अध्यात्म के गूढ़ सिद्धान्तों का विवेचन करने वाला एवं भारतीय दर्शन की मान्यताओं का समस्त सार इसमें समाहित है। भारतीय चिंतन का यह प्रतिनिधि ग्रन्थ है जिसके मनन से समस्त भ्रांतिपूर्ण धारणाएं निर्मूल होकर सत्य-स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। महर्षि वशिष्ठ ने जो ज्ञान अपने पिता ब्रह्मा से प्राप्त किया था वह उन्होंने भगवान राम को दिया जिससे वह जीवन्मुक्त होकर रहे। इसी वशिष्ठ और राम संवाद के ज्ञान का संग्रह महर्षि बाल्मीकि ने जनकल्याण के लिए किया था।

यह ग्रन्थ केवल तात्विक विवेचन ही नहीं है अपितु मोक्ष साधना की विधि को इसमें इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक पाठक इसका प्रयोग घर बैठे कर सकता है। इसमें न हठयोग जैसी कठिन क्रियाएं करनी हैं, न मंत्रजाप, न पूजा और प्रार्थना करनी है। यदि कोई साधक इसमें दी गई विधियों को पूर्णतया प्रयोग करे तो उसे मोक्ष लाभ मिल सकता है।

इस ग्रन्थ को पढ़ने के पश्चात् किसी अन्य ग्रन्थ को पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि जो बातें इस ग्रन्थ में हैं वे अन्य ग्रन्थों में भी मिलेंगी, जो इसमें नहीं हैं वे कहीं नहीं मिलेंगी। महर्षि वशिष्ठ ने अनेक उपाख्यानों के माध्यम से जो ज्ञान, भगवान राम को दिया वही योग वाशिष्ठ के नाम से विख्यात यह अमर ग्रन्थ वेदान्त का सारभूत उपदेश माना गया है जिसे अब नवीनतम शैली में प्रस्तुत करने का **श्री नन्दलाल दशोरा** ने अनथक प्रयास किया है। मूल्य : ६०-००.

# तीन उपनिषद्
## (ईशावास्य, मुण्डक, श्वेताश्वतर)

लेखक — **नन्दलाल दशोरा**

मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह क्षणिक को ही महत्व देकर शाश्वत की उपेक्षा करता रहता है। किन्तु क्षणिक सुख के पीछे कितना दुःख छिपा है इसका उसे ज्ञान नहीं है। जिस कारण इसके अवश्यम्भावी परिणामों से वह मुक्त नहीं हो सकता।

भारतीय अध्यात्म की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें जीवन और अध्यात्म इन दोनों का ही इस प्रकार समन्वय किया गया है कि जिससे मनुष्य भौतिक जगत में रहकर भी उच्च जीवन हेतु अग्रसर हो सकता है। अध्यात्म की वेदी पर जीवन की बलि भी नहीं दी गई और जीवन के लिए अध्यात्म का तिरस्कार भी नहीं किया गया।

उच्च जीवन के लिए इन्हीं महान आदर्शों का समन्वय और सम्पूर्ण ज्ञान का निरुपण करने वाले ग्रन्थ ही उपनिषद् हैं। जो सभी ग्रन्थों को नहीं पढ़ सकते अथवा उनके क्लिष्ट सिद्धान्तों को नहीं समझ सकते उनके लिए उपनिषद् ही सर्वोपरि महत्व के हैं। जिनके अध्ययन से उन्हें भारतीय चिन्तन की पराकाष्ठा का ज्ञान हो सकेगा। इसी महत्वपूर्ण एवं शाश्वत ज्ञाननिधि का थोड़ा सा परिचय देने के लिए ही इन तीन उपनिषदों का चयन किया गया है। मूल्य : २०-००

## नन्दलाल दशोरा की अन्य पुस्तकें—

पातंजल योग सूत्र (योग दर्शन)
आत्मज्ञान की साधना
मृत्यु और परलोक यात्रा
योग साधना और उसके लाभ
ब्रह्मसूत्र (वेदान्त दर्शन)
योग साधना और उसके लाभ
कर्मफल और पुनर्जन्म
अष्टावक्र गीता (व्याख्या सहित)
अध्यात्म, विज्ञान और धर्म
योगवाशिष्ठ (महारामायण)

**रणधीर बुक सेल्स (प्रकाशन)**
रेलवे रोड, आरती होटल के पीछे, हरिद्वार